श्रीमद् राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीनेमिचन्द्राय नमः

श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचित

गोम्मटसार

(कर्मकाण्ड)

पाढमनिवासी स्व० पण्डितमनोहरलालकृत

संस्कृतछाया तथा संक्षिप्त हिन्दीभाषाटीका सहित

प्रकाशक

रावजीभाई छगनभाई देसाई

परमश्रुतप्रभावक मण्डल (श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

विक्रम सं० २०२७

मूल्य : सात रुपये

प्रकाशक :
रावजीभाई छगनभाई देसाई, ऑनरेरी व्यवस्थापक
परमश्रुतप्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)
श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास
पो० बोरिया, वाया—आणंद (गुजरात)

प्रथमावृत्ति १०००
वीरनिर्वाण सं० २४३८
द्वितीयावृत्ति २०००
वीरनिर्वाण सं० २४५४, विक्रम सं० १९८५, ई० सन् १९२८
तृतीयावृत्ति १०००
वीरनिर्वाण सं० २४९७, विक्रम सं० २०२७, ई० सन् १९७१

मुद्रक:
पं० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ
जैनेन्द्र प्रेस
ललितपुर (झाँसी) उ० प्र०

प्रकाशकीय निवेदन

श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्ति-रचित गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) की यह तीसरी आवृत्ति काफी वर्षोंके बाद इस संस्थाकी ओरसे प्रकाशित करके पाठकोंके सन्मुख रखते हुए हमें आनन्द होता है। पूरा ग्रंथ, श्रीमान् स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृत छाया, हिन्दी भाषाटीका एवं श्रीमान् पं० खूबचन्दजी द्वारा संशोधित द्वितीय संस्करणके अनुरूप ही, रखा गया है।

महान् आचार्यों द्वारा रचित सत्श्रुतका प्रचार करनेके लिए परमश्रुतप्रभावक मण्डल आदिकालसे ही प्रयत्नशील रहा है। सभी ग्रंथोंका प्रकाशन पर्याप्त सावधानीपूर्वक कराया जाता है, फिर भी कहीं किसी प्रकारकी त्रुटि दृष्टिगत हो तो विद्वान पाठकगण हमें उसकी सूचना देकर कृतार्थ करेंगे ऐसी आशा है। हमें खेद है कि प्रस्तुत संस्करणका मुद्रण कार्य हमारी इच्छाके अनुसार स्वच्छ नहीं हो पाया है, अतः पाठकोंसे इसीमें संतोष माननेकी प्रार्थना है।

गोम्मटसार (जीवकाण्ड) की चौथी आवृत्ति भी मुद्रणार्थ प्रेसमें दे दी गई है, जो यथा-सम्भव शीघ्र और सुन्दर रूपमें प्रकाशित होकर जिज्ञासुओंके सामने आयेगी। संस्थाकी ओर से प्रकाशित ग्रंथोंकी सूची साथमें अन्यत्र संलग्न है। विद्वज्जनोंसे निवेदन है कि उत्तम साहित्यका पठन-पाठन द्वारा अधिकाधिक लाभ उठाकर हमारा उत्साह बढ़ावें।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
अगास
दिनांक ८-७-१९७१

विनीत-
रावजीभाई देसाई

अलौकिक अध्यात्मज्ञानी परमतत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

'खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित्क्वचित्'

हा ! सम्यक्तत्त्वोपदेष्टा जुगनूंकी भांति कहीं-कहीं चमकते हैं, दृष्टिगोचर होते हैं ।

—आशाधर ।

महान तत्त्वज्ञानियोंकी परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत ववाणिया ग्राम (सौराष्ट्र) में श्रीमद्राजचन्द्रका जन्म विक्रम सं० १९२४ (सन् १८६७) को कार्तिकी पूर्णिमाके शुभदिन रविवारको रात्रिके २ वजे हुआ था । यह ववाणिया ग्राम सौराष्ट्रमें मोरवीके निकट है ।

इनके पिताका नाम श्रीरवजीभाई पंचाणभाई महेता और माताका नाम श्री देववाई था । आप लोग वहुत भक्तिशील और सेवा-भावी थे । साधु-सन्तोंके प्रति अनुराग; गरीवोंको अनाज कपड़ा देना; वृद्ध और रोगियोंकी सेवा करना इनका सहज-स्वभाव था ।

श्रीमद्जीका प्रेम-नाम 'लक्ष्मीनंदन' था । वादमें यह नाम वदलकर 'रायचन्द' रखा गया और भविष्यमें आप 'श्रीमद्राजचन्द्र' के नामसे प्रसिद्ध हुए ।

श्रीमद्राजचन्द्रका उज्ज्वल जीवन सचमुच किसी भी समझदार व्यक्तिके लिए यथार्थ मुक्ति-मार्गकी दिशामें प्रवल प्रेरणाका स्रोत हो सकता है । वे तीव्र क्षयोपशमवान और आत्मज्ञानी सन्त-पुरुष थे, ऐसा निस्संदेहरूपसे मानना ही पड़ता है । उनकी अत्यन्त उदासीन सहज वैराग्यमय परिणति तीव्र एवं निर्मल आत्मज्ञान-दशाकी सूचक है ।

श्रीमद्जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे, जव कि उनकी माताके जैन-संस्कार थे । श्रीमद्-जीको जैन लोगोंके 'प्रतिक्रमणसूत्र' आदि पुस्तकें पढ़नेको मिलीं । इन धर्म-पुस्तकोंमें अत्यन्त विनय-पूर्वक जगतके सर्व जीवोंसे मित्रताकी भावना व्यक्त की गई है । इस परसे श्रीमद्जीकी प्रीति जैनधर्मके प्रति वढ़ने लगी । यह वृत्तान्त उनकी तेरह वर्षकी वयका है । तत्पश्चात् वे अपने पिताकी दुकानपर वैठने लगे । अपने अक्षरोंकी छटाके कारण जव-जव उन्हें कच्छ दरवारके महलमें लिखनेके लिए वुलाया जाता था तव-तव वे वहां जाते थे । दुकान पर रहते हुए उन्होंने अनेक पुस्तकें पढ़ीं, राम आदिके चरित्रोंपर कविताएँ रची, सांसारिक तृष्णा की, फिर भी उन्होंने किसीको कम-अधिक भाव नहीं कहा अथवा किसीको कम-ज्यादा तौलकर नहीं दिया ।

जातिस्मरण और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

श्रीमद्जी जिस समय सात वर्षके थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग उनके जीवनमें वना । उन दिनों ववाणियामें अमीचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे जिनका श्रीमद्जीके प्रति वहुत ही प्रेम

था। एक दिन अमीचंदको सांपने काट लिया और तत्काल उनकी मृत्यु हो गई। उनके मरण समाचार सुनते ही राजचन्द्रजी अपने घर दादाजीके पास दौड़े आये और उनसे पूछा : 'दादाजी क्या अमीचन्द मर गये ?' बालक राजचन्द्रका ऐसा सीधा प्रश्न सुनकर दादाजीने विचार किया कि इस बातका बालकको पता चलेगा तो डर जायगा अत: उनका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करनेके लिए दादाजीने उन्हें भोजन कर लेनेको कहा और इधर–उधरकी दूसरी बातें करने लगे। परन्तु, बालक राजचन्द्रने मर जानेके बारेमें प्रथमबार ही सुना था इसलिए विशेष जिज्ञासापूर्वक वे पूछ बैठे : 'मर जानेका क्या अर्थ है ?' दादाजीने कहा--उसमेंसे जीव निकल गया है। अब वह चलना–फिरना, खाना-पीना कुछ नहीं कर सकता, इसलिए उसे तालाबके पास स्मशान भूमिमें जला देवेंगे।' इतना सुनकर राजचन्द्रजी थोड़ी देर तो घरमें इधर--उधर घूमते रहे, बादमें चुपचाप तालाबके पास गये और वहाँ बबूलके एक वृक्षपर चढ़कर देखा तो सचमुच कुटुम्बके लोग उसके शरीरको जला रहे हैं। इसप्रकार एक परिचित और सज्जन व्यक्तिको जलाता देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे विचारने लगे कि यह सब क्या है ! उनके अन्तरमें विचारोंकी तीव्र खलबली-सी मच गई और वे गहन विचारमें डूब गये। इसी समय अचानक चित्तपरसे भारी आवरण हट गया और उन्हें पूर्व भवोंकी स्मृति हो आई। बादमें एक बार वे जूनागढ़का किला देखने गये तब पूर्व स्मृतिज्ञानकी विशेष वृद्धि हुई[1]। इस पूर्वस्मृतिरूप–ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन–अध्याय जोड़ा। श्रीमद्जीकी पढ़ाई विशेष नहीं हो पाई थी फिरभी; वे संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंके ज्ञाता थे एवं जैन आगमोंके असाधारण वेत्ता और मर्मज्ञ थे। उनकी क्षयोपशम–शक्ति इतनी विशाल थी कि जिस काव्य या सूत्रका मर्म बड़े-बड़े विद्वान लोग नहीं बता सकते थे उसका यथार्थ विश्लेषण उन्होंने सहजरूपमें किया है[2]। किसी भी विषयका सांगोपांग विवेचन करना उनके अधिकारकी बात थी[3]। उन्हें अल्प–वयमें ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं एक काव्यमें लिखा है—

लघुवयथी अद्भुत थयो, तत्त्वज्ञाननो बोध।
ए ज सूचवे एम के, गति आगति कां शोध ?
जे संस्कार थवो घटे, अति अभ्यासे कांय,
विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्यांय ?

—अर्थात् छोटी अवस्थामें मुझे अद्भुत तत्वज्ञानका बोध हुआ है, यही सूचित करता है कि अब पुनर्जन्मके शोधकी क्या आवश्यकता है ? और जो संस्कार अत्यन्त अभ्यासके द्वारा उत्पन्न होते हैं वे मुझे बिना किसी परिश्रमके ही प्राप्त हो गये हैं, फिर वहाँ भव–शंकाका क्या काम ? (पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई है।)

---

१. इस प्रसंगकी चर्चा कच्छके एक वणिक बंधु पदमशीभाई ठाकरशीके पूछनेपर बम्बईमें भूलेश्वरके दि० जैन मन्दिरमें सं० १९४२ में श्रीमद्जीने की।

२. देखिए पं० बनारसीदासजीके 'समता रमता उरधता०' पद्यका विवेचन, 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्रांक ४३८।

३. आनंदघन चौवीसीके कुछ पद्योंका विवेचन, उपरोक्त ग्रन्थमें पत्रांक ७५३।

श्रीमद् राजचंद्र।

जन्म : ववाणिया
कार्तिक सुदी १५, संवत् १९२४

देहोत्सर्ग : राजकोट
चैत्र वदी ५, संवत् १९५७

लौटा था; मुझे भाषाज्ञानका भी अभिमान था। मुझे विलायतकी हवा भी कम नहीं लगी थी। उन दिनों विलायत से आया मानों आकाशसे उतरा था! मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया और अलग अलग भाषाओंके शब्द पहले तो मैंने लिख लिये, क्योंकि मुझे वह क्रम कहाँ याद रहने वाला था? और बादमें उन शब्दोंको मैं बाँच गया। उसी क्रमसे रायचंदभाईने धीरेसे एकके बाद एक सब शब्द कह सुनाये। मैं राजी हुआ, चकित हुआ और कविका स्मरणशक्तिके विषयमें मेरा उच्च विचार हुआ। विलायतकी हवाका असर कम पड़नेके लिए यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।·······कविके साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा·······कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

मुझ पर तीन पुरुषोंने गहरा प्रभाव डाला है—टालसटॉय, रस्किन और रायचंदभाई। टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्रव्यवहारसे, रस्किनने अपनी एकही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचंदभाईने अपने गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दूधर्ममें शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करने वाले रायचंदभाई थे। सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रिकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष सम्पर्कमें आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य-धर्मियोंको क्रिश्चियन होनेके लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका सम्बन्ध व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था, तो भी उन्होंने मेरे आत्माके कल्याणके लिये चिन्ता करना शुरू कर दिया। उस समय मैं अपना एकही कर्तव्य समझ सका कि जब तक मैं हिन्दूधर्मके रहस्यको पूरी तौरसे न जान लूँ और उससे मेरे आत्माको असंतोष न हो जाय, तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी नहीं छोड़ना चाहिये। इसलिये मैंने हिन्दूधर्म और अन्य धर्मोंकी पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दीं। क्रिश्चियन और इस्लाम धर्मकी पुस्तकें पढ़ी। विलायत अंग्रेज मित्रोंके साथ पत्रव्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकायें रक्खीं तथा हिन्दुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया। उनमें रायचन्दभाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था, उनके प्रति मान भी था, इसलिए उनसे जो भी मिल सके उसे लेनेका मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शांति मिली। हिन्दूधर्ममें मुझे जो चाहिये वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ। मेरी इस स्थितिके जिम्मेदार रायचंदभाई हुये, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये पाठक लोग अनुमान कर सकते हैं।"

इस प्रकार उनके प्रबल आत्मज्ञानके प्रभावके कारण ही महात्मा गाँधीको सन्तोष हुआ और उन्होंने धर्मपरिवर्तन नहीं किया[1]।

और भी वर्णन करते हुए गाँधीजीने उनके बारेमें लिखा है:

"श्रीमद्राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख उनके अनुभवके बिन्दु समान हैं। उन्हे पढ़नेवाले, विचारनेवाले और उसके अनुसार आचरण करनेवालेको मोक्ष सुलभ होवे। उसकी कषायें मन्द पड़ें, उसे संसारमें उदासीनता आवे, वह देहका मोह छोड़कर आत्मार्थी बने।

१—श्रीमद्जी द्वारा म० गाँधीको उनके प्रश्नोंके उत्तरमें लिखे गये कुछ पत्र, क्र० ५३०, ५७०, ७१७ 'श्रीमद्-राजचन्द्र'–ग्रन्थ (गुजराती)।

इस परसे वाँचक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिए उपयोगी हैं। सभी वाँचक उसमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसकी टोकाका कारण मिलेगा परन्तु श्रद्धावान तो उसमें से रसही लूटेगा। उनके लेखोंमें सत् निथर रहा है, ऐसा मुझे हमेशा भास हुआ है। उन्होंने अपना ज्ञान दिखानेके लिये एक भी अक्षर नहीं लिखा। लिखनेका अभिप्राय वांचकको अपने आत्मानन्दमें भागीदार बनानेका था। जिसे आत्मक्लेश टालना है, जो अपना कर्तव्य जाननेको उत्सुक है उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे बहुत मिल जायगा ऐसा मुझे विश्वास है, फिर भले वह हिन्दू हो या अन्य धर्मी।

....जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इस काव्यकी कड़ियोंमें झलक रहा है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयमें प्रतिक्षण उनमें देखा था। उनके लेखोंकी एक असाधारणता यह है कि स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पंक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नहीं देखा....।

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही। किसी समय इस जगतके किसी भी वैभवमें उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैंने नहीं देखा।

उनकी चाल धीमी थी और देखनेवाला भी समझ सकता कि चलते हुये भी ये अपने विचारमें ग्रस्त हैं। आंखोंमें चमत्कार था अत्यन्त तेजस्वी, विह्वलता जरा भी नहीं थी। दृष्टिमें एकाग्रता थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक नोंकदार भी नहीं चपटी भी नहीं, शरीर इकहरा, क़द मध्यम, वर्ण श्याम, देखाव शांत मूर्तिका-सा था। उनके कण्ठमें इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुनते हुए मनुष्य थके नहीं। चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था, जिस पर अन्तरानन्दकी छाया थी। भाषा इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करनेके लिये कभी शब्द ढूंढ़ना पड़ा है, ऐसा मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठें उस समय कदाचित् ही मैंने उन्हें शब्द बदलते देखा होगा, फिरभी पढ़ने वालेको ऐसा नहीं लगेगा कि कहीं भी विचार अपूर्ण है या वाक्य-रचना खंडित है, अथवा शब्दोंके चुनावमें कमी है।

यह वर्णन संयमीमें संभावित है। बाह्याडम्बरसे मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्माकी प्रसादी है। अनेक जन्मके प्रयत्नसे वह प्राप्त होती है और प्रत्येक मनुष्य उसका अनुभव कर सकता है। रागभावको दूर करनेका पुरुषार्थ करनेवाला जानता है कि रागरहित होना कितना कठिन है। यह रागरहित दशा कवि (श्रीमद्) को स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्षकी प्रथम पैंड़ी वीतरागता है। जबतक मन जगतकी किसीभी वस्तुमें फँसा हुआ है तबतक उसे मोक्षकी बात कैसे रुचे ? और यदि रुचे तो वह केवल कानको ही—अर्थात् जैसे हम लोगोंको अर्थ जाने या समझे बिना किसी संगीतका स्वर रुच जाय वैसे। मात्र ऐसी कर्णप्रिय क्रीड़ामेंसे मोक्षका अनुसरण करनेवाले आचरण तक आनेमें तो बहुत समय निकल जाय। अंतरंग वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नहीं होती। वैराग्यका तीव्र भाव कविमें था।

....व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैंने कविमें देखा उतना किसी अन्यमें नहीं देखा।"

गृहस्थाश्रम

सं० १९४४ माघ सुदी १२ को १९ वर्षकी आयुमें उनका पाणिग्रहणसंस्कार, गांधीजीके परममित्र स्व० रेवाशंकर जगजीवनदास महेताके बड़े भाई पोपटलालकी पुत्री झबकबाईके साथ हुआ था। इसमें दूसरोंकी 'इच्छा' और 'अत्यन्त आग्रह' ही कारणरूप प्रतीत होते हैं[1]। पूर्वोपार्जित कर्मोका भोग समझकर ही उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया, परन्तु इससे भी दिन-पर-दिन उनकी उदासीनता और वैराग्यका बल बढ़ता ही गया। आत्मकल्याणके इच्छुक तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके लिये विषम परिस्थितियाँ भी अनुकूल बन जाती हैं, अर्थात् विषमतामें उनका पुरुषार्थ और भी अधिक निखर उठता है। ऐसे ही महात्मा पुरुष दूसरोंके लिये भी मार्गप्रकाशक-दीपकका कार्य करते हैं।

श्रीमद्जी गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे। उनकी दशा, छहढालाकार पं० दौलतरामजीके शब्दोंमें 'गेही पै, गृहमें न रचै ज्यौं जलतैं भिन्न कमल है'—जैसी निर्लेप थी। उनकी इस अवस्थामें भी यही मान्यता रही कि "कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकान्तवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका शतांश भी उस काजलकी कोठडीमें रहनेसे नहीं हो सकता, क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है[2]। फिर भी इस प्रतिकूलतामें वे अपने परिणामोंकी पूरी संभाल रखकर चले। यहाँ उनके अंतरके भाव एक मुमुक्षुको लिखे गये पत्रमें इसप्रकार व्यक्त हुए हैं—'संसार स्पष्ट प्रीतिसे करने की इच्छा होती हो तो उस पुरुषने ज्ञानीके वचन सुने नहीं अथवा ज्ञानीके दर्शन भी उसने किये नहीं ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।' 'ज्ञानी पुरुषके वचन सुननेके बाद स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूप भास्यमान हुए बिना रहे नहीं[3]।' इससे स्पष्ट प्रगट होता है कि वे अत्यन्त वैरागी महापुरुष थे।

सफल व्यापारी

व्यापारिक झंझट और धर्मसाधनाका मेल प्रायः कम बैठता है, परन्तु आपका धर्म—आत्म-चिन्तन तो साथमें ही चलता था। वे कहते थे कि धर्मका पालन कुछ एकादशीके दिन ही, पर्यूषणमें ही अथवा मंदिरोंमें ही हो और दुकान या दरबारमें न हो ऐसा कोई नियम नहीं, बल्कि ऐसा कहना धर्मतत्त्वको न पहचाननेके तुल्य है। श्रीमद्जीके पास दुकान पर कोई न कोई धार्मिक पुस्तक और दैनंदिनी (डायरी) अवश्य होती थी। व्यापारकी बात पूरी होतेही फौरन धार्मिक पुस्तक खुलती या फिर उनकी वह डायरी कि जिसमें कुछ न कुछ मनके विचार वे लिखते ही रहते थे। उनके लेखोंका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसका अधिकांश भाग उनकी नोंधपोथीमेंसे लिया गया है।

श्रीमद्जी सर्वाधिक विश्वासपात्र व्यापारीके रूपमें प्रसिद्ध थे। वे अपने प्रत्येक व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रामाणिक थे। इतना वड़ा व्यापारिक काम करते हुए भी उसमें उनकी आसक्ति नहीं थी।

---

१. देखिये—'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० ३०

२. 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० १०३,

३. 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० ४५४

वे वहुत ही संतोषी थे। रहन-सहन पहरवेश सादा रखते थे। धनको तो 'उच्च प्रकारके कंकर'[१] मात्र समझते थे।

एक अरव व्यापारी अपने छोटे भाईके साथ बम्बईमें मोतियोंकी आढ़तका काम करता था। एक दिन छोटे भाईने सोचा कि मैं भी अपने वड़े भाईकी तरह मोतीका व्यापार करूँ। वह परदेशसे आया हुआ माल लेकर वाजारमें गया। वहाँ जाने पर एक दलाल उसे श्रीमद्‌जीकी दुकानपर लेकर पहुँचा। श्रीमद्‌जीने माल अच्छी तरह परखकर देखा और उसके कहे अनुसार रकम चुकाकर ज्यौंका त्यौं माल एक ओर उठाकर रख दिया। उधर घर पहुँचकर वड़े भाईके आनेपर छोटे भाईने व्यापारकी वात कह सुनाई। अव जिस व्यापारीका वह माल था उसका पत्र इस आरव व्यापारीके पास उसी दिन आया था कि अमुक भावसे नीचे माल मत वेचना। जो भाव उसने लिखा था वह चालू वाजार-भावसे वहुत ही ऊँचा था। अव यह व्यापारी तो घवरा गया क्योंकि इसे इस सौदे में वहुत अधिक नुकसान था। वह क्रोधमें आकर वोल उठा—'अरे! तूने यह क्या किया? मुझे तो दिवाला ही निकालना पड़ेगा!'

अरव-व्यापारी हाँफता हुआ श्रीमद्‌जीके पास दौड़ा हुआ आया और उस व्यापारीका पत्र पढ़वाकर कहा—'साहव मुझ पर दया करो, वरना मैं गरीव आदमी वरवाद हो जाऊँगा। श्रीमद्‌जीने एक ओर ज्यौं का त्यौं वँधा हुआ माल दिखाकर कहा—'भाई, तुम्हारा माल यह रक्खा है। तुम खुशीसे ले जाओ।' यों कहकर उस व्यापारीका माल उसे दे दिया और अपने पैसे ले लिये। मानो कोई सौदा किया हो नहीं था, ऐसा सोचकर हजारोंके लाभकी भी कोई परवाह नहीं की। आरव--व्यापारी उनका उपकार मानता हुआ अपने घर चला गया। यह अरव व्यापारी श्रीमद्‌को खुदाके पैगम्बरके समान मानने लगा।

व्यापारिक नियमानुसार सौदा निश्चित हो चुकने पर वह व्यापारी माल वापिस लेनेका अधिकारी नहीं था, परन्तु श्रीमद्‌जीका हृदय यह नहीं चाहता था कि किसीको उनके द्वारा हानि हो। सचमुच महात्माओंका जीवन उनकी कृतिमें व्यक्त होता ही है।

इसीप्रकारका एक दूसरा प्रसंग उनके करुणामय और निस्पृही जीवनका ज्वलंत उदाहरण है :

एक वार एक व्यापारीके साथ श्रीमद्‌जीने हीरोंका सौदा किया। इसमें ऐसा तय हुआ कि अमुक समयमें निश्चित किये हुए भावसे वह व्यापारी श्रीमद्‌को अमुक हीरे दे। इस विषयकी चिट्ठी भी व्यापारीने लिख दी थी। परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय उन हीरोंकी कीमत वहुत अधिक वढ़ गई। यदि व्यापारी चिट्ठीके अनुसार श्रीमद्‌को हीरे दे, तो उस वेचारेको वड़ा भारी नुकसान सहन करना पड़े; अपनी सभी सम्पत्ति वेच देनी पड़े! अव क्या हो?

इधर जिस समय श्रीमद्‌जीको हीरोंका वाजार-भाव मालूम हुआ, उस समय वे शीघ्रही उस व्यापारीकी दुकानपर जा पहुँचे। श्रीमद्‌जीको अपनी दुकानपर आये देखकर व्यापारी घवराहटमें पड़ गया। वह गिड़गिड़ाते हुए वोला—'रायचंदभाई, हम लोगोंके वीच हुए सौदेके सम्बन्धमें मैं खूव

१—'ऊंची जातना कांकरा'

ही चिन्तामें पड़ गया हूँ। मेरा जो कुछ होना हो, वह भले हो, परन्तु आप विश्वास रखना कि मैं आपको आजके बाजार-भावसे सौदा चुका दूँगा। आप जरा भी चिन्ता न करें।'

यह सुनकर राजचन्द्रजी करुणाभरी आवाजमें बोले : "वाह! भाई, वाह! मैं चिन्ता क्यों न करूँ? तुमको सौदेकी चिन्ता होती हो तो मुझे चिन्ता क्यों न होनी चाहिये? परन्तु हम दोनों-की चिन्ताका मूल कारण यह चिट्ठी ही है न? यदि इसको ही फाड़कर फेंक दें तो हम दोनोंकी चिन्ता मिट जायगी।"

यों कहकर श्रीमद् राजचन्द्रने सहजभावसे वह दस्तावेज फाड़ डाला। तत्पश्चात् श्रीमद्जी बोले : "भाई, इस चिट्ठीके कारण तुम्हारे हाथपाँव बँधे हुए थे। बाजारभाव बढ़ जानेसे तुमसे मेरे साठ सत्तर हजार रुपये लेना निकलते हैं, परन्तु मैं तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ। इतने अधिक रुपये मैं तुमसे लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो? परन्तु राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नहीं।"

वह व्यापारी कृतज्ञ-भावसे श्रीमद्की ओर स्तब्ध होकर देखता ही रहा।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्जीका ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान भी प्रखर था। वे जन्मकुंडली, वर्षफल एवं अन्य चिन्ह देखकर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्रीजूठाभाई (एक मुमुक्षु) के मरणके बारेमें उन्होंने २। मास पूर्व स्पष्ट बता दिया था[1]। एक बार सं० १९५५ को चैत्र वदी ८ को मोरबीमें दोपहरके ४ बजे पूर्वदिशाके आकाशमें काले बादल देखे और उन्हें दुष्काल पड़नेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा कि 'ऋतुको सन्निपात हुआ है।' इस वर्ष १९५५ का चौमासा कोरा रहा—वर्षा नहीं हुई और १९५६ में भयंकर दुष्काल पड़ा। वे दूसरेके मनकी बातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निर्मल आत्मशक्तिका प्रभाव था।

कवि–लेखक

श्रीमद्जीमें, अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमें करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होंने सामाजिक रचनाओंमें–'स्त्रीनीतिबोधक', 'सद्बोधशतक' 'आर्य प्रजानी पडती' 'हुन्नरकला वधारवा विषे' 'सद्गुण, सुनीति, सत्य विषे' आदि अनेक रचनाएँ केवल ८ वर्षकी वयमें लिखी थीं, जिनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। ९ वर्षकी आयुमें उन्होंने रामायण और महाभारतको भी पद्य--रचना की थी जो प्राप्त नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएँ हैं। प्रमुखरूपसे 'आत्मसिद्धि' (१४२ दोहे) 'अमूल्य तत्त्वविचार' 'भक्तिना वीस दोहरा' 'ज्ञानमीमांसा' 'परमपदप्राप्तिनी भावना' (अपूर्व अवसर) 'मूलमार्ग रहस्य' 'जिनवाणीनी स्तुति' 'बारह भावना' और 'तृष्णानी विचित्रता' हैं। अन्य भी बहुतसी रचनाएँ हैं, जो भिन्न-भिन्न वर्षोंमें लिखी हैं।

'आत्मसिद्धि'--शास्त्रकी रचना तो आपने मात्र डेढ़ घंटेमें, श्री सौभागभाई, डुंगरभाई आदि मुमुक्षुओंके हितार्थ नडियादमें आश्विन वदी १ (गुजराती) गुरुवार सं० १९५२ को २९ वें

[1] देखिये—दैनिक नोंधसे लिया गया कथन, पत्र क्र० ११६, ११७ ('श्रीमद्राजचन्द्र' गुजराती)

वर्षमें लिखी थी। यह एक, निस्संदेह धर्ममार्गकी प्राप्तिमें प्रकाशरूप अद्भुत रचना है। अंग्रेजीमें भी इसके गद्य-पद्यात्मक अनुवाद प्रगट हो चुके हैं[1]।

गद्य-लेखनमें श्रीमद्जीने 'पुष्पमाला' 'भावनावोध' और 'मोक्षमाला'की रचना की। यह सभी सामग्री पठनीय-विचारणीय है। 'मोक्षमाला' उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है, जिसे उन्होंने केवल १६ वर्ष ५ मासकी आयुमें मात्र ३ दिनमें लिखी थी। इसमें १०८ पाठ हैं। कथनका प्रकार विशाल और तत्त्वपूर्ण है।

उनकी अर्थ करनेकी शक्ति भी वड़ी गहन थी। भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय'-ग्रन्थकी मूल गाथाओंका उन्होंने अविकल गुजराती अनुवाद किया है[2]।

सहिष्णुता

विरोधमें भी सहनशील होना महापुरुषोंका स्वाभाविक गुण है। यह वात यहाँ घटित होती है। जैन समाजके कुछ लोगोंने उनका प्रवल विरोध किया, निन्दा की, फिर भी वे अटल शांत और मौन रहे। उन्होंने एक वार कहा था: 'दुनिया तो सदा ऐसी ही है। ज्ञानियोंको, जीवित हों तव कोई पहचानता नहीं, वह यहाँ तक कि ज्ञानीके सिर पर लाठियोंकी मार पड़े वह भी कम; और ज्ञानीके मरनेके वाद उसके नामके पत्थरको भी पूजे!'

एकान्तचर्या

मोहमयी (वम्वई) नगरीमें व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे। यह उनका प्रमुख और अनिवार्य कार्य था। उद्योत-रत जीवनमें शांत और स्वस्थ चित्तसे चुपचाप आत्मसाधना करना उनके लिये सहज हो चला था; फिर भी वीच-वीचमें विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जंगल या पर्वतोंमें पहुँच जाते थे। वे किसी भी स्थानपर वहुत गुप्तरूपसे जाते थे। वे नहीं चाहते थे कि किसीके परिचयमें आया जाय, फिरभी उनकी सुगन्धी छिप नहीं पाती थी। अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनका उपदेश, धर्मवचन सुननेकी इच्छासे पीछे-पीछे कहीं भी पहुँच ही जाते थे और सत्समागमका लाभ प्राप्त कर लेते थे। गुजरातके चरोतर, ईडर आदि प्रदेशमें तथा सौराष्ट्र क्षेत्रके अनेक शान्तस्थानोंमें उनका गमन हुआ। आपके समागमका विशेष लाभ जिन्हें मिला उनमें मुनिश्री लल्लुजी (श्रीमद्लघुराजस्वामी), मुनिश्री देवकरणजी तथा सायलाके श्री सौभागभाई, अम्वालालभाई (खंभात), जूठाभाई (अमदावाद) एवं डूंगरभाई मुख्य थे।

एक वार श्रीमद्जी सं० १९५५ में जव कुछ दिन ईडरमें रहे तव उन्होंने डॉ० प्राणजीवनदास महेता (जो उस समय ईडर स्टेटके चीफ मेडिकल ऑफीसर थे और सम्वन्धकी दृष्टिसे उनके श्वसुर-

---

१. 'आत्मसिद्धि' के अंग्रेजी अनुवादमें Atmasiddhi, Self Realization, और Self Fulfilment प्रगट हुए हैं। संस्कृत-छाया भी छपी है।

२. देखिये-'श्रीमद्राजचन्द्र' गुज० पत्रांक ७६६। उनकी सभी प्रमुख-सामग्रीका संकलन 'श्रीमद्राजचन्द्र'-ग्रन्थ-में किया गया है।

के भाई होते थे) से कह दिया कि उनके आनेकी किसीको खबर न हो। उस समय वे नगरमें केवल भोजन लेने जितने समयके लिए ही रुकते, शेष समय ईडरके पहाड़ और जंगलोंमें बिताते।

मुनिश्री लल्लुजी, श्रीमोहनलालजी तथा श्री नरसीरखको उनके वहाँ पहुंचनेके समाचार मिल गये। वे शीघ्रतासे ईडर पहुँचे। श्रीमद्जीको उनके आगमनका समाचार मिला। उन्होंने कहलवा दिया कि मुनिश्री बाहरसे बाहर जंगलमें पहुँचें—यहाँ न आवें। साधुगण जंगलमें चले गये। बादमें श्रीमद्जी भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने मुनिश्री लल्लुजीसे एकांतमें अचानक ईडर आनेका कारण पूछा। मुनिश्रीने उत्तरमें कहा कि 'हम लोग अमदावाद या खंभात जाने वाले थे, यहाँ निवृत्ति क्षेत्रमें आपके समागममें विशेष लाभकी इच्छासे इस ओर चले आये। मुनि देवकरणजी भी पीछे आते हैं।' इस पर श्रीमद्जीने कहा—'आप लोग कल यहाँसे विहार कर जावें, देवकरणजीको भी हम समाचार भिजवा देते हैं, वे भी अन्यत्र विहार कर जावेंगे। हम यहाँ गुप्तरूपसे रहते हैं—किसीके परिचयमें आनेकी इच्छा नहीं है।'

श्री लल्लुजी मुनिने नम्र-निवेदन किया—'आपकी आज्ञानुसार हम चले जावेंगे परन्तु मोहनलालजी और नरसीरख मुनियोंको आपके दर्शन नहीं हुये हैं, आप आज्ञा करें तो एक दिन रुककर चले जावें।' श्रीमद्जीने इसकी स्वीकृति दी। दूसरे दिन मुनियोंने देखा कि जंगलमें आम्रवृक्षके नीचे श्रीमद्जी प्राकृतभाषाकी *गाथाओंका तन्मय होकर उच्चारण कर रहे हैं। उनके पहुँचनेपर भी आधा घण्टे तक वे गाथायें बोलते ही रहे और ध्यानस्थ हो गये। यह वातावरण देखकर मुनिगण आत्मविभोर हो उठे। थोड़ी देर बाद श्रीमद्जी ध्यानसे उठे और 'विचारना' इतना कहकर चलते बने। मुनियोंने विचारा कि लघुशंकादि-निवृत्तिके लिए जाते होंगे परन्तु वे तो निस्पृहरूपसे चले ही गये। थोड़ी देर इधर-उधर ढूँढ़कर मुनिगण उपाश्रयमें आ गये।

उसी दिन शामको मुनि देवकरणजी भी वहाँ पहुँच गये। सभीको श्रीमद्जीने पहाड़के ऊपर स्थित दिगम्बर, श्वेताम्बर मन्दिरोंके दर्शन करनेकी आज्ञा दी। वीतराग-जिनप्रतिमाके दर्शनोंसे मुनियोंको परम उल्लास जाग्रत हुआ। इसके पश्चात् तीन दिन और भी श्रीमद्जीके सत्समागमका लाभ उन्होंने उठाया। जिसमें श्रीमद्जीने उन्हें 'द्रव्यसंग्रह' और 'आत्मानुशासन'-ग्रन्थ पूरे पढ़कर स्वाध्यायके रूपमें सुनाये एवं अन्य भी कल्याणकारी बोध दिया।

---

* १. मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४८॥

२. जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं णिच्चयं ज्झाणं ॥५५॥

३. मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥५६॥

(द्रव्यसंग्रह)

—श्रीमद्जीने यह 'बृहद्द्रव्यसंग्रह'-ग्रन्थ ईडरके दि० जैन शास्त्रभण्डारमेंसे स्वयं निकलवाया था।

अत्यन्त जाग्रत आत्मा ही परमात्मा बनता है, परम वीतराग-दशाको प्राप्त होता है। इन्हीं अन्तरभावोंके साथ आत्मस्वरूपकी ओर लक्ष कराते हुए एक वार श्रीमद्जीने अमदावादमें मुनिश्री लल्लुजी (पू० लघुराजस्वामी) तथा श्रीदेवकरणजीको कहा था कि 'हममें और वीतरागमें भेद गिनना नहीं' 'हममें और श्री महावीर भगवानमें कुछ भी अन्तर नहीं, केवल इस कुर्तेका फेर है।'

मत–मतान्तरके आग्रहसे दूर

उनका कहना था कि मत–मतांतरके आग्रहसे दूर रहने पर ही जीवनमें रागद्वेषसे रहित हुआ जा सकता है। मतोंके आग्रहसे निजस्वभावरूप आत्मधर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी भी जाति या वेषके साथभी धर्मका सम्वन्ध नहीं।

"जाति वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय॥"
(आत्मसिद्धि १०७)

—जो मोक्षका मार्ग कहा गया है वह हो तो किसी भी जाति या वेषसे मोक्ष होवे, इसमें कुछ भेद नहीं है। जो साधना करे वह मुक्तिपद पावे।

आपने लिखा है—"मूलतत्त्व में कहीं भी भेद नहीं है। मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर आशय समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति करना।" (पुष्पमाला १४ पृ० ४)

"तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नहीं, मात्र कहनेका तात्पर्य यही कि जिस मार्गसे संसारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर[1]। (पु० मा० १५ पृ० ४)

"दुनिया मतभेदके वंधनसे तत्त्व नहीं पा सकी।" (पत्र क्र० २७)

उन्होंने प्रीतम, अखा, छोटम, कवीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नरसिंह महेता आदि सन्तोंकी वाणीको जहाँ-तहाँ आदर दिया है और उन्हें मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है। इसलिए एक जगह उन्होंने अत्यन्त मध्यस्थतापूर्वक आध्यात्मिक-दृष्टि प्रगट की है कि 'मैं किसी गच्छमें नहीं, परन्तु आत्मामें हूँ।'

एक पत्रमें आपने दर्शाया है—"जव हम जैनशास्त्रोंको पढ़नेके लिए कहें तव जैनी होनेके लिए नहीं कहते; जव वेदान्तशास्त्र पढ़नेके लिए कहें तो वेदान्ती होनेके लिए नहीं कहते। इसीप्रकार अन्य शास्त्रोंको वाँचनेके लिए कहें तव अन्य होनेके लिए नहीं कहते। जो कहते हैं वह केवल तुम

---

१. देखिए इसी प्रकारके विचार—
पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥ (हरिभद्रसूरि)

सब लोगोंको उपदेश-ग्रहणके लिए ही कहते हैं। जैन और वेदान्ती आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसा नहीं है[1]।"

फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होंने निर्ग्रन्थ शासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है[2]। 'अहो! सर्वोत्कृष्ट शांतरसमय सन्मार्ग, अहो! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव, अहो! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसकी सुप्रतीति करानेवाले परमकृपालु सद्गुरुदेव--इस विश्वमें सर्वकाल तुम जयवंत वर्तो, जयवंत वर्तो[3]।'

दिनोंदिन और क्षण-क्षण उनकी वैराग्यवृत्ति वर्धमान हो चली। चैतन्यपुञ्ज निखर उठा। वीतरागमार्गकी अविरल उपासना उनका ध्येय बन गई। वे बढ़ते गये और सहजभावसे कहते गये—"जहाँ-तहाँ से रागद्वेषसे रहित होना ही मेरा धर्म है[4]।"

निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें उनके उद्गार इसप्रकार निकले हैं—

ओगणीससें ने सुडतालीसे,
समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा,
निज स्वरूप अवभास्युं रे।
धन्य रे दिवस आ अहो!

(हा. नों, १।६३ क्र० ३२)

सोल्लास उपकार-प्रगटना

"हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन! तुझे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार हो। इस अनादि अनन्त संसारमें अनन्त अनन्त जीव तेरे आश्रय विना अनन्त अनन्त दुःख अनुभवते हैं। तेरे परमानुग्रहसे स्वस्वरूपमें रुचि हुई। परमवीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय आया। कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिन वीतराग! तुम्हें अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। तुमने इस पामर पर अनंत अनंत उपकार किया है।

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो! तुम्हारे वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। इसके लिए मैं तुम्हें अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

श्री सोभाग! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ। अतः तुझे नमस्कार करता हूँ।" (हा. नों. २।४५ क्र० २०)

---

१. 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ३५८
२. 'श्रीमद्राजचन्द्र' शिक्षापाठ ९५ (तत्वाववोध-१४) तथा पत्र क्र० ५९६
हाथनोंध ३।५२ क्रम २३ 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुज०)
४. पत्र क्र० ३७ 'श्रीमद्राजचन्द्र'

परमनिवृत्तिरूप कामना । चिंतना ।

उनका अन्तरंग, गृहस्थावास-व्यापारादि कार्यसे छूटकर सर्वसंगपरित्याग कर निर्ग्रन्थदशाके लिए छटपटाने लगा । उनका यह अन्तर-आशय उनकी 'हाथनोंध' परसे स्पष्ट प्रगट होता है:—

"हे जीव ! असारभूत लगनेवाले ऐसे इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त ! उस व्यवसायके करनेमें चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दीखता हो तो भी उससे निवृत्त हो, निवृत्त ! जो कि श्रीसर्वज्ञने कहा है कि चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव भी प्रारब्ध भोगे बिना मुक्त नहीं हो सकता, फिर भी तू उस उदयके आश्रयरूप होनेसे अपना दोष जानकर उसका अत्यन्त तीव्ररूपमें विचारकर उससे निवृत्त हो, निवृत्त ! (हा. नों. १।१०१ क्र० ४४)

हे जीव ! अब तू संग-निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर ! केवलसंगनिवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश दिखाई न दे तो अंशसंगनिवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्यागकर ! जिस ज्ञानदशामें त्यागात्याग कुछ संभवित नहीं उस ज्ञानदशाकी सिद्धि है जिसमें ऐसा तू, सर्वसंगत्याग दशा अल्पकाल भी भोगेगा तो सम्पूर्ण जगत प्रसंगमें वर्तते हुए भी तुझे बाधा नहीं होगी, ऐसा होते हुए भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है; कारण कि ऋषभादि सर्व परमपुरुषोंने अन्तमें ऐसा ही किया है ।" (हा. नों. १ । १०२ क्र० ४५)

"राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके जो सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हुए वही स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और प्राप्त करने योग्य स्थान है ।" (हा. नों. २ । ३ क्र० १)

"सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त, निज स्वभावके भान सहित, अवधूतवत् विदेहीवत् जिनकल्पीवत् विचरते पुरुष भगवानके स्वरूपका ध्यान करते हैं ।" (हा. नों. ३।३७ क्र० १४)

"मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ, असंख्यप्रदेशात्मक निजअवगाहनाप्रमाण हूँ । अजन्म, अजर, अमर, शाश्वत हूँ । स्वपर्यायपरिणामी समयात्मक हूँ । शुद्ध चैतन्यमात्र निर्विकल्प दृष्टा हूँ ।" (हा. नों. ३ । २९ क्र० ११)

"मैं परमशुद्ध अखंड चिद्धातु हूँ, अचिद्धातुके संयोगरसका यह आभास तो देखो ! आश्चर्यवत्, आश्चर्यरूप, घटना है । कुछ भी अन्य विकल्पका अवकाश नहीं, स्थिति भी ऐसी ही है ।" (हा. नों. २ । ३७ क्र० १७)

इस प्रकार अपनी आत्मदशाको संभालकर वे बढ़ते रहे । आपने सं० १९५६ में व्यवहार सम्बन्धी सर्व उपाधिसे निवृत्ति लेकर सर्वसंगपरित्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी अपनी माताजीसे आज्ञा भी ले ली थी । परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता गया । उदय बलवान है । शरीरको रोगने आ घेरा । अनेक उपचार करनेपर भी स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ । इसी विवशतामें उनके हृदयकी गंभीरता बोल उठी : "अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ बीच-में सेहराका मरुस्थल आ गया । सिर पर बहुत बोझ था उसे आत्मवीर्यसे जिसप्रकार अल्पकालमें

सहन कर लिया जाय उसप्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोंने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की। जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता; यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है[1]।"

अंत समय

स्थिति और भी गिरती गई। शरीरका वजन १३२ पौंडसे घटकर मात्र ४३ पौंड रह गया। शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नहीं था। देह त्यागके पहले दिन शामको आपने अपने छोटेभाई मनसुखराम आदिसे कहा—"तुम निश्चित रहना, यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होगा, तुम शांति और समाधिरूपसे प्रवर्तना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकती थी, वह कहनेका समय नहीं। तुम पुरुषार्थ करना।" रात्रिको २॥ बजे वे फिर बोले 'निश्चिन्त रहना, भाईका समाधिमरण है'। और अवसानके दिन प्रातः पौने नौ बजे कहा : 'मनसुख, दुखी न होना, मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ।' और अन्तमें उस दिन सं० १९५७ चैत्र वदी ५ (गुज०) मंगलवारको दोपहरके दो बजे राजकोटमें उनका आत्मा इस नश्वर देहको छोड़कर चला गया। भारतभूमि एक अनुपम तत्त्वज्ञानी-सन्तको खो बैठी।

उनके देहावसानके समाचार सुनकर मुमुक्षुओंके चित्त उदास हो गए। वसंत मुरझा गया। निस्संदेह श्रीमद्जी विश्वकी एक महान विभूति थे। उनका वीतरागमार्ग-प्रकाशक अनुपम वचनामृत आज भी जीवनको अमरत्व प्रदान करनेके लिए विद्यमान है। धर्मजिज्ञासु बन्धु उनके वचनोंका लाभ उठावें।

श्री लघुराजस्वामी (प्रभुश्री) ने उनके प्रति अपना हृदयोद्गार इन शब्दोंमें प्रगट किया है : "अपरमार्थमें परमार्थके दृढ़ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभुलैयांके प्रसंग दिखाकर इस दासके दोष दूर करनेमें इन आप्त पुरुषका परम सत्संग तथा उत्तम बोध प्रबल उपकारक बने हैं।" "संजीवनी औषध समान मृतको जीवित करे ऐसे उनके प्रबल पुरुषार्थ जागृत करनेवाले वचनोंका माहात्म्य विशेष विशेष भास्यमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमें ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिसे प्राप्त होती है; वे इस दुषम कलिकालमें आश्चर्यकारी अवलंबन हैं।" "परम माहात्म्यवंत सद्गुरु श्रीमद् राजचन्द्रदेवके वचनोंमें तल्लीनता; श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई है, या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है[2]।"

उनको स्मृतिमें शास्त्रमालाकी स्थापना

सं० १९५६ में [3]सत्श्रुतके प्रचार हेतु बम्बईमें श्रीमद्जीने परमश्रुतप्रभावकमण्डलकी स्थापना की थी। उसीके तत्त्वावधानमें उनकी स्मृतिस्वरूप श्रीरायचन्द्र जैन शास्त्रमालाकी स्थापना हुई। जिसकी ओरसे अब तक समयसार, प्रवचनसार, गोम्मटसार, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश

---

१. 'श्रीमद् राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ९५१।

२. 'श्रीसद्गुरुप्रसाद' पृ० २, ३

३. श्रीमद्जी द्वारा निर्देशित सत्श्रुतरूप ग्रन्थोंकी सूचीके लिये देखिए 'श्रीमद्राजचन्द्र'-ग्रन्थ (गुज०) उपदेशनोंध क्र० १५।

और योगसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, इष्टोपदेश, प्रशमरतिप्रकरण, न्यायावतार, स्याद्वादमंजरी, अष्टप्राभृत सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ज्ञानार्णव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय, लब्धिसार-क्षपणासार, द्रव्यानुयोगतर्कणा, सप्तभंगीतरंगिणी, उपदेशछाया और आत्मसिद्धि, भावना-बोध, श्रीमद्राजचन्द्र आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वर्तमानमें संस्थाके प्रकाशनका सब काम अगाससे ही होता है। विक्रयकेन्द्र बम्बईमें भी पूर्वस्थानपर ही है। श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगाससे गुजराती भाषामें अन्यभी उपयोगी ग्रन्थ छपे हैं।

वर्तमानमें निम्नलिखित स्थानोंपर श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम व मन्दिर आदि संस्थाएँ स्थापित हैं, जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्मकल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते हैं। वे स्थान हैं—अगास, ववाणिया, राजकोट, वड़वा, खंभात, काविठा, सीमरडा, भादरण, नार, सुणाव, नरोड़ा, सडोदरा, धामण, अमदावाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसंडा, बोरसद, आहोर (राज०), हम्पी (दक्षिण भारत), इन्दौर (म० प्र०), बम्बई-घाटकोपर, देवलालीतथामोम्बासा (आफ्रिका)।

अन्तमें, वीतराग-विज्ञानके निधान तीर्थंकरादि महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट सर्वोपरि-आत्मधर्म का अविरल प्रवाह जन-जनके अन्तरमें प्रवाहित हो, यही भावना है।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
कार्तिकी पूर्णिमा, सं० २०२५

—बाबूलाल सिद्धसेन जैन.

प्रस्तावना ।

प्रिय पाठकगण, आज हम श्रीजिनेन्द्रदेवकी कृपासे आपके सन्मुख श्रीगोम्मटसार कर्मकांड भी संस्कृतछाया तथा संक्षिप्त भाषाटीका सहित उपस्थित करते हैं । यह ग्रन्थ जैनसम्प्रदायमें परम माननीय है । इसका पूर्वभाग 'जीवकाण्ड' संस्कृतछाया और उत्थानिका सहित और इसका परिशिष्ट लब्धिसारक्षपणासार भी इसी तरह भाषानुवाद सहित इसी मण्डल द्वारा छप चुका है ।

इस ग्रन्थको पहला सिद्धान्तग्रंथ वा प्रथमश्रुतस्कंध कहते हैं । इसकी उत्पत्ति इस तरह है, कि श्रीवर्द्धमानस्वामीके निर्वाण होनेके पश्चात् ६८३ वर्षपर्यंत अंगज्ञानकी प्रवृत्ति रही । इसके वाद अंगपाठी कोई भी नहीं हुए, किन्तु एक भद्रवाहुस्वामी अष्टांग निमित्तज्ञानके (ज्योतिषके) धारक हुए । इनके समयमें १२ वर्षका दुर्भिक्ष पड़नेसे इनके संघमेंसे अनेक मुनि शिथिलाचारी हो गए, और स्वच्छंद प्रवृत्ति होनेसे जैनमार्ग से भ्रष्ट होने लगे, तव भद्रवाहुस्वामीके शिष्योंमेंसे धरसेन नामके मुनि हुए, जिनको अग्रायणी नामक दूसरे पूर्वमें पंचमवस्तुमहाधिकारके महाप्रकृतिनामक चौथे प्राभृत (अधिकार) का ज्ञान था । सो इन्होंने अपने शिष्य भूतवली और पुष्पदन्त इन दोनों मुनियोंको पढ़ाया । इन दोनोंने षट्खण्ड नामकी सूत्र-रचनाकर ग्रन्थमें लिखा, फिर षट्खण्ड सूत्रोंको अन्य आचार्योंने पढ़कर उनके अनुसार विस्तारसे धवल, महाधवल, जयधवलादि टीकाग्रन्थ रचे । उन सिद्धान्त ग्रन्थोंको प्रातःस्मरणीय भगवान् श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती आचार्यमहाराजने पढ़कर श्रीगोम्मटसार, लब्धिसार क्षपणासारादि ग्रन्थोंकी रचना की ।

इन सव ग्रन्थोंमें जीव और कर्मके संयोगसे जो संसारमें पर्यायें होती हैं, उनका विस्तारसे स्वरूप दिखाया गया है, अर्थात् भव्यजीवोंके हितार्थ गुणस्थान मार्गणाओंका वर्णन तथा अन्य दर्शनोंमें अविवेचित कर्मका वर्णन पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे कहा गया है । पर्यायार्थिकनयको अनेकान्तशैलीसे अशुद्धद्रव्यार्थिकनय तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे अशुद्धनिश्चय तथा व्यवहारनय भी कहते हैं ।

इस महान् ग्रन्थके कर्त्ता श्रीनेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्तीका पवित्र जीवनचरित्र वाहुवलिचरित्र ग्रन्थसे उद्धृत श्रीवृहद्द्रव्यसंग्रह ग्रन्थमें मुद्रित हो चुका है, इसकारण यहांपर प्रकाशित नहीं किया, पाठकगण वहींसे देख लेवें । यह ग्रन्थ भी उक्त आचार्यका ही बनाया हुआ है ।

इस ग्रन्थकी टीका इन्हीं आचार्यके प्रधान शिष्य श्रीचामुण्डरायने कर्णाटकी भाषामें बनाई, जैसा कि ९७२वीं गाथामें आचार्यने स्वयं आशीर्वादपूर्वक कहा है । उस कर्णाटकी वृत्तिसे रची गई इस समय दो संस्कृत टीकायें मिलती हैं । एक केशववर्णीने बनाई है, जोकि उक्त टीकाकारने अपनी टीकाके आरम्भमें "नेमिचन्द्रं जिनं नत्वा, सिद्धं श्रीज्ञानभूषणम् । वृत्तिं गोम्मटसारस्य, कुर्वे कर्णाटवृत्तितः" ॥ इस श्लोकसे दिखलाया है । दूसरी मन्दप्रवोधिनी नामवाली टीका श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्तीकी वनाई हुई है । इस विषयमें उक्त कर्त्ताने टीकाके आरम्भमें "मुनिं सिद्धं प्रणम्याहं, नेमिचन्द्रं जिनेश्वरम् । टीकां गोम्मटसारस्य, कुर्वे मन्दप्रवोधिनीम्" ॥ इस श्लोकसे सूचित किया है । इन्हीं दोनोंकी सहायतासे भव्योपकारी जैनसमाजकमलदिवाकर श्रीमद्विद्वद्वर टोडरमल्लजीने 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' नामक भाषाटीकाकी रचना की । जिसकी सहायतासे अतिगहन विषय अच्छी तरह समझकर भव्यजीव परमानंदको प्राप्त होते हैं ।

इस भाषाटीकाका बहुत विस्तार होनेसे तथा कितने एक अन्य कारणोंसे सवका मुद्रित कराना दुस्साध्य समझकर श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलाधिकारियोंने संक्षिप्त भाषाटीका सहित तैयार करानेकी मुझे प्रेरणा की । सो अव मैं संस्कृत तथा भाषा दोनों टीकाओंके अनुसार सिद्धान्तशास्त्रपाठक स्याद्वादवारिधि विद्वच्छिरोमणि गुरुवर्य पं० गोपालदासजी वरैयाकी अतिशय कृपासे अपनी बुद्धिके अनुसार संक्षिप्त भाषा टीका सहित इस गोम्मटसारके कर्मकांडको तैयारकर पाठकोंके सामने उपस्थित करता हूँ । यद्यपि इस भाषानुवादमें सव विषयोंका खुलासा नहीं आया है । तो भी जहां तक वना है, वहां तक मूलार्थ कहीं नहीं छोड़ा गया है । सव विषयोंका खुलासा विना वड़ी टीकाके कभी नहीं आ सकता है । इस प्रस्तावनाके अंतमें थोड़ी संज्ञाओंका भी खुलासा किया गया है । और वंधोदयसत्त्वका नकशा स्पष्ट करके लगाया गया है । तथा इस समयके अनुकूल ग्रन्थका विषय और गाथा सुलभतासे देखनेके लिए ३ प्रकारकी अनुक्रमणिका (सूची) भी लगा दी गई है । यह टीका वड़ी टीकाकी

प्रवेशिकारूप अवश्य हो जायगी, ऐसी मैं आशा करता हूं। तथा स्वर्गीय तत्त्वज्ञानी श्रीमान् रायचन्द्रजीद्वारा स्थापित श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलकी तरफसे इस ग्रन्थका उद्धार हुआ है, इस कारण उक्त मंडलके उत्साही सभासदगण और प्रवन्धकर्त्ताओंको जिन्होंने अत्यन्त उत्साहित होकर ग्रन्थ तैयार कराके भव्य जीवोंको महान् उपकार पहुंचाया है, कोटिशः धन्यवाद देता हूँ। और श्रीजीसे प्रार्थना करता हूँ, कि वीतरागदेवप्रणीत उच्चश्रेणीके तत्त्वज्ञानका इच्छित प्रसार करनेमें उक्त मण्डल कृतकार्य होवे। और मैं अपने मित्रवर्य पं० बंशीधरजी गोलालारेको द्वितीय धन्यवाद देता हूँ, कि जिन्होंने संशोधनकार्यमें सहायता दी है। अब मेरी अंतमें यह प्रार्थना है, कि जो प्रमादसे, दृष्टिदोषसे तथा ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी न्यूनतासे कहींपर अशुद्धियां रह गई होवें, तो पाठकगण मेरे ऊपर क्षमा करके शुद्ध करते हुए पढ़ें, क्योंकि मुझे भाषाटीका बनानेका यह पहला ही अवसर प्राप्त हुआ है, इस कारण भाषा रचनाकी तथा अर्थांशकी अशुद्धियोंका रह जाना सम्भव है। इसतरह धन्यवादपूर्वक प्रार्थना करता हुआ इस प्रस्तावनाको समाप्त करता हूं। अलं विज्ञेषु।

काकड़वाड़ी—वम्वई
भाद्रपद कृष्णा १२ सं० २४३८

जैनाचार्यचरणसरोजचञ्चरीक तथा जैनसमाजका सेवक—
मनोहरलाल
पाढम (मैनपुरी) निवासी

प्राग्निवेदन।

श्रीयुत पं० मनोहरलालजी शास्त्रीने जो गोम्मटसार कर्मकांडकी टीका बनाई और शास्त्रमालाने जिसको प्रकाशित किया उसके विषयमें अनेक विद्वानोंको प्रकाशित होते ही यह कहते पाया गया, कि इसमें अनेक स्थलोंपर अशुद्धियाँ हैं, और यह टीका अच्छी नहीं बनी है। परन्तु जबतक मैंने उसे नहीं देखा कुछ निश्चय नहीं कर सका। हाँ, उसके देखनेपर उसमें मुझे तीन बातें नजर पड़ीं, जो कि प्रायः अन्य विद्वानोंकी दृष्टिके मार्गमें भी आई होंगीं। १–शीघ्रता, २–अतिसंक्षेप, ३–कुछ अशुद्धियां।

यद्यपि शीघ्रता करना यह पंडितजीका स्वभाव ही था, जिस कामको भी वे हाथमें लेते, उसको पड़े रखना या उसमें विलम्व करना, वे विलकुल पसन्द नहीं करते थे, परन्तु विद्वान् पाठकोंको ऐसी शीघ्रता अभीष्ट नहीं हो सकती, जिसके कारण ग्रन्थके सौन्दर्यमें ही कमी आ जाय। इस टीकामें भाषाका मार्जन बराबर नहीं हुआ, और अनेक स्थलों पर वाक्य–विन्यास भी ऐसे हो गए, कि जिनसे अर्थ नहीं वैठता, अथवा वहुत विचार करनेपर अर्थबोध होता है। दूसरे दो दोष भी शीघ्रताके कारण ही हुए मालूम होते हैं।

जिस प्रकार ये बातें मेरे देखने और सुननेमें आईं, उसी प्रकार कुछ विद्वानोंके द्वारा इस शास्त्रमालाके व्यवस्थापकोंकी सेवामें इसलिये सूचित करनेमें आईं, कि जहां तक हो दूसरे संस्करणमें जो त्रुटियां दूर हो सकें, वे की जावें। अतएव जब इसका प्रथम संस्करण समाप्त हुआ, और दूसरे संस्करणको छपानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, तब इस शास्त्रमालाके सुयोग्य ऑ. व्य० श्रीयुत सेठ शा० रेवाशंकर जगजीवनजी झवेरीने इसके संशोधनका कार्य मेरे सुपुर्द किया। जहांतक मुझसे हो सका है, इसकी प्रायः सभी आर्थिक और साधारणतया शाब्दिक अशुद्धियोंको दूर करनेका प्रयत्न किया है, जैसाकि पाठकोंको १४४–२०१–३१४–३८६–४०७–४६६–४८१ आदि गाथाओंका अर्थ देखनेसे ध्यानमें आ सकेगा। मेरा विश्वास है, कि अब आर्थिक अशुद्धियोंकी शिकायत प्रायः नहीं रहेगी। फिरभी अज्ञान तथा दृष्टिदोषसे कोई अशुद्धि रह गई हों, तो पाठकोंसे प्रार्थना है, कि वे उसकी सूचना देनेकी कृपा करें, जिससे कि अन्य संस्करणके समय उसके भी दूर करनेका प्रयत्न किया जाय।

मुझसे संशोधन कराकर द्वितीय संस्करणको मुद्रित कराकर इस शास्त्रमालाके अधिकारी ऑ. व्य. शा. रेवाशंकर जगजीवनजी झवेरी और श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलने जो सर्वसाधारण और विद्यार्थियोंको लाभ पहुंचाया है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

एतमादपुर (आगरा)
ता० १२–४–२८

खूबचन्द उदयराज जैन

गोम्मटसार–कर्मकाण्डकी विषयसूची

सत्त्वस्थानभंगाधिकार ३

त्रिचूलिका अधिकार ४

स्थानसमुत्कीर्तनाधिकार ५

गोम्मटसार ग्रंथमें उपयोगी अलौकिक गणितकी कुछ संज्ञाओंका खुलासा ।
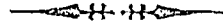
अलौकिक गणितके मुख्य दो भेद हैं, एक संख्यामान और दूसरा उपमामान । संख्यामानके मूल ३ भेद हैं ।—१ संख्यात २ असंख्यात और ३ अनन्त । असंख्यातके ३ भेद हैं—१ परीतासंख्यात २ युक्तासंख्यात और ३ असंख्यातासंख्यात । अनंतके भी ३ भेद हैं—१ परीतानन्त, २ युक्तानन्त, और ३ अनन्तानन्त । संख्यातका एक भेद ही है । इसप्रकार संख्यातका १ भेद, असंख्यात और अनन्तके तीन तीन भेद, सव मिलकर संख्यामानके ७ भेद हुए । इन सातोंमेंसे प्रत्येक (हरएक) के जघन्य (सवसे छोटे) मध्यम (वीचके) और उत्कृष्ट (सवसे वड़े) की अपेक्षासे तीन तीन भेद हैं । इसतरह संख्यामानके २१ भेद हुए ।

एकमें एकका भाग देनेसे अथवा एकको एकसे गुणाकार करनेसे कुछ भी हानि वृद्धि नहीं होती । इसलिये संख्याका प्रारम्भ दोके अंकसे ग्रहण किया है । और एक को गणना (गिनती) शब्दका वाच्य (कहनेवाला) माना है, इसलिये जघन्य संख्यातका प्रमाण दो (२) है । तीन चार पांच इत्यादि एक कम उत्कृष्ट संख्यातपर्यंत मध्यम संख्यातके भेद हैं । एक कम जघन्यपरीतासंख्यातको उत्कृष्टसंख्यात कहते हैं । अव आगे जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण कितना है सो लिखते हैं । अलौकिक गणितका स्वरूप लौकिक गणितसे कुछ विलक्षण है । लौकिक गणितसे स्थूल और स्वल्प (थोड़े) पदार्थोंका परिमाण किया जाता है, किन्तु अलौकिकगणितसे सूक्ष्म और अनन्त पदार्थोंकी हीनाधिकताका वोध कराया जाता है ।

हमारे वहुतसे संकीर्ण (संकुचित वा गंभीरतारहित) हृदयवाले भाई अलौकिक गणितका स्वरूप सुनकर चकित हो जाते हैं और कुछ अपरिमितसंख्याको तथा अनन्त वस्तु कोई है, इस वातको मानते हुए भी कहते हैं, कि ऐसा गणित हो ही नहीं सकता, परन्तु उनके ऐसे कहनेसे कुछ उस गणितका अभाव नहीं हो जायगा । एक तो यह विचारनेकी वात है, कि संख्या १ से १०० तक एक एक अधिक होती हुई क्रमसे पहुँचती है, न कि १ के वाद ५० या १०० हो जावें, इस नियमसे दो संख्यासे लेकर अनन्ततक भी क्रमकरके पहुँचेगी ही । दूसरी वात यह है, कि संसारमें एक दन्तकथा प्रसिद्ध है कि, एक समय सरोवरका रहनेवाला एक हंस एक कुएके पास गया, वहांपर कुएके मेंढकने हंसका स्वागत करके ऊंचा आसन देकर प्रसंगवश पूछा कि क्योंजी आपका सरोवर कितना वड़ा है ? हंसने जवाव दिया कि वहुत वड़ा है । तव मेंढकने हाथ वगैरः अंग क्रमसे लम्वे करके कहा कि क्या इतना वड़ा है ? राजहंसने कहा कि नहीं नहीं ! इससे भी वहुत वड़ा है । तव मेंढकने सव शरीर लम्वा किया तथा कुएके एक तटसे सामनेके दूसरे तटपर उछलकर कहा तो क्या इससे भी वड़ा है ? हंसने कहा भाई ! इससे भी वहुत वड़ा है । तव मेंढकने (झुंझलाकर) कहा वस ! तुम वड़े झूठे हो ! इससे वड़ा हो ही नहीं सकता, सव कहने सुननेकी वात हैं सच्ची नहीं है । ऐसा प्रत्युत्तर मिलनेपर वह हंस मेंढकको मूर्ख समझकर चुप हो गया और उड़कर अपने स्थानको चला गया । इस दंतकथाके ऊपर एक कविने भी ऐसा दोहा कहा है—"हाथ पसारे पाँव पसारे, और पसारो गात । यातें वड़ो समुद्र है तो कहन सुननकी वात ॥" इस प्रकार कुएके मेंढककी तरह जो महाशय संकीर्णवुद्धिवाले हैं, उनकी समझमें अलौकिक गणितका स्वरूप प्रवेश नहीं कर सकता । किन्तु जिनकी वुद्धि गौरवयुक्त है,वे अच्छी तरह समझ सकते हैं ॥

जघन्य[१] परीतासंख्यातका स्वरूप समझनेके लिये जो उपाय लिखा जाता है, वह किसीने किया नहीं था और न किया जा सकता है किंतु वड़े गणितका परिमाण समझानेके लिये एक कल्पित उपायमात्र है ।

१. यद्यपि इसका पूर्वार्द्ध जीवकांड भी संक्षिप्त भाषाटीकासहित रायचन्द्र शास्त्रमाला द्वारा मुद्रित हो चुका है उसके तीसरे अधिकारमें सव उपयोगी गणितका स्वरूप अच्छी तरह दिखलाया है । परन्तु अभी स्वाध्याय करनेके लिये थोड़ी संख्याओंका खुलासा यहांपर किया जाता है । यह गणितका भाग श्रीमद्गुरुवर्य स्याद्वादवारिधि विद्वच्छिरोमणि पं० गोपालदासजी वरैयाकृत जैनसिद्धांतदर्पणसे उद्धृत किया गया है ।

कल्पना कीजिये कि अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका नामके चार गोल कुण्ड हैं। जिनमेंसे प्रत्येकका व्यास (गोलपदार्थके एकतटसे दूसरे तटतककी चौड़ाई) एक लक्ष योजन (योजनका प्रमाण यहां दो हजार कोसका समझना) और गहराई (ओंडाई) का प्रमाण एक हजार योजन है। इनमेंसे अनवस्था कुण्डको गोल सरसोंसे शिखाऊ (पृथ्वीपर अन्नकी राशिकी तरह) भरना। गणितशास्त्रके अनुसार इस अनवस्थाकुण्डमें १९९७११२९३८४५१३१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६ $\frac{४}{११}$ छियालीस अंक प्रमाण सरसों समाई। किंतु यहां अपूर्णांकका ग्रहण नहीं करना।

इस अनवस्था कुण्डके भरनेपर दूसरी एक सरसों अनवस्थाकुण्डोंकी गिनती करनेके लिये शलकाकुण्डमें डालनी। मध्यलोकमें असंख्यात द्वीपसमुद्र हैं, जिनमें सबके बीचमें जम्बूद्वीप है। इसका व्यास एकलक्ष योजन है, उसके चारों तरफ लवण समुद्र है। उसको चारों तरफसे घेरकर धातकीखंड द्वीप है। इसप्रकार द्वीपके आगे समुद्र और समुद्रके आगे द्वीपके क्रमसे असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। चौड़ाई दूनी दूनी होती गई है। किसी द्वीप वा समुद्रकी परिधि (गोलाई) के एकतटसे दूसरे तटतककी चौड़ाईको सूची कहते हैं। जैसे लवणसमुद्रकी सूची ५ लाख योजन है।

अब अनवस्थाकुण्डमेंसे समस्त सरसोंको निकालकर देव या विद्याधरकी सहायतासे एक द्वीपमें एक समुद्रमें अनुक्रमसे डालते चलिये। जिस द्वीप वा समुद्रमें सब सरसों पूर्णकर अन्तकी सरसों डालो, उसी द्वीप वा समुद्रकी सूचीके समान सूचीवाला और १००० योजन गहराईवाला दूसरा अनवस्थाकुण्ड बनाइये। और उसको भी सरसोंसे शिखाऊ भर एक दूसरी सरसों शलाकाकुण्डमें डालिये। इस दूसरे अनवस्थाकुण्डकी सरसोंको भी निकालकर जिस द्वीप वा समुद्रमें पहले समाप्ति हुई थी, उसके आगे एक सरसों द्वीपमें और एक समुद्रमें डालते चलिये। जहां ये सरसों भी समाप्त हो जांय वहां उसी द्वीप वा समुद्रकी सूचीप्रमाण चौड़ा और १००० योजन गहरा तीसरा अनवस्थाकुण्ड बनाकर उसे सरसोंसे शिखाऊ भरिये और शलाका कुण्डमें तीसरी सरसों डालिये। इस तीसरे कुण्डकी भी सरसों निकालकर आगेके द्वीप समुद्रमें एक एक डालते डालते जब सब सरसों समाप्त हो जांय तब पूर्वोक्तानुसार चौथा अनवस्था कुण्ड भरकर चौथी सरसों शलाकाकुण्डमें डालिये। इसीप्रकार एक एक अनवस्थाकुण्डकी एक एक सरसों शलाकाकुण्डमें डालते डालते जब शलाकाकुण्ड भी शिखाऊ भर जाय, तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डालिये। इसीतरह एक एक अनवस्थाकुण्डकी एक एक सरसों शलाकाकुण्डमें डालते डालते जब दूसरी बार भी शलाकाकुण्ड भर जाय तो दूसरी सरसों प्रतिशलाकाकुण्डमें डालिये। एक एक अनवस्थाकुण्डकी एक एक सरसों शालकाकुण्डमें और एक एक शलाकाकुण्ड की एक एक सरसों प्रतिशलाकाकुण्डमें डालते डालते जब प्रतिशलाका कुण्ड भी भरजाय, तब एक सरसों महाशलाकाकुण्डमें डालिये। जिसक्रमसे एक बार प्रतिशलाका कुण्ड भरा है, उसी क्रमसे दूसरी बार भरनेपर दूसरी सरसों महाशलाकाकुण्डमें डालिये। इसीतरह एक एक प्रतिशलाका कुण्डकी सरसों महाशलाकाकुण्डमें डालते डालते जब महाशलाकाकुण्ड भी भरजाय उस समय सबसे बड़े अन्तके अनवस्थाकुण्डमें जितनी सरसों समाई, उतना ही जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण है। संख्यामानके मूलभेद सात कहे थे, और इन सातोंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टकी अपेक्षासे २१ भेद कहे थे। यहांपर आगेके मूलभेदके जघन्यभेदमेंसे एक घटानेसे पिछले मूलभेदका उत्कृष्टभेद होता है। जैसे जघन्य परीतासंख्यातमेंसे एक घटानेसे उत्कृष्ट-संख्यात तथा जघन्ययुक्तासंख्यातमेंसे एक घटानेसे उत्कृष्ट परीतासंख्यात होता है। इसी प्रकार अन्यजगह भी जानना। जघन्य और उत्कृष्ट भेदोंके बीचके सब भेद मध्यम भेद कहलाते हैं। इस प्रकार मध्यम और उत्कृष्टके स्वरूप जघन्यके स्वरूप जाननेसे ही मालूम हो सकते हैं। इसलिये अब आगे जघन्य भेदोंका ही स्वरूप लिखा जाता है। जघन्यसंख्यात और जघन्यपरीतासंख्यातका स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है। अब आगे जघन्ययुक्तासंख्यातका प्रमाण लिखते हैं—

जघन्य परीतासंख्यातप्रमाण दो राशि लिखना। एक विरलनराशि और दूसरी देय राशि। विरलनरा-शिका विरलन करना अर्थात् विरलनराशिका जितना प्रमाण है, उतने एके लिखना और प्रत्येक एकेके

ऊपर एक एक देयराशि रखकर समस्त देयराशियोंका परस्पर गुणन करनेसे जो गुणनफल हो उतना ही जघन्ययुक्तासंख्यातका प्रमाण है । **भावार्थ**—यदि जघन्यपरीतासंख्यातका प्रमाण चार ४ माना जाय तो चारका विरलनकर १ १ १ १ प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि चार चार रखकर ४४४४ चारों चौकोंका परस्पर गुणनकरनेसे गुणनफल २५६ जघन्ययुक्तासंख्यातका प्रमाण होगा । इस ही जघन्ययुक्तासंख्यातको **आवली** भी कहते हैं, क्योंकि एक आवलीमें जघन्ययुक्तासंख्यातप्रमाण समय होते हैं । जघन्ययुक्तासंख्यातके वर्ग (एक राशिको उसहीसे गुणाकार करनेसे जो गुणनफल होता है, उसको **वर्ग** कहते हैं, जैसे पाँचका वर्ग पच्चीस है) को **जघन्यअसंख्यातासंख्यात** कहते हैं । अब आगे जघन्यपरीतानंतका प्रमाण कहते हैं—

जघन्यअसंख्यातासंख्यात प्रमाण तीन राशि अर्थात् १ विरलन २ देय ३ शलाका लिखना । विरलनराशिका विरलनकर प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि रखकर समस्त देयराशियोंका परस्पर गुणाकार करना, और शलाका राशिमेंसे एक घटाना । इस पाये हुये गुणनफलप्रमाण भी एक विरलन और एक देय इसप्रकार दो राशि करना । विरलन राशिका विरलनकर प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि रखकर समस्त देयराशियोंका परस्पर गुणाकार करना और शलाका राशिमेंसे एक और घटाना । इस दूसरी बार पाये हुए गुणनफलप्रमाण पुनः विरलन और देयराशि करना, और पूर्वोक्तानुसार समस्त देयराशियोंका परस्पर गुणाकार करना तथा शलाका राशिमेंसे एक और घटना, इस ही अनुक्रमसे नवीन नवीन गुणनफलप्रमाण विरलन और देयके क्रमसे एक एक वार देयराशियोंका गुणाकार होनेपर शलाका राशिमेंसे एक एक घटाते घटाते जब शलाकाराशि समाप्त होजाय उससमय जो अंतिम गुणनफलरूप महाराशि होय उसप्रमाण फिर विरलन–देय–शलाका ये तीन राशि लिखनी । विरलनराशिका विरलनकर प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि रख देयराशिका परस्पर गुणाकार करते करते पूर्वोक्त क्रमानुसार एक वार देयराशियोंका गुणाकार होनेपर शलाकाराशिमेंसे एक एक घटाते घटाते जब यह द्वितीय वार स्थापन की हुई शलाका राशि भी समाप्त होजाय, उससमय इस अन्तकी गुणनफलरूप महाराशिप्रमाण पुनः विरलन–देय–शलाका, ये तीन राशि लिखनी । पूर्वोक्त क्रमानुसार जब यह तीसरी वार स्थापना की हुई शलाका राशि भी समाप्त हो जाय, उस समय यह अंतिम गुणनफलरूप जो महाराशि हुई, वह असंख्यातासंख्यातका एक मध्यम भेद है ।

कथित क्रमानुसार तीन वार तीन तीन राशियोंके गुणनविधानको **शलाकात्रयनिष्ठापन** कहते हैं । आगे भी जहाँ "शलाकात्रयनिष्ठापन" ऐसा पद आवे वहाँ ऐसा ही विधान समझ लेना । इस महाराशिमें लोक[1]प्रमाण धर्मद्रव्यके प्रदेश, लोकप्रमाण अधर्मद्रव्यके प्रदेश, लोकप्रमाण एक जीवके प्रदेश, लोकप्रमाण लोकाकाशके प्रदेश, लोकसे असंख्यातगुणा अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंका प्रमाण, और उससे भी असंख्यातलोकगुणा तथापि सामान्यपनेसे असंख्यातलोकप्रमाण प्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीवोंका प्रमाण— ये छह राशि मिलाना । पुनः इस योगफलप्रमाण विरलन–देय–शलाका, ये तीन राशि स्थापनकर पूर्वोक्तानुसार शलाकात्रयनिष्ठापन करना । इसप्रकार करनेसे जो महाराशि उत्पन्न हो, उसमें बीसकोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण कल्पकालके समय, असंख्यातलोकप्रमाण स्थितिबन्धाध्यावसायस्थान (स्थितिबन्धको कारणभूत आत्माके परिणाम), इनसे भी असंख्यातगुणे तथापि असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, और इनसे भी असंख्यातगुणे तथापि असंख्यातलोकप्रमाण मन वचन काय योगोंके अविभाग प्रतिच्छेद (गुणोंके अंश), ये चार राशि मिलाना । इस दूसरे योगफलप्रमाण फिर विरलन–देय–शलाका ये तीन राशि स्थापन करना और पूर्वोक्त क्रमानुसार शलाकात्रयनिष्ठापन करना । इसप्रकार शलाकात्रयनिष्ठापन करनेसे जो राशि उत्पन्न हो, उसको **जघन्यपरीतानन्त** कहते हैं । जघन्यपरीतानन्तका विरलनकर प्रत्येक एकके ऊपर जघन्यपरीतानंत रख सब जघन्यपरीतानन्तोंका परस्पर गुणाकार करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसको **जघन्ययुक्तानंत** कहते हैं । अभव्य जीवोंका प्रमाण जघन्ययुक्तानंतके समान है । जघन्ययुक्तानंतके वर्गको **जघन्यअनंतानंत** कहते हैं ।

---

१ लोकका प्रमाण उपमामानके कथनमें कहा जायगा ।

अव आगे केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंके प्रमाणस्वरूप उत्कृष्ट अनंतानंतका स्वरूप कहते हैं—जघन्य-अनंतानंतप्रमाण विरलन–देय–शलाका, ये तीन राशि स्थापन कर शलाकात्रयनिष्ठापन करना । इसप्रकार शलाकात्रयनिष्ठापन करनेसे जो महाराशि उत्पन्न हो, वह अनंतानंतका एक मध्यमभेद है । [अनन्तके दूसरे दो भेद हैं, एक सक्षयअनंत और दूसरा अक्षय अनंत । यहांतक जो संख्या हुई वह सक्षयअनन्त है । इससे आगे अक्षयअनन्तके भेद हैं, क्योंकि इस महाराशिमें आगे छह राशि अक्षय अनन्त मिलाई जाती हैं । नवीन वृद्धि न होनेपर भी खर्च करते करते जिस राशिका अन्त नहीं आवे, उसको अक्षयअनन्त कहते हैं] इस महाराशिमें जीवराशिके अनन्तवें भाग सिद्धराशि, सिद्धराशिसे अनन्तगुणी निगोदराशि, वनस्पतिकायराशि, जीवराशिसे अनन्तगुणी पुद्गलराशि, पुद्गलसे भी अनन्तगुणे तीनकालके समय और अलोकाकाशके प्रदेश ये छहराशि मिलानेसे जो योगफल हो, उसप्रमाण विरलन–देय–शलाका, ये तीन राशि स्थापनकर शलाकात्रय निष्ठापन करना । इसप्रकार शलाकात्रय निष्ठापन करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके अगुरुलघुगुणके अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद मिलाकर योगफलप्रमाण विरलन–देय–शलाका, स्थापनकर फिर शलाकात्रयनिष्ठापन करना । इसप्रकार शलाकात्रयनिष्ठापन करनेसे मध्यम अनन्तानन्तका भेदरूद जो महाराशि उत्पन्न हुई, उसको केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंके समूहरूप राशिमेंसे घटाना और जो शेष वचे उसमें पुनः वही महाराशि मिलाना तव केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंका प्रमाणस्वरूप उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है । उक्त महाराशिको केवलज्ञानमेंसे घटाकर फिर मिलानेका अभिप्राय यह है कि, केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंका प्रमाण उक्त महाराशिसे वहुत वड़ा है । उस महाराशिको किसी दूसरी राशिसे गुणाकार करनेपर भी केवलज्ञानके प्रमाणसे बहुत कमती रहता है । इसलिये केवलज्ञानके अविभाग-प्रतिच्छेदोंके प्रमाणका महत्त्व दिखलानेके लिये उपर्युक्त विधान किया है । इस प्रकार संख्यामानके २१ भेदोंका कथन समाप्त हुआ ।

अव आगे उपमामानके आठ भेदोंका स्वरूप लिखते हैं—जो प्रमाण किसी पदार्थकी उपमा देकर कहा जाता है, उसे उपमामान कहते हैं । उपमामानके ८ भेद हैं १ पल्य (यहाँ पल्य अर्थात् अनाज भरने-की जो खास उसकी उपमा है) २ सागर (यहाँ लवण समुद्रकी उपमा है) ३ सूच्यंगुल ४ प्रतरांगुल ५ घनांगुल ६ जगच्छ्रेणी ७ जगत्प्रतर और ८ लोक । इनमेंसे पल्यके ३ भेद हैं—१ व्यवहारपल्य २ उद्धार-पल्य और ३ अद्धापल्य । व्यवहारपल्यका स्वरूप पूर्वाचार्योंने इसप्रकार कहा है, उसीको दिखलाते हैं—पुद्गलद्रव्यके सवसे छोटे खंडको (टुकड़ेको) परमाणु कहते हैं, अनन्तानन्त परमाणुओंके स्कन्धको (समूहरूप पिंडको) 'अवसन्नासन्न' कहते हैं, ८ अवसन्नासन्नका एक 'सन्नासन्न,' ८ सन्नासन्नका एक 'तृटरेणु,' ८ तृट-रेणुका एक 'त्रसरेणु,' ८ त्रसरेणुका एक 'रथरेणु,' ८ रथरेणुका एक 'उत्तम भोगभूमिवालोंका वालाग्र भाग,' ८ उत्तम भोगभूमिवालोंके वालाग्रका एक 'मध्यमभोगभूमिवालोंका वालाग्र,' ८ मध्यम भोगभूमिवा-लोंके वालाग्रका एक 'जघन्यभोगभूमिवालोंका वालाग्र,' ८ जघन्य भोगभूमिवालोंके वालाग्रका एक कर्म-भूमिवालोंका वालाग्र,' ८ कर्मभूमिवालोंके वालाग्रकी एक 'लीख,' ८ लीखोंकी एक सरसों,' ८ सरसोंका एक 'जौ,' और ८ जौका एक 'अंगुल' होता है । इस अंगुलको 'उत्सेधांगुल' कहते हैं । चारों गतियोंके जीवोंके शरीर और देवोंके नगर तथा मंदिरादिकका परिमाण इसी अंगुलसे वर्णन किया जाता है । इस उत्से-धांगुलसे पांचसौ गुणा प्रमाणांगुल (भरतक्षेत्रके अवसर्पिणीकालके प्रथम चक्रवर्तीका अंगुल) होता है । इस प्रमाणांगुलसे महापर्वत नदी द्वीप समुद्र इत्यादिकका परिमाण कहा जाता है । भरत ऐरावत क्षेत्रके मनुष्योंका अपने अपने कालमें जो अंगुल है उसे 'आत्मांगुल' कहते हैं । इससे झारी कलश धनुप ढोल हल मूशल छत्र चमर इत्यादिकका प्रमाण वर्णन किया जाता है । ६ अंगुलका एक 'पाद,' २ पादका एक 'विलस्त,' २ विलस्तका एक 'हाथ,' ४ हाथका एक 'धनुप,' २००० धनुपका एक 'कोश,' और ४ कोशका एक योजन होता है । प्रमाणांगुलसे निष्पन्न एक योजन प्रमाण गहरा और एक योजनप्रमाण व्यासवाला एक गोल गर्त—गढा वनाना, उस गर्तको उत्तम भोगभूमिवाले मेंढ़ेके वालोंके अग्रभागोंसे भरना ।

गणित करनेसे उस गर्तके रोमोंकी संख्या ४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००० हुई। इस गर्तके एक एक रोमको सौ सौ वर्ष पीछे निकालते निकालते जितने कालमें वे सब रोम समाप्त हो जाँय उतने कालको **व्यवहारपल्य**का काल कहते हैं। उपर्युक्त रोमसंख्याको १०० वर्षके समयसमूहसे गुणा करनेपर व्यवहार पल्यके समयोंका प्रमाण होता है। [एक वर्षके २ अयन, एक अयनकी ३ ऋतु, एक ऋतुके २ मास, एक मासके ३० अहोरात्र, १ अहोरात्रके ३० मुहूर्त, एक मुहूर्तकी संख्यात आवली, और एक आवलीके जघन्ययुक्तासंख्यातप्रमाण समय होते हैं।] व्यवहारपल्यके एक एक रोमखंडके असंख्यात कोटिवर्षके समयसमूहप्रमाण खण्ड करनेसे उद्धारपल्यके रोमखण्डोंका प्रमाण होता है। जितने उद्धारपल्यके रोमखण्ड हैं, उतने ही **उद्धारपल्यके** समय जानने। एककोटिके वर्गको 'कोड़ाकोड़ी' कहते हैं। द्वीप समुद्रोंकी संख्या उद्धारपल्यसे हैं, अर्थात् उद्धारपल्यके समयोंको २५ कोड़ाकोड़िसे गुणा करनेसे जो गुणनफल होता है उतने ही सब द्वीपसमुद्र हैं। उद्धारपल्यके प्रत्येक रोमखण्डके असंख्यातवर्षके समयसमूहप्रमाण खण्ड करनेसे अद्धापल्यके रोमखण्ड होते हैं। जितने अद्धापल्यके रोमखण्ड हैं, उतने ही **अद्धापल्यके** समय हैं। कर्मोंकी स्थिति अद्धापल्यसे वर्णन की गई है। पल्यको दस कोड़ाकोड़िसे गुणा करनेपर 'सागर' होता है, अर्थात् दस कोड़ाकोड़ी व्यवहारपल्यका एक 'व्यवहारसागर,' दस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्यका एक 'उद्धारसागर' और दस कोड़ाकोड़ि अद्धापल्यका एक अद्धासागर होता है। किसी राशिको जितनी वार आधा आधा करनेसे एक शेष रहे उसको **अर्द्धच्छेद** कहते हैं, जैसे चारको दो वार आधा आधा करनेसे एक होता है, इसलिये चारके अर्द्धच्छेद दो हैं। आठके तीन और सोलहके अर्द्धच्छेद ४ हैं। इस ही प्रकार सर्वत्र लगा लेना। अद्धापल्यकी अर्द्धच्छेदराशिका विरलनकर प्रत्येक एकके ऊपर अद्धापल्य रखकर सब अद्धापल्योंका परस्पर गुणाकार करनेसे जो राशि उत्पन्न होवे, उसे **सूच्यंगुल** कहते हैं, अर्थात् एक प्रमाणांगुल लंबे और एक प्रदेश चौड़े ऊंचे आकाशमें इतने प्रदेश हैं। सूच्यंगुल वर्गको **प्रतरांगुल** और घन (एक राशिको तीन वार परस्पर गुणा करनेसे जो गुणनफल होय उसे 'घन' कहते हैं। जैसे दोका घन आठ और तीनका घन सत्ताईस है।) को **घनांगुल** कहते हैं। पल्यकी अर्द्धच्छेद राशिके असंख्यातवें भागका विरलनकर प्रत्येक एकके ऊपर घनांगुल रख समस्त घनांगुलोंका परस्पर गुणाकार करनेसे जो गुणनफल होय उसे **जगच्छ्रेणी** कहते हैं। जगच्छ्रेणीका सातवां भाग **राजू** कहा गया है अर्थात् ७ राजूकी एक जगच्छ्रेणी होती है। जगच्छ्रेणीके वर्गको **जगत्प्रतर** और जगच्छ्रेणीके घनको **लोक** कहते हैं। यही तीनलोकके आकाशप्रदेशोंकी संख्या है। इसप्रकार **उपमामानका** कथन समाप्त हुआ। यहांपर इतना और भी समझना, कि इस मानके भेदोंसे द्रव्य क्षेत्र काल और भावका परिमाण किया जाता है। **भावार्थ**—जहाँ द्रव्यका परिमाण कहा जाय वहाँ उतने जुदे जुदे पदार्थ जानना। जहाँ क्षेत्रका परिमाण कहा जाय वहाँ उतने प्रदेश जानने। जहां कालका परिमाण कहा जाय वहां उतने समय जानने। और जहां भावका परिमाण कहा जाय वहाँ उतने अविभागप्रतिच्छेद जानने।

इति अलौकिक गणितका संक्षेपकथन समाप्त हुआ।

कर्मबन्धादि यन्त्र (१)

इस यन्त्र द्वारा श्रीगोम्मटसारके कर्मकाण्ड सम्बन्धी कर्मप्रकृतियोंके वन्ध उदय सत्ताका गुणस्थान क्रमसे निर्णय होता है

गुणस्थान संख्या	गुणस्थानका नाम	बंधसंख्या. (२)	बंधव्युच्छित्ति संख्या (३)	उदय संख्या.	उदयव्युच्छित्ति संख्या	सत्ता संख्या.	सत्ताव्युच्छित्ति संख्या
प्रथम	मिथ्यात्व	११७ (४)	१६ (८)	११७ (१८)	५ (२४)	१४८	०
द्वितीय	सासादन०	१०१	२५ (९)	१११ (१९)	९ (२५)	१४५ (३८)	०
तृतीय	सम्यग्मि०	७४ (५)	०	१०० (२०)	१ (२६)	१४७ (३९)	०
चतुर्थ	अविरतस.	७७ (६)	१० (१०)	१०४ (२१)	१७ (२७)	१४८ (४०)	१
पञ्चम	देशविरत.	६७	४ (११)	८७	८ (२८)	१४७ (४१)	१
षष्ठ	प्रमत्तसंयत.	६३	६ (१२)	८१ (२२)	५ (२९)	१४६ (४२)	०
सप्तम	अप्रमत्तसं.	५९ (७)	१ (१३)	७६	४ (३०)	१४६ (४३)	४
अष्टम	अपूर्वकरण	५८	३६ (१४)	७२	६ (३१)	१४२ (४४)	०
नवम	अनिवृत्ति.	२२	५ (१५)	६६	६ (३२)	१४२ (४५)	०
दशम	सूक्ष्मसां.	१७	१६ (१६)	६०	१ (३३)	१४२ (४६)	०
एकादश	उपशान्त.	१	०	५९	२ (३४)	१४२ (४७)	०
द्वादश	क्षीणकषाय	१	०	५७	१६ (३५)	१०१ (४८)	१६
त्रयोदश	सयोगकेवली.	१	१ (१७)	४२ (२३)	३० (३६)	८५ (४९)	०
चतुर्दश	अयोगके.	०	०	१२	१२ (३७)	८५ (५०)	८५

१ जहांपर दोनों तरफसे अर्धचन्द्राकारका घेरा देकर जो संख्या लिखी है, उस संख्याके क्रमसे उस स्थानका खुलासा इस यन्त्रके नीचे टिप्पणीमें लिखा गया है। सब प्रकृतियोंका अर्थ और नम्बर १६ वें पृष्ठसे लेकर २२ वें तक लिखा हुआ है सो देख लेना।

२ जो अभेदभावसे १२२ उत्तरप्रकृति मानी गई हैं, उनमेंसे भी १८ वीं तथा १९ वीं संख्यावाली दो प्रकृति बंधके प्रसंगमें घट जाती हैं, क्योंकि, बंधके समय दर्शनमोहनीय एक मिथ्यात्वरूप ही रहता है। उदय १२२ का होता है, और सत्ताकी अपेक्षा १४८ ही हैं। किसी कर्मका बंध उदय सत्त्व तो किसी गुणस्थानमें जो नहीं होता सो योग्यता न रहनेसे, और किसीका पूर्व गुणस्थानमें व्युच्छित्ति हो जानेसे बंध उदय अथवा सत्त्व नहीं रहता। जैसे प्रथम गुणस्थानमें तीर्थंकरप्रकृति तथा आहारक शरीर आहारक आंगोपांगकी योग्यता नहीं रहनेसे वहांपर बंध नहीं होता है।

३ व्युच्छित्ति जिस कर्मकी जिस गुणस्थानमें कही हो, वहांतक ही उस कर्मका बंधादि होता है, उसके ऊपर नहीं होता, इसलिए फिर ऊपर उनकी संख्या घटा देनी चाहिये।

४ नं० ६०–८१ = १३१ वीं तीनों संख्यावाली ३ प्रकृति बँधनेकी यहां योग्यता नहीं है। ९२-९३ गाथामें।

५ इस गुणस्थानमें प्रथम नरक, तिर्यगायुकी व्युच्छित्ति भी हो चुकी है, तथा इस गुणस्थानमें किसी आयुका बंध होता भी नहीं, इसलिए बाकीकी दो आयु और भी घट जानेसे बंध योग्य ७४ ही रहती हैं। ९४ गाथामें।

६ तीसरे गुणस्थानमें जो विना व्युच्छित्ति भी दो आयु बंधकी योग्यताके अभाव होनेसे घटाई थीं, वे दो तथा एक तीर्थंकर इन तीनोंका बंध यहांसे होनेसे ३ संख्या ७४ में बढ़ जाती है।

७ नं० ६०–८१ वाली दो प्रकृतियोंका यहां ही बंध होनेसे दोकी संख्या ५७ में और बढ़ जाती है।

८ नं० १७–४४–४५–४९–७८–८७–१०८–५३–५४–५५–५६–१३२–१३३–१३५–१३४–११६ वाली सोलहोंकी यहां व्युच्छित्ति है। ९५ गाथामें।

९ नं. २०–२१–२२–२३–११–१२–१०–४२–४६–१४३–१३८–१३९–१४०–७४–७५–७६–७७–८३–८४–८५–८६–११६–११७–५०–१०९ वीं संख्यावाली पचीस प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति यहाँ होती है। ९६ गाथामें।

१० नं. २४–२५–२६–२७–४७–५१–५८–७९–८२–११० इन दशकी यहाँ व्युच्छित्ति है। ९० गाथामें।

११ नं. २८–२९–३०–३१ वीं ये चार यहां व्युच्छिन्न होती हैं। ९७ गाथामें।

१२ नं. १६–३८–३९-१३६-१३७–१४१ वीं छहोंकी यहां व्युच्छित्ति है। ९८ गाथामें।

१३ नं. ४८ वीं १ की यहाँ व्युच्छिंत्ति है। ९८ गाथामें।

१४ नं. १३–१४–३६–३७–४८–४१–१३१–१३०–११८–५७–६१–६२–६०–८१–५९–८०–७३–५२–१११–१०० आदि–९५ आदि–९३ आदि–८८ आदि–११२–११३–११४–११५–१२०–१२१–१२२–१२३–१२४–१२५–१२६–१२७–१२८ वाली छत्तीसोंकी व्युच्छित्ति यहां होती है। ९९–१०० गाथामें।

१५ नं. ३२–३३–३४–३५–४३ वाली पाँचोंकी व्युच्छित्ति यहां होती है। १०१ गाथामें।

१६ नं. १२३४५६७८९–१४२–१४४–१४५–१४६–१४७–१४८–१२९ वाली सोलहोंकी व्युच्छित्ति यहाँ होती है। १०१ गाथामें।

१७ नं. १५ वीं एक प्रकृति यहाँ व्युच्छिन्न होती है। १०२ गाथामें।

१८ नं. १८–१९–६०–८१–१३१ वाली पांचोंके उदयकी यहां योग्यता नहीं होनेसे १२२ में घट जाती हैं।

१९ प्रथम गुणस्थान में पांचकी व्युच्छित्ति होनेसे तथा १०८ वीं की योग्यता न होनेसे यहाँ १११ का उदय है। २६३ गाथामें।

२० दूसरे गुणस्थानमें १११ का उदय था। उनमेंसे ९ की वहां ही व्युच्छित्ति हो चुकी, सो ९ के घटानेसे तथा यद्यपि किसी भी आनुपूर्वीका यहां उदय नहीं है, परन्तु नारकानुपूर्वीकी व्युच्छित्ति पूर्वमें होनेसे नहीं गिननेपर भी तीन आनुपूर्वीके घटानेसे ९९ रही। ९९ में मिश्रका उदय होनेके कारण यहां बढ़ानेसे १०० का उदय होता है। २६३ गाथामें।

२१ नं. १०८--१०९–११०–१११ वीं चारों आनुपूर्वीकी तथा १८ वीं १ की यहां योग्यता होनेसे ५ बढ़ा देनेपर १०४ का उदय होता है। २६३ गाथामें।

२२ नं. ६०–८१ वीं दोकी पहिले योग्यता नहीं थी, किन्तु यहां ही है, इसलिए ८ घटनेपर भी दो बढ़ानेसे ८१ का उदय रहता है। २६३ गाथामें।

२३ उपर्युक्त १६ व्युच्छिन्नोंको ५७ मेंसे घटानेपर ४१ होनी चाहिये परन्तु जो १०७ वाली पहिले योग्यना न होनेसे उदय संख्यामेंसे घटा दी थी, उसकी यहां योग्यता होनेसे ४१ में बढ़ा दी जाती है। २६३ गाथामें।

२४ नं. १७–११६–१३५–१३३–१३४ वाली पांचोंकी यहाँ व्युच्छित्ति है। २६५ गाथामें।

२५ नं. २०–२१–२२–२३–५३–५४–५५–५६–१३२ वीं नौकी यहाँ व्युच्छित्ति है। २६५ गाथामें।

२६ नं. १९ वीं की व्युच्छित्ति यहां तीसरे गुणस्थानमें है। २६५ गाथामें।

२७ नं. २४–२५–२६–२७–४५–४८–४९–५२–५९–८०–१०८–१०९–११०–१११–१३८–१४०–१४१ वीं सत्रहोंकी यहां व्युच्छित्ति हैं। २६६ गाथा में।

२८ नं. २८–२९–३०–३१–४६–१४३–५०–११७ वीं आठोंकी यहाँ व्युच्छित्ति है। २६७ वें गाथामें।

२९ नं. ११–१२–१०–६०–८१ वीं संख्यावाली पांचोंकी यहां व्युच्छित्ति है। २६७ वें गाथामें।

३० नं. १८–८५–८६–८६ वीं संख्यावाली चारकी यहां व्युच्छित्ति होती है। २६८ वें गाथामें।

३१ नं. ३६–३७–३८–३९–४०–४१ वीं छहोंकी यहां व्युच्छित्ति होती है। २६८ वें गाथामें।

३२ नं. ३२–३३–३४–४२–४३–४४ वाली छहोंकी यहांपर व्युच्छित्ति होती है । २६६ वें गाथामें ।

३३ नं. ३५ वीं संख्यावाली प्रकृतिकी व्युच्छित्ति यहां पर हो जाती है । २६६ वें गाथामें ।

३४ नं. ८३–८४ वीं दोकी व्युच्छित्ति यहां होती है, अर्थात् यहांसे ऊपर उदय नहीं है । २६६ वें गाथामें ।

३५ नं. १–२–३–४–५–६–७–८–९–१३–१४–१४४–१४५–१४६–१४७–१४८ वीं सोलहकी यहां व्युच्छित्ति है । २७० वें गाथामें ।

३६ नं. १५ या १६ वीं एक तथा ५८–६१–६२–७९–११२–११३–११४–११५–११८–११९–१२३–७३–७४–७५–७६–७७–७८–८२–१२४–१२५–१२७–१३६–१३७–१३९–१३०–१००– आदि ९५– आदि ९३– आदि ८८ वीं आदि इन तीसोंकी यहां व्युच्छित्ति है । २७१ वें गाथामें ।

३७ नं. १५ या १६वीं मेंसे एक तथा ४७–१४२–५१–५७–१२०–१२१–१२२–१२६–१२८–१२९–१३१ वाली इन वारहोंकी यहां व्युच्छित्ति है । २७२ वें गाथामें ।

३८ इस गुणस्थानसे नं० ६०–८१–१३१ वीं तीनोंके सत्त्वकी योग्यता नहीं है । ३३३ वें गाथामें ।

३९ इसमें नं० १३१ वीं प्रकृतिकी सत्ता रचनेकी ही योग्यता नहीं है । ३३३ वें गाथामें ।

४० क्षायिक सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा तो १४१ की ही यहां सत्ता है, क्योंकि, नं० १७–१८–१९–२०–२१–२२–२३ वीं सातोंका क्षय हो चुका है । ३३५ वें गाथामें ।

४१ चौथेमें ४५ वीं प्रकृतिकी व्युच्छित्ति होनेसे यहां वह घट जाती है । ३३५ वें गाथामें ।

४२ पांचवेमें ४६ वीं की व्युच्छित्ति होनेसे वह यहां घट जाती है । ३३५ गाथामें ।

४३ यहां भी छठे गुणस्थानकीसी ही सत्ता है, परन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टिके ७ के घटनेसे १३९ का ही सत्त्व रहता है । ३३५ गाथामें ।

४४ सातवें में जिन १४६ का सत्त्व कहा है, उनमेंसे उपशमश्रेणी वाले भी यहांपर नं० २०–२१–२२–२३ वीं प्रकृतियोंको घटा देते हैं, किंतु क्षायिक सम्यग्दृष्टिके उपशमश्रेणी होनेपर नं० १७–१८–१९ वीं तीन प्रकृति भी घट जाती हैं, इसलिए सत्त्व १३९ का ही रहता है । और क्षपकश्रेणीवालेके तो सातवें गुणस्थानकी व्युच्छिन्न प्रकृति ७ (नं० १७–१८–१९–२०–२१–२२–२३) तथा ४८ वीं १ को १४६ मेंसे घटानेसे १३८ का ही सत्त्व रहता है । ३३६ वें गाथामें ।

४५ यहां पर भी आठवेंके समान ही व्यवस्था है । ३३६ वें गाथामें ।

४६ उपशमश्रेणीवाले उपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टिके आठवेंके समान ही यहां सत्त्व है । और क्षपकश्रेणीवालेके ३६ प्रकृतियोंकी (नं० ११–१२–१०–२४–२५–२६–२७–२८–२९–३०–३१–३२–३३–३४–३६–३७–३८–३९–४०–४२–४२–४३–४४–४९–५०–५३–५४–५५–५६–१०८–१०९–११६–११७–१३५–१३२–१३३ वीं) नवमेमें व्युच्छित्ति हो जानेसे (४४) वेमें उक्त १३८ प्रकृतियोंमेंसे ३६ घटा देनेपर १०२ का ही सत्त्व है । ३३६ वें गाथामें ।

४७ क्षायिकसम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणीवालेके दशवेमें संज्वलन लोभकी व्युच्छित्ति होनेसे १०१ का सत्त्व रहता है । शेष विचार पूर्वोक्त प्रमाण है । ३३७ वें गाथामें ।

४८ यहां भी उपशमश्रेणीके क्षायिकसम्यग्दृष्टिके ग्यारहवें गुणस्थानके समान १०१ का ही सत्त्व है । ३३७ वें गाथामें ।

४९ वारहवेमें नं० १–२–३–४–५–६–७–८–९–१३–१४–१४४–१४५–१४६–१४७–१४८ वीं संख्यावाली सोलह प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होनेसे १०१ मेंसे १६ घटा देनेपर ८५ का सत्त्व रह जाता है । ३३८–३३९ वें गाथामें ।

५० इसमें भी ८५ का ही सत्त्व हैं, किंतु इसके द्विचरम समयमें ७२ की व्युच्छित्ति और चरम (अन्तके) समयमें शेष १३ की व्युच्छित्ति होकर गुणस्थानातीत सिद्धपरमेष्ठी कर्ममल रहित हो जाते हैं । ३४०–३४१ वें गाथा में । इति ।

गोम्मटसारस्थ कर्मकाण्डके गाथाओंकी अकारादिक्रमसे सूची ।

[1] ग पुस्तकमें 'विसय' पाठ भी देखा था, इसलिये उसका अर्थ किया परंतु 'विस' पाठ होनेसे उसका अर्थ ऐसा होता है, कि विष आदि वस्तु श्रुतज्ञानावरण [illegible] नोकर्म द्रव्यकर्म है।

श्रीनेमिचन्द्राय नमः ।

अथ छायाभाषाटीकोपेतः

गोम्मटसारः ।

(कर्मकाण्डम्)

मङ्गलाचरण.

दोहा ।

परमभये सब खंडिकें, करमकांड समुदाय ।
सहज अखंडित ज्ञानमय, जयवंते जिनराय ॥ १ ॥

विघनहरन मंगलकरन, नमौं सिद्ध सुखकार ।
नेमिचंद्रजिन जगतपति, साधुवचनगुणधार ॥ २ ॥

जीवकांडकौं जानिकें ज्ञानकांडमय होइ ।
निजस्वरूपमें रमिरहैं शिवपद पावै सोइ ॥ ३ ॥[1]

गोम्मटसार अपर नाम पंचसंग्रहके पूर्वार्ध-जीवकाण्डमें जीव-अशुद्ध जीव द्रव्यका स्वरूप विस्तारसे कहा गया । अब उसके साथ अनादि कालसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मका कथन भी विस्तारसे करनेके लिये दूसरे कर्मकाण्ड महाअधिकारका आचार्य आरंभ करते हैं, और उसमें प्रथम अपने इष्ट देवको नमस्कार करते हुये जो कुछ कहना है उसकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

पणमिय सिरसा णेमिं गुणरयणविभूसणं महावीरं[2] ।
सम्मत्तरयणणिलयं पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं ॥ १ ॥

प्रणम्य शिरसा नेमिं गुणरत्नविभूषणं महावीरम् ।
सम्यक्त्वरत्ननिलयं प्रकृतिसमुत्कीर्तनं वक्ष्यामि ॥ १ ॥

अर्थ—मैं नेमिचन्द्र आचाय, ज्ञानादिगुणरूपी रत्नोंके आभूषणोंको धारण करनेवाले, मोक्षरूपी महालक्ष्मीको देनेवाले, सम्यक्त्वरूपीरत्नके स्थान ऐसे श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरको मस्तक नवा-प्रणाम

---

१. भाषाटीकाकार पं० टोडरमल्लजीका मंगलाचरण । २. इस गाथामें महावीरपदसे महावीर स्वामी-अंतिम तीर्थंकरको नमस्कार करना भी सूचित किया गया है । अतएव जब महावीरतीर्थंकरका अर्थ करना हो तब नेमिशब्दका अर्थ धर्मरूपी रथके चलनेमें कारणस्वरूप पहियेकी तरह, ऐसा करना चाहिये ।

कर, ज्ञानावरणादि कर्मोंकी मूल व उत्तर दोनों प्रकृतियोंके व्याख्यान करनेवाला प्रकृतिसमुत्कीर्तननामा अधिकार कहता हूँ ॥१॥

यहाँपर प्रकृति शब्दका अर्थ क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य कहते हैं;—

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो ।
कणयोबले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥२॥

प्रकृतिः शीलं स्वभावः जीवाङ्गयोरनादिसम्बन्धः ।
कनकोपले मलं वा तयोरस्तित्वं स्वयं सिद्धम् ॥२॥

अर्थ—कारणके विना वस्तुका जो सहज स्वभाव होता है उसको प्रकृति, शील अथवा स्वभाव कहते हैं । जैसे कि आगका स्वभाव ऊपरको जाना, पवनका तिरछा बहना और जलका स्वभाव नीचेको गमन करना है, इत्यादि । प्रकृतिमें यह स्वभाव जीव तथा अङ्ग[1] (कर्म) का ही लेना चाहिये । इन दोनोंमेंसे जीवका स्वभाव रागादिरूप परिणमने (होजाने) का है, और कर्मका स्वभाव रागादिरूप परिणमावनेका है । तथा यह दोनोंका संबंध, सुवर्ण पाषाणमें मिले हुए मल (मैल) की तरह अनादिकालसे है । और इसीलिये जीव तथा कर्मका अस्तित्व भी स्वयं-ईश्वरादि कर्ताके विनाही-अपने आप सिद्ध है ।

भावार्थ—जिस तरह भंग अथवा शराबका स्वभाव बावला कर देनेका और इसके पीनेवाले जीवका स्वभाव बावला होजानेका हैं, उसी तरह जीवका स्वभाव रागद्वेषादि कषायरूप होजानेका तथा कर्मका स्वभाव रागादिकषायस्वरूप परिणमादेनेका है । सो जबतक दोनोंका संबंध रहता है तभीतक विकाररूप परिणाम होता है । अन्तर इतना ही है कि जीव और कर्मका यह संबंध अभीका नहीं, अनादिकालका है । जैसे कि खानिसे निकला हुआ सोना अनादिकालसेही कीट कालिमारूप मैलसे मिलाहुआ रहता है, वैसे ही जीव और कर्मोंका अनादिकालसे स्वतः संबंध हो रहा है, किसीने इनका संबंध किया नहीं है । जीवका अस्तित्व तो "अहम्" (मैं) ऐसी प्रतीति होनेसे सिद्ध होता है; तथा कर्मका अस्तित्व, जगत्में कोई दरिद्री (भिखारी) है तो कोई धनवान्, इत्यादि विचित्रपना प्रत्यक्ष देखनेसे, सिद्ध होता है । इसकारण जीव और कर्म दोनोंही पदार्थ अनुभवसिद्ध हैं ॥ २ ॥

यह संसारीजीव कर्म और नोकर्म (कर्मके सहायक) का किसतरह अपने साथ संबंध करलेता है ? सो बताते हैं;—

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं ।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलं ॥ ३ ॥

---

१. कर्मके सम्बन्धसेही जीवके रागद्वेषरूप विपरिणाम होते हैं, स्वतः नहीं; इसलिये मुख्यतया कर्मको ही प्रकृति समझना चाहिये । २—कोई कोई ऐसा मानते हैं कि जीव पहलेसे शुद्ध है, कर्म उसके साथ पीछेसे लगते हैं । अर्थात् जीव और कर्मका सम्बन्ध सादि है । इस भ्रमके दूर करनेको सोनेमें मैलकी तरह आत्मा और कर्मका अनादि सम्बन्ध बताया है ।

देहोदयेन सहितो जीव आहरति कर्म नोकर्म ।
प्रतिसमयं सर्वाङ्गं तप्तायःपिंडमिव जलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यह जीव औदारिक आदि शरीरनामा कर्मके उदयसे योगसहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप होनेवाली कर्मवर्गणाओंको, तथा औदारिक आदि चार शरीर (औदारिक १, वैक्रियक २, आहारक ३, तैजस ४) रूप होनेवाली नोकर्मवर्गणाओंको हरसमय चारों तरफसे ग्रहण (अपने साथ संबद्ध) करता है । जैसे कि आगसे तपा हुआ लोहेका गोला पानीको सब ओरसे अपनी तरफ खींचता है ।

भावार्थ—जब यह शरीर सहित आत्मा मन वचन कायकी प्रवृत्ति करता है तभी इसके कर्मोंका बंध होता है । किंतु मन वचन कायकी क्रिया रोकनेसे कर्मबंध नहीं होता ॥ ३ ॥

यह जीव कर्म तथा नोकर्मरूप होनेवाले कितने पुद्गलपरमाणुओंको प्रतिसमय ग्रहण करता है, सो बताते हैं;—

सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव ।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं ॥४॥

सिद्धानन्तिमभागं अभव्यसिद्धादनन्तगुणमेव ।
समयप्रबद्धं बध्नाति योगवशात्तु विसदृशम् ॥४॥

अर्थ—यह आत्मा, सिद्धजीवराशिके जो कि अनन्तानन्तप्रमाण कही है अनंतवें भाग और अभव्यजीवराशि जो जघन्ययुक्तानंत प्रमाण है उससे अनंतगुणे समयप्रबद्धको अर्थात् एक समयमें बंधनेवाले परमाणुसमूहको बांधता है,—अपने साथ संबद्ध करता है । परंतु मन वचन कायकी प्रवृत्तिरूप योगोंकी विशेषतासे (कमती बढ़ती होनेसे) कभी थोड़े और कभी बहुत परमाणुओंका भी बंध करता है।

सारांश:—परिणामोंमें कषायकी अधिकता तथा मन्दता होनेपर आत्माके प्रदेश जब अधिक वा कम सकंप (चलायमान) होते हैं तब कर्मपरमाणु भी ज्यादा अथवा कम बंधते हैं । जैसे अधिक चिकनी दीवालपर धूलि अधिक लगती हैं और कम चिकनी पर कम ॥ ४ ॥

इस प्रकार कर्मपरमाणुओंके बंधका प्रमाण बताकर उनके उदय तथा सत्वका (मौजूद रहनेका) प्रमाण भी बताते हैं,—

जीरदि समयपबद्धं पओगदो णेगसमयबद्धं वा ।
गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं ॥ ५ ॥

जीर्यते समयप्रबद्धं प्रयोगतः अनेकसमयबद्धं वा ।
गुणहानीनां द्व्यर्द्धं समयप्रबद्धं भवेत् सत्त्वम् ॥५॥

अर्थ—एक एक समयमें कर्मपरमाणुओंका एक एक समयप्रबद्ध फल देकर खिर जाया करता है । परन्तु कदाचित् तपश्चरणरूप विशिष्ट अतिशयवाली क्रियाके होनेपर बंधेहुए अनेक समयप्रबद्ध भी

झड़ जाया करते हैं। फिर भी कुछ कम डेढ़ गुणहानिआयामसे गुणित समय प्रमाण समयप्रबद्ध सत्ता (वर्तमान) अवस्थामें रहा करते हैं। इसका विशेष कथन आगे चलकर कर्मकी अवस्थाके अधिकारमें कहेंगे। वहींपर गुणहानि आयाम वगैरहका भी खुलासा किया जायगा ॥ ५ ॥

अब कर्मके सामान्यसे भेद और प्रभेदोंको दो गाथाओंमें बताते हैं;—

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु ।
पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु ॥ ६ ॥

कर्मत्वेन एकं द्रव्यं भाव इति भवति द्विविधं तु ।
पुद्गलपिण्डो द्रव्यं तच्छक्तिः भावकर्म तु ॥ ६ ॥

अर्थ—सामान्यपनेसे कर्म एक ही है, उसमें भेद नहीं है। लेकिन द्रव्य तथा भावके भेदसे उसके दो प्रकार हैं। उसमें ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलद्रव्यका पिंड द्रव्यकर्म है, और उस द्रव्यपिंडमें फल देनेकी जो शक्ति वह भावकर्म है। अथवा कार्यमें कारणका व्यवहार होनेसे उस शक्तिसे उत्पन्न हुए जो अज्ञानादि वा क्रोधादिरूप परिणाम वे भी भावकर्म ही हैं ॥ ६ ॥

तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा ।
ताणं पुण घादित्ति अ-घादित्ति य होंति सण्णाओ ॥७॥

तत् पुनरष्टविधं वा अष्टचत्वारिंशच्छतमसंख्यलोकं वा ।
तेषां पुनः घातीति अघातीति च भवतः संज्ञे ॥ ७ ॥

अर्थ—वह कर्म सामान्यसे आठ प्रकारका है। अथवा एकसौ अड़तालीस या असंख्यात लोकप्रमाण भी उसके भेद होते हैं। उन आठ कर्मोंमें भी घातिया तथा अघातिया ये दो भेद हैं ॥ ७ ॥

अब उन आठ भेदोंके नाम तथा उनमें घातिया और अघातिया कौन कौन हैं, सो दो गाथाओंमें दिखाते हैं,—

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयमोहणियं ।
आउगणामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ ॥८॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य च आवरणं वेदनीयमोहनीयम् ।
आयुष्कनाम गोत्रान्तरायमिति अष्ट प्रकृतयः ॥ ८ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण १, दर्शनावरण २, वेदनीय ३, मोहनीय ४, आयु ५, नाम ६, गोत्र ७ और अन्तराय ८, ये आठ कर्मोंकी मूल प्रकृतियां (स्वभाव) हैं ॥ ८ ॥

आवरणमोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो ।
आउगणामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति ॥ ९ ॥

आवरणमोहविघ्नं घाति जीवगुणघातनत्वात्।
आयुष्कनाम गोत्रं वेदनीयं तथा अघातीति ॥९॥

अर्थ—ज्ञानावरण १, दर्शनावरण २, मोहनीय ३, अंतराय ४, ये चार घातियाकर्म हैं। क्योंकि जीवके अनुजीवी गुणोंको घातते (नष्ट करते) हैं। आयु १, नाम २, गोत्र ३ और वेदनीय ४, ये चार अघाती कर्म हैं। क्योंकि जली हुई रस्सीकी तरह इनके रहनेसे भी अनुजीवी गुणोंका नाश नहीं होता ॥ ९ ॥

आगे उन जीवके गुणोंको कहते हैं जिनको कि ये कर्म घातते हैं;—

केवलणाणं दंसणमणंतविरियं च खयियसम्मं च।
खयियगुणे मदियादी खओवसमिए य घादी दु ॥१०॥

केवलज्ञानं दर्शनमनन्तवीर्यं च क्षायिकसम्यक्त्वं च।
क्षायिकगुणान् मत्यादीन् क्षायोपशमिकांश्च घातीनि तु ॥ १० ॥

अर्थ—केवलज्ञान १, केवलदर्शन २, अनन्तवीर्य ३ और क्षायिकसम्यक्त्व ४, तथा च शब्दसे क्षायिकचारित्र और क्षायिकदानादि; इन क्षायिकभावोंको तथा मतिज्ञान आदि (मति १ श्रुत २ अवधि ३ और मनःपर्यय ४ इत्यादि) क्षायोपशमिकभावों को भी ये ज्ञानावरणादि चार घातियाकर्म घातते हैं। अर्थात् ये जीवके सम्पूर्ण गुणोंको प्रगट नहीं होने देते। इसीलिये ये घातियाकर्म कहलाते हैं ॥१०॥

अब अघातिया कर्मोंका कार्य बतानेके लिये पहले आयुकर्मका कार्य बताते हैं,—

कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादिजुत्तम्हि।
जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं ॥ ११ ॥

कर्मकृतमोहवर्धितसंसारे च अनादियुक्ते।
जीवस्यावस्थानं करोति आयुः हलीव नरम् ॥ ११ ॥

अर्थ—कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ और मोह अर्थात् अज्ञान, असंयम तथा मिथ्यात्वसे वृद्धिको प्राप्त हुआ संसार अनादि है। उसमें जीवका अवस्थान रखने वाला आयुकर्म है। वह उदयरूप होकर मनुष्यादि चार गतियोंमें जीवकी स्थिति करता है। जैसे कि काठ (खोडा) जोकि जेलखानोंमें अपराधियोंके पांवको बांध रखनेकेलिये रहता है, अपने छेदमें जिसका पैर आ जाय उसको बाहिर नहीं निकलने देता, उसी प्रकार उदयको प्राप्त हुआ आयुकर्म जीवोंको उन उन गतियोंमें रोककर रखता है ॥ ११ ॥

अब नामकर्मका कार्य कहते हैं,—

गदिआदि जीवभेदं देहादी पोग्गलाणभेदं च।
गदियंतरपरिणमनं करेदि णामं अणेयविहं ॥ १२ ॥

गत्यादि जीवभेदं देहादि पुद्गलानां भेदं च ।
गत्यन्तरपरिणमनं करोति नाम अनेकविधम् ॥ १२ ॥

अर्थ—नामकर्म, गति आदि अनेक तरहका है। वह नारकी वगैरह जीवकी पर्यायोंके भेदोंको, और औदारिक शरीर आदि पुद्गलके भेदोंको, तथा जीवके एक गतिसे दूसरी गतिरूप परिणमनको करता है। अर्थात् चित्रकारकी तरह वह अनेक कार्योंको किया करता है।

भावार्थ—जीवमें जिनका फल हो सो जीवविपाकी, पुद्गलमें जिनका फल हो सो पुद्गलविपाकी, क्षेत्र-विग्रहगतिमें जिनका फल हो सो क्षेत्रविपाकी, तथा 'च' शब्दसे भवविपाकी। यद्यपि भवविपाकी आयुकर्मको ही माना है, परन्तु उपचारसे आयुका अविनाभावी गतिकर्म भी भवविपाकी कहा जा सकता हैं। इसतरह **नामकर्म** जीव विपाकी आदि चार तरहकी प्रकृतियोंरूप परिणमन करता है ॥१२॥

आगे गोत्रकर्मके कार्यको कहते हैं,—

संताणक्कमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा ।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥१३॥

संतानक्रमेणागतजीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा ।
उच्चं नीचं चरणं उच्चैर्नीचैर्भवेत् गोत्रम् ॥१३॥

अर्थ—कुलकी परिपाटीके क्रमसे चला आया जो जीवका आचरण उसकी गोत्र संज्ञा है। अर्थात् उसे गोत्र कहते हैं। उस कुलपरम्परामें ऊंचा (उत्तम) आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, यदि निंद्य आचरण हो तो वह नीचगोत्र कहा जाता है। जैसे एक कहावत है कि-शियालका एक बच्चा बचपनसे सिंहिनीने पाला। वह सिंहके बच्चोंके साथही खेला करता था। एक दिन खेलते हुए वे सब बच्चे किसी जंगलमें गये। वहां उन्होंने हाथियोंका समूह देखा। देखकर जो सिंहिनीके बच्चे थे वे तो हाथीके सामने हुए लेकिन वह शियाल जिसमें कि अपने कुलका डरपोकपनेका संस्कार था हाथीको देखकर भागने लगा। तब वे सिंहके बच्चे भी अपना बड़ाभाई समझ उसके साथ पीछे लौटकर माताके पास आये, और उस शियालकी शिकायत की कि इसने हमको शिकारसे रोका। तब सिंहनीने उस शियालके बच्चेसे एक श्लोक कहा, जिसका मतलब यह है कि अब हे बेटा! तू यहांसे भाग जा, नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी। **"शूरोसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक। यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते"** ॥१॥ अर्थात् हे पुत्र! तू शूरवीर है, विद्यावान् है, देखने योग्य (रूपवान्) है, परन्तु जिस कुलमें तू पैदा हुआ है उस कुलमें हाथी नहीं मारे जाते।

भावार्थ—कुलका संस्कार अवश्य आजाता है, चाहे वह कैसे भी विद्यादिगुणोंसे सहित क्यों न हो। उस पर्यायमें संस्कार नहीं मिटता ॥ १३ ॥

आगे वेदनीय कर्मके कार्यको कहते हैं,—

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयं सादं ।
दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं ॥ १४ ॥
अक्षाणामनुभवनं वेदनीयं सुखस्वरूपं सातं ।
दुःखस्वरूपमसातं तद्वेदयतीति वेदनीयम् ॥१४॥

अर्थ—इन्द्रियोंका अपने अपने रूपादि विषयका अनुभव करना वेदनीय हैं । उसमें दुःखरूप अनुभव करना असाता वेदनीय है; और सुखरूप अनुभव करना साता वेदनीय है । उस सुखदुखका अनुभव जो करावे वह वेदनीयकर्म है ॥ १४ ॥

आगे आवरणका क्रम दिखाने के लिये पहले जीवके कुछ प्रधान गुणोंको बताते हैं,—

अत्थं देक्खिय जाणदि पच्छा सद्दहदि सत्तभंगीहिं ।
इदि दसणं च णाणं सम्मत्तं होंति जीवगुणा ॥१५॥
अर्थं दृष्ट्वा जानाति पश्चात् श्रद्दधाति सप्तभङ्गीभिः ।
इति दर्शनं च ज्ञानं सम्यक्त्वं भवन्ति जीवगुणाः ॥१५॥

अर्थ—संसारी जीव पदार्थको देखकर जानता है । पीछे सात भङ्ग (भेद) वाली नयोंसे निश्चयकर श्रद्धान करता है । इसप्रकार दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व ये तीन जीवके गुण होते हैं ।

भावार्थ—देखना-दर्शन, जानना-ज्ञान, तथा श्रद्धान करना सम्यक्त्व गुण कहा है ॥१५॥

इस हिसावसे पहले दर्शनावरणका पीछे ज्ञानावरणका उल्लेख करना चाहिये था; परन्तु वैसा न करके पहले ज्ञानावरणका उल्लेख किया है, सो क्यों ? इसका उत्तर देनेके लिये ही इन जीवगुणोंके आवरणका शास्त्रमें जो क्रम कहा है उसे युक्तिपूर्वक बताते हैं:—

अब्भरहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो हि दंसणं होदि ।
सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे ॥१६॥
अभ्यर्हितात् तु पूर्वं ज्ञानं ततो हि दर्शनं भवति ।
सम्यक्त्वमतो वीर्यं जीवाजीवगतमिति चरमे ॥१६॥

अर्थ—आत्माके सब गुणोंमें ज्ञानगुण पूज्य है, इस कारण सबसे पहले ज्ञानको कहा है । क्योंकि व्याकरणमें भी ऐसा नियम है कि जो पूज्य हो उसको पहले कहना । उसके पीछे दर्शन कहा है । और उसके बाद सम्यक्त्व कहा है । तथा वीर्य शक्तिरूप है । वह जीव और अजीव दोनोंमें पाया जाता है । जीवमें तो ज्ञानादि शक्तिरूप, और अजीव-पुद्गलमें शरीरादिककी शक्तिरूप रहता है । इसीकारण वह सबके पीछे कहा गया है । इसी लिये इन गुणोंके आवरण करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय, इन चारों कर्मोंका भी यही क्रम माना है ॥ १६ ॥

अब यहाँ पर प्रश्न यह है कि उन आठकर्मोंमें अन्तराय कर्म जो कि घातियाकर्म है वह अघातियोंके अन्तमें क्यों कहा ? उसका उत्तर आचार्य कहते हैं,—

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो ।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि ॥१७॥

घात्यपि अघातीव निःशेषं घातने अशक्यात् ।
नामत्रयनिमित्ताद् विघ्नं पठितमघातिचरमे ॥ १७ ॥

अर्थ—अन्तरायकर्म घातिया है, तथापि अघातियाकर्मोंकी तरह समस्तपनेसे जीवके गुणोंके घातनेको वह समर्थ नहीं है । और नाम, गोत्र, तथा वेदनीय इन तीनों कर्मोंके निमित्तसे ही वह अपना कार्य करता है, इसकारण अघातियाकर्मोंके अन्तमें उसको कहा है ॥१७॥

अब अन्य कर्मोंका भी क्रम कहते हैं,—

आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि णाममाउपुव्वं तु ।
भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं णामपुव्वं तु ॥१८॥

आयुर्बलेन अवस्थितिः भवस्य इति नाम आयुपूर्वं तु ।
भवमाश्रित्य नीचोच्चमिति गोत्रं नामपूर्वं तु ॥ १८ ॥

अर्थ—नामकर्मका कार्य चारगतिरूप या शरीरकी स्थितिरूप है । वह आयुकर्मके बलसे (सहायतासे) ही है । इसलिये आयुकर्मको पहले कहकर पीछे नामकर्मको कहा है । और शरीरके आधारसे ही नीचपना वा उत्कृष्टपना होता है, इस कारण नामकर्मको गोत्रके पहले कहा है ।

भावार्थ—नामकर्मसे शरीर मिलता है परन्तु वह आयुके विना ठहर नहीं सकता । और शरीरसे ही ऊंच नीच व्यवहार है । इसलिये आयु, नाम और गोत्रकर्म क्रमसे कहे हैं ॥१८॥

आगे यहां प्रश्न होता है कि वेदनीयकर्म अघातिया है, उसको घातिओंके बीचमें क्यों कहा ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं;—

घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं ।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु ॥१९॥

घातिवत् वेदनीयं मोहस्य बलेन घातयति जीवम् ।
इति घातीनां मध्ये मोहस्यादौ पठितं तु ॥१९॥

अर्थ—वेदनीयकर्म, मोहनीयकर्मके भेद जो रागद्वेष हैं उनके उदयके बलसे ही घातिया कर्मोंकी तरह जीवोंका घात करता है । अर्थात् इन्द्रियोंके रूपादिविषयों में से किसीमें रति (प्रीति) और किसीमें अरति (द्वेष) का निमित्त पाकर सुख तथा दुःखस्वरूप साता और असाताका अनुभव कराके जीवको अपने ज्ञानादि गुणोंमें उपयोग नहीं करने देता, परस्वरूपमें लीन करता है । इस कारण अर्थात् घातियाकी तरह होनेसे घातियाओंके मध्यमें तथा मोहकर्मके पहिले इस वेदनीय कर्मका पाठ किया गया है ।

भावार्थ—वस्तुका स्वभाव भला या बुरा नहीं है । जब तक रागद्वेष रहते हैं तभीतक यह

जीव किसीको बुरा और किसीको भला समझता है। क्योंकि एक वस्तु किसीको बुरी मालूम पड़ती है तो वही वस्तु किसीको अच्छी। जैसेकि—कटुकरसवाला नीमका पत्ता मनुष्यको अप्रिय लगता है तो वही पत्ता ऊंट को प्रिय मालूम होता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु कुछ खोटी या भली नहीं रहती। जो वस्तु ही वैसी हो तो दोनोंको एकसी मालूम पड़नी चाहिये। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि मोहनीय-कर्मरूप रागद्वेषके निमित्तसे वेदनीयका उदय होनेपर ही इन्द्रियोंसे उत्पन्न सुख तथा दुःखका अनुभव होता है। मोहनीय कर्मके विना वेदनीयकर्म, राजाके विना निर्बल सैन्यकी तरह कुछ नहीं करसकता॥१९॥

इस तरह कर्मोंका पाठक्रम जो सिद्ध हुआ उसको अब उपसंहार करके दिखलाते हैं;—

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयमोहणियं ।
आउगणामं गोदंतरायमिदि पढिदमिदि सिद्धं ॥२०॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चावरणं वेदनीयमोहनीयम् ।
आयुष्कनाम गोत्रान्तरायमिति पठितमिति सिद्धम् ॥२०॥

अर्थ—ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ वेदनीय ३ मोहनीय ४ आयु ५ नाम ६ गोत्र ७ और अंतराय ८, इस प्रकार जो पाठका क्रम है वह पहले पाठक्रमकी तरह ही सिद्ध हुआ ॥२०॥

अब इन आठ कर्मोंके स्वभावका दृष्टान्त देते हैं;—

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा ॥२१॥

पटप्रतीहारासिमद्यहलिचित्रकुलालभाण्डागारिकाणाम् ।
यथा एतेषां भावा तथैव च कर्माणि मन्तव्यानि ॥२१॥

अर्थ—पट अर्थात् देवताके मुखके ऊपरका वस्त्र १, प्रतीहार अर्थात् राजद्वार पर बैठा हुआ ड्योढ़ीवान २, असि (शहद लपेटी तलवारकी धार) ३, शराव ४, काठका यंत्र–खोडा ५; चित्रकार–चतेरा ६, कुंभार ७, भंडारी (खजानची) ८, इन आठोंके जैसे जैसे अपने अपने कार्य करनेके भाव होते हैं उसी तरह क्रमसे कर्मोंके भी स्वभाव समझना चाहिये ॥ २१ ॥

अब कुछ शब्दार्थ लेकर आठ कर्मोंका अर्थ करते हैं। ज्ञानको जो आवरै–ढंके वह **ज्ञानावरण** है। इसका स्वभाव देवताके मुख परका वस्त्र जैसा कहा है। वह इस प्रकार है कि देवताके मुंह पर ढंका हुआ कपड़ा जिसतरह देवताके विशेष ज्ञानको नहीं होने देता, उसी तरह ज्ञानावरण कर्म ज्ञानको आच्छादित करता है, विशेषज्ञान नहीं होने देता। जो दर्शनको आवरै अर्थात् वस्तुको नहीं देखने दे वह **दर्शनावरण** है। इसका स्वभाव दरवानियाके समान कहा है। जैसे दरवानिया (पहरेदार) राजाको देखने नहीं देता–देखनेसे रोक लेता है, वैसे ही यह कर्म भी वस्तुका दर्शन नहीं होने देता। जो सुखदुःखका वेदन अर्थात् अनुभव करावै वह तीसरा **वेदनीयकर्म** है। इसका

स्वभाव सहद लपेटी तलवारकी धारके समान है, जिसको कि पहले चखनेसे कुछ सुख होता है परन्तु पीछेसे जीभके दो टुकड़े होनेपर अत्यन्त दुःख होता है। इसी तरह साता और असातासे सुख दुःख उत्पन्न होते हैं। जो मोहै अर्थात् असावधान (अचेत) करै वह **मोहनीयकर्म** है। इसका स्वभाव मदिरा वगैरः जो नशा करनेवाली वस्तुयें हैं उन सरीखा है। जैसे शराब वगैरः पदार्थ पीनेसे जीवको अचेत वा असावधान कर देते हैं, उसको अपने स्वरूपका कुछ विचार नहीं होने देते, इसी तरह मोहनीयकर्म आत्माको वेभान बना देता है, उसको अपने स्वरूपका विचार ही नहीं होता। जो एति अर्थात् पर्यायधारण करनेके निमित्त प्राप्त हो वह **आयुकर्म** है। इसका स्वभाव लोहेकी सांकल वा काठके यंत्रके समान है। जैसे सांकल अथवा काठका यंत्र पुरुषको अपने स्थानमें ही स्थित रखता है दूसरी जगह नहीं जाने देता, ठीक उसीप्रकार आयुकर्म जीवको मनुष्यादि पर्यायमें स्थित (मौजूद) रखता है, दूसरी जगह नहीं जाने देता। जो ना–नाना अर्थात् अनेक तरहके मिनोति अर्थात् कार्य बनावै वह **नामकर्म** है। यह चतेरेकी तरह है। जैसे चतेरा अनेक प्रकारके चित्राम (तसवीर) बनाता है उसी प्रकार नामकर्म, जीवके नारक आदि अनेकरूप करता है। सातवां **गोत्रकर्म** है। जो गमयति अर्थात् ऊंच नीचपनेको प्राप्त करै उसको गोत्र कहते हैं। इसका स्वभाव कुंभारके समान है। जैसे कुंभार मिट्टीके छोटे बड़े बासन बनाता है वैसेही यह गोत्रकर्मभी जीवकी ऊंच तथा नीच अवस्था बनाता है। **अन्तरायकर्म** वह है जो "अंतरं एति" अर्थात् दाता तथा पात्रमें अन्तर-व्यवधान करै। इसका स्वभाव भंडारी सरीखा है। जैसे भंडारी (खजानची) दूसरेको दान देनेमें विघ्न करता है–देनेसे रोकता है, उसी तरह अन्तरायकर्म दान लाभादिमें विघ्न करता है। इस तरह इन आठ मूल–कर्मोंका शब्दार्थ करके स्वरूप कहा।

अब इन कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियों–विशेषभेदोंको क्रमसे बताते हैं;—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणउदी ।
तेउत्तरं सयं वा दुगपणगं उत्तरा होंति ॥२२॥

पञ्च नव द्वौ अष्टाविंशतिः चत्वारः क्रमेण त्रिनवतिः ।
त्र्युत्तरं शतं वा द्विकपञ्चकमुत्तरा भवन्ति ॥ २२ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंमेंसे प्रत्येकके भेद क्रमसे पांच, नौ, दो; अट्ठाईस, चार, तिरानवे अथवा एकसौतीन, दो और पांच होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरणके मतिज्ञानावरण १ श्रुतज्ञानावरण २ अवधिज्ञानावरण ३ मनःपर्यय-ज्ञानावरण ४ केवलज्ञानावरण ५, ये ५ भेद हैं। दर्शनावरणके चक्षुर्दर्शनावरण १ अचक्षुर्दर्शनावरण २ अवधिदर्शनावरण ३ केवलदर्शनावरण ४ और स्त्यानगृद्धि ५ निद्रानिद्रा ६ प्रचलाप्रचला ७ निद्रा ८ प्रचला ९ ये पांच निद्रा, इस प्रकार नौ भेद हैं ॥ २२ ॥

अब दर्शनावरणीयके भेदोंमेंसे पांच निद्राओंका कार्य तीन गाथाओंमें बताते हैं;—

थीणुदयेणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य ।

णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्घादिदुं सक्को ॥२३॥

स्त्यानगृद्ध्युदयेन उत्थापिते स्वपिति कर्म करोति जल्पति च ।
निद्रानिद्रोदयेन च न दृष्टिमुद्घाटयितुं शक्यः ॥ २३ ॥

अर्थ—स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण कर्मके उदयसे उठाया हुआ भी सोता ही रहै; उस नींदमें ही अनेक कार्य करै तथा कुछ बोलै भी परन्तु सावधानी न हो । और निद्रानिद्रा कर्मके उदयसे अनेक तरहसे सावधान किया हुआ भी आखोंको नहीं उघाड़ सकता है ॥ २३ ॥

पयलापयलुदयेण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं ।

णिद्दुदये गच्छंतो ठाइ पुणो वइसइ पडेई ॥२४॥

प्रचलाप्रचलोदयेन च वहति लाला चलन्ति अङ्गानि ।
निद्रोदये गच्छन् तिष्ठति पुनः वसति पतति ॥ २४ ॥

अर्थ—प्रचलाप्रचलाकर्मके उदयसे मुखसे लार वहती है और हाथ वगैरः अङ्ग चलते हैं, किन्तु सावधान नहीं रहता । तथा निद्राकर्मके उदयसे गमन करता हुआ भी खड़ा होजाता है; बैठ जाता है, गिर पड़ता है; इत्यादि क्रिया करता है ॥ २४ ॥

पयलुदयेण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्तोवि ।

ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं ॥ २५ ॥

प्रचलोदयेन च जीव ईषदुन्मील्य स्वपिति सुप्तोपि ।
ईषदीषज्जानाति मुहुर्मुहुः स्वपिति मन्दम् ॥ २५ ॥

अर्थ—प्रचलाकर्मके उदयसे यह जीव कुछ कुछ आंखोंको उघाड़कर सोता है, और सोता हुआ भी थोड़ा थोड़ा जानता है, बार बार मन्द (थोड़ा) शयन करता है । यह निद्रा श्वानके समान है, सब निद्राओंसे उत्तम है । इस प्रकार दर्शनावरणीयकर्मके कुछ भेदोंका कार्य कहा ॥ २५ ॥

वेदनीयकर्मके सातावेदनीय १ और असातावेदनीय २ ऐसे दो भेद हैं । मोहनीयकर्म भी साधारण रीतिसे दो प्रकारका है—दर्शनमोहनीय १ और चारित्रमोहनीय २ । इनमें दर्शनमोहनीय बंधकी अपेक्षा एक मिथ्यात्वरूप ही हैं; और उदय तथा सत्ताकी अपेक्षा मिथ्यात्व १ सम्यग्मिथ्यात्व २ और सम्यक्त्वप्रकृति ३, इन तीन भेदस्वरूप है ।

आगे ये तीन भेद किस तरह हो जाते हैं ? इसका उत्तर देते हैं,—

जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण ।
मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥ २६ ॥

यन्त्रेण कोद्रवं वा प्रथमोपशमसम्यक्त्वभावयन्त्रेण ।
मिथ्यात्वं द्रव्यं तु त्रिधा असंख्यगुणहीनद्रव्यक्रमात् ॥ २६ ॥

अर्थ—यन्त्र अर्थात् घरटी-चक्कीसे दलेहुये कोदोंकी तरह प्रथम[1]ोपशमसम्यक्त्वपरिणामरूप यन्त्रसे मिथ्यात्वरूपी कर्मद्रव्य द्रव्यप्रमाणमें क्रमसे असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा कम होकर तीन प्रकारका हो जाता है ।

भावार्थ—जैसे कोदों-धान्यविशेष दलनेपर तंदुल कण और भुसी, ऐसे तीन रूप होजाता है, उसीतरह मिथ्यात्वरूप कर्मद्रव्य भी उपशमसम्यक्त्वरूपी यन्त्रकेद्वारा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन स्वरूप परिणमन करता है । इस कारण एक मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय कर्मके ही तीन भेद कहे हैं ॥२६॥

चारित्रमोहनीयके दो भेद हैं-एक कषायवेदनीय दूसरा नोकषायवेदनीय । उनमें कषायवेदनीय १६ प्रकार है । उनके नाम क्रमसे कहते हैं । यह क्रम कर्मोंके क्षपणकी अपेक्षासे है—अनन्तानुबंधी क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४, अप्रत्याख्यान (अप्रत्याख्यानावरण) क्रोध ५ मान ६ माया ७ लोभ ८, प्रत्याख्यान (प्रत्याख्यानावरण) क्रोध ९ मान १० माया ११ लोभ १२, संज्वलन क्रोध १३ मान १४ माया १५ लोभ १६ । नोकषायवेदनीयके नव भेद हैं—पुरुषवेद १ स्त्रीवेद २ नपुंसकवेद ३ रति ४ अरति ५ हास्य ६ शोक ७ भय ८ जुगुप्सा ९ । आयुकर्म चार तरहका है—नरकायु १ तिर्यंचआयु २ मनुष्यआयु ३ देवआयु ४ । तथा नामकर्मके पिंड (भेदवाली) और अपिण्ड (भेद रहित) प्रकृतियोंके मिलानेसे सब ब्यालीस भेद होते हैं । उन दोनों प्रकृतियोंमें पिंड (भेदवालीं) प्रकृति १४ हैं—गति १ (नरक १ तिर्यंच २ मनुष्य ३ देवगति ४), जाति २ (एकेन्द्री १ दोइन्द्री २ तेइन्द्री ३ चौइन्द्री ४ पंचेंद्रीजाति ५), शरीरनाम ३ (औदारिक १ वैक्रियक २ आहारक ३ तैजस ४ कार्मणशरीर ५) ।

अब इन पांच शरीरके भी संयोगी (मिले हुए) भेदोंको बताते हैं;—

तेजाकम्मेहिं तिए तेजा कम्मेण कम्मणा कम्मं ।
कयसंजोगे चदुचदुचदुदुग एक्कं च पयडीओ ॥ २७ ॥

तैजसकार्म्मणाभ्यां त्रये तैजसं कार्म्मणेन कार्म्मणेन कार्म्मणं ।
कृतसंयोगे चतुश्चतुश्चतुर्द्विकमेकं च प्रकृतयः ॥ २७ ॥

अर्थ—तैजस शरीर और कार्मण शरीरके साथ २ औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरका आपसमें सम्बन्ध करनेसे चार चार भेद होते हैं । तीनोंके मिलकर १२ भेद होजाते हैं ।

---

१. सम्यक्त्वके भेदोंमेंसे उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है-प्रथमोपशमसम्यक्त्व १ द्वितीयोपशमसम्यक्त्व २ । इनमेंसे अनादि मिथ्यादृष्टिके पहला भेद ही होता है. अत एव दर्शनमोहनीयके ३ भेद सादि मिथ्यादृष्टिके ही होते हैं.

तथा कार्मणशरीरके साथ तैजसशरीरके मिलनेसे दो भेद, और कामणशरीरके साथ कार्मणका संबंध होनेसे एक भेद, इसतरह सब मिलकर १५ भेद होते हैं। इनका खुलासा यह है—औदारिकऔदारिक १ औदारिकतैजस २ औदारिककार्माण ३ औदारिकतैजसकार्माण ४ वैक्रियिकवैक्रियिक ५ वैक्रियिकतैजस ६ वैक्रियिककार्माण ७ वैक्रियिकतैजसकार्माण ८ आहारकआहारक ९ आहारकतैजस १० आहारक-कार्माण ११ आहारकतैजसकार्माण १२ तैजसतैजस १३ तैजसकार्माण १४ कार्माणकार्माण १५, इस प्रकार पन्द्रह भेद हुए। इनमेंसे औदारिकऔदारिक, वैक्रियिकवैक्रियिक, आहारकआहारक, तैजस-तैजस, कार्माणकार्माण ये पांच भेद पहले कहे हुए पांच शरीरोंमें ही शामिल हो जाते हैं। इस कारण मुख्यतया यहां १० भेद ही समझना। जैसेकि चक्रवर्ती जब विक्रिया करके १ कम ९६००० छ्यानवे हजार शरीर बनाता है तब औदारिकसे ही औदारिकशरीर बनाता है। अतः उनको औदारिकऔदारिक ही कहते हैं। सो औदारिकमें ही अन्तर्भूत करना। इसीतरह देवके वैक्रियिकसे वैक्रियिक होता हैं उसे वैक्रियिकवैक्रियिक कहते हैं, उसको वैक्रियिकमें अन्तर्भूत करना। इसीप्रकार और भेद भी समझ लेना ॥ २७ ॥

बन्धन नामकर्म ४ (औदारिकशरीरबंधन १ वैक्रियिकबंधन २ आहारकबंधन ३ तैजसबंधन ४ कार्माणशरीरबंधन ५)। संघातनामकर्म ५ (औदारिकशरीरसंघात १ वैक्रियिकसंघात २ आहारक संघात ३ तैजससंघात ४ कार्माणशरीरसंघात ५)। संस्थाननामकर्म ६ (समचतुरस्रसंस्थान १ न्यग्रोधपरिमण्डल २ स्वाति ३ कुब्ज ४ वामन ५ हुंडसंस्थान ६)। शरीरआंगोपांग नामकर्म ७ (औदारिकशरीर आंगोपांग १ वैक्रियिक आंगोपांग २ आहारकशरीर आंगोपांग ३)। तैजस तथा कार्माणके आंगोपांग नहीं हैं।

शरीरमें आंगोपांग कौन कौनसे हैं सो बताते हैं;—

णलया बाहू य तहा णियंबपुट्ठी उरो य सीसो य।
अट्ठेव दु अंगाइं देहे सेसा उवंगाइं ॥ २८ ॥

नलकौ बाहू च तथा नितम्बपृष्ठे उरश्च शीर्षं च।
अष्टैव तु अङ्गानि देहे शेषाणि उपाङ्गानि ॥ २८ ॥

अर्थ—दो पैर, दो हाथ, नितम्ब-कमरके पीछेका भाग, पीठ, हृदय, और मस्तक, ये आठ शरीरमें अङ्ग हैं। और दूसरे सब नेत्र कान वगैरः उपाङ्ग कहे जाते हैं ॥ २८ ॥

संहनननामकर्म ८ (वज्रवृषभनाराच १ वज्रनाराच २ नाराच ३ अर्द्धनाराच ४ कीलित ५ असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन ६)।

आगे ये छहसंहननवाले जीव किस किस संहननसे कौन कौन गतिमें उत्पन्न होते हैं, यह कहते हैं;—

सेवट्टेण य गम्मइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलोत्ति ।
तत्तो दुजुगलजुगले खीलियणारायणद्धोत्ति ॥ २९ ॥

सृपादेन च गम्यते आदितः चतुर्षु कल्पयुगल इति ।
ततः द्वियुगलयुगले कीलितनाराचार्द्ध इति ॥ २९ ॥

अर्थ—सृपाटिकासंहननवाले जीव स्वर्गगतिमें जो उत्पन्न हों तो पहले—सौधर्मयुगल (सौधर्म १, ऐशानस्वर्ग २) से चौथे लांतवयुगल (लांतव १ कापिष्टस्वर्ग २) तक चार युगलोंमें उत्पन्न होते हैं। फिर चौथे युगलके बाद दो दो युगलोंमें क्रमसे कीलितसंहननवाले और अर्द्धनाराचसंहननवाले जीव जन्म धारण करते हैं। अर्थात् पाँचवें तथा छट्ठे स्वर्गयुगलमें कीलितसंहननवाले और सातवें तथा आठवें स्वर्गयुगलमें अर्धनाराच संहननवाले जन्म लेते हैं ॥ २९ ॥

णवगेविज्जाणुद्दिसणुत्तरवासीसु जांति ते णियमा ।
तिदुगेगे संघडणे णारायणमादिगे कमसो ॥ ३० ॥

नवग्रैवेयिकानुदिशानुत्तरवासिषु यान्ति ते नियमात् ।
त्रिद्विकैकेन संहननेन नाराचादिकेन क्रमशः ॥ ३० ॥

अर्थ—नाराच आदि तीन संहननसे अर्थात् नाराच, वज्रनाराच, वज्रवृषभनाराच इन तीन संहननोंके उदयसे ये जीव नवग्रैवेयिकमें, वज्रनाराच, वज्रवृषभनाराच, दो संहननवाले नव अनुदिशविमानोंमें, तथा वज्रवृषभनाराच संहननवाले पांच अनुत्तरविमानोंमें उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार स्वर्गमें जन्म लेनेकी मर्यादा कही ॥ ३० ॥

सण्णी छस्संहडणो वज्जदि मेघं तदो परं चापि ।
सेवट्टादीरहिदो पण पणचदुरेगसंहडणो ॥ ३१ ॥

संज्ञी षट्संहननो व्रजति मेघां ततः परं चापि ।
सृपाटादिरहितः पञ्चमीं पञ्चचतुरेकसंहननः ॥ ३१ ॥

अर्थ—छह संहननवाले सैनी (मनसहित) जीव यदि नरकमें जन्म लेवें तो मेघानामक तीसरे नरकपर्यन्त जाते हैं। सृपाटिकासंहननरहित पांच संहननवाले अरिष्टा नामक पांचवीं नरककी पृथ्वीतक उपजते हैं। चार संहननवाले अर्थात् अर्द्धनाराचपर्यन्तवाले पाँचवींके बाद जो मघवी नामक छट्ठी पृथिवी है वहांतक, और आदिके वज्रवृषभनाराचसंहननवाले सातवीं माघवी नामक पृथिवीतक उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥

अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं ।
आदिमतिगसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ३२ ॥

अन्तिमत्रयसंहननस्योदयः पुनः कर्मभूमिमहिलानाम् ।
आदिमत्रिकसंहननं नास्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन अर्द्धनाराचादिसंहननोंका ही उदय होता है। आदिके तीन वज्रवृषभनाराचादिसंहनन कर्मभूमिकी स्त्रियोंके नहीं होते ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥३२॥

वर्ण नामकर्म ९ (काला १ नीला २ लाल ३ पीला ४ सफेद ५) । गंध नामकर्म १० (सुगंध १ दुर्गंध २) । रस नामकर्म ११ (तीखा अथवा चरपरा १ कडुआ २ कसैला ३ खट्टा ४ मीठा ५) । स्पर्श नामकर्म १२ (कठोर १ कोमल २ भारी ३ हलका ४ रूखा ५ चिकना ६ ठंडा ७ गर्म ८) । आनुपूर्वी नामकर्म १३ (नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी १ तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी २ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ३ देवगतिप्रायोग्य आनुपूर्वी ४) । इस प्रकार तेरह ये और १ विहायोगति नामकर्म (प्रशस्तविहायोगति १ अप्रशस्तविहायोगति २) इस तरह सब १४ पिंडप्रकृतियां हैं। और अपिंडप्रकृतियां २८ हैं,—वे इस प्रकार हैं—

अगुरुलघुक १ उपघात २ परघात ३ उच्छ्वास ४ आतप ५ उद्योत ६ त्रस नामकर्म ७ बादर नामकर्म ८ पर्याप्त नामकर्म ९ प्रत्येकशरीर नामकर्म १० स्थिर नामकर्म ११ शुभ नामकर्म १२ सुभग नामकर्म १३ सुस्वर नामकर्म १४ आदेय नामकर्म १५ यशस्कीर्ति नामकर्म १६ निर्माण नामकर्म १७ तीर्थंकर नामकर्म १८ स्थावर नामकर्म १९ सूक्ष्म नामकर्म २० अपर्याप्त नामकर्म २१ साधारणशरीर नामकर्म २२ अस्थिर नामकर्म २३ अशुभ नामकर्म २४ दुर्भग नामकर्म २५ दुःस्वर नामकर्म २६ अनादेय नामकर्म २७ अयशस्कीर्ति नामकर्म २८ ।

यहां पर कोई भ्रम कर सकता है कि, आतपप्रकृतिका उदय अग्निकायमें भी होना चाहिये, क्योंकि जो संताप करै अर्थात् उष्णपनेसे जलावै वह आताप कहा जाता है। अतः भ्रमके दूर करनेके लिये आगसे भिन्न आतपका लक्षण गाथाद्वारा कहते हैं;—

मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा ।
आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ ॥३३॥

मूलोष्णप्रभाः अग्निः आतापो भवति उष्णसहितप्रभः ।
आदित्ये तिरश्चि उष्णोनप्रभा हि उद्योतः ॥ ३३ ॥

अर्थ—आग के मूल और प्रभा दोनों ही उष्ण रहते हैं। इसकारण उसके स्पर्शनामकर्मके भेद उष्णस्पर्शनामकर्मका उदय जानना। और जिसकी केवल प्रभा (किरणोंका फैलाव) ही उष्ण हो उसको आताप कहते हैं। इस आतपनामकर्मका उदय सूर्यके बिम्ब (विमान) में उत्पन्न हुये बादरपर्याप्त पृथ्वीकायके तिर्यंचजीवोंके समझना। तथा जिसकी प्रभा भी उष्णता रहित हो उसको नियमसे उद्योत जानना ॥ ३३ ॥

इस रीतिसे पिंड प्रकृति १४ तथा अपिंड (जुदी जुदी) प्रकृतियां २८, सब मिलाकर नामकर्मकी ४२ प्रकृतियां हैं। यदि सब भेद अलग अलग लिये जांय–पिंड प्रकृतियोंके उत्तर भेदोंको

भी पृथक् पृथक् गिना जाय तो ९३ भेद होते हैं । अथवा शरीर नामकर्मके दश भेदोंको भी यदि भेद-विवक्षासे इनमें जोड़ा जाय तो १०३ प्रकृतियां होती हैं । इसी पक्षमें आठों कर्मोंकी मिलाकर १५८ प्रकृतियां होती हैं । यदि इन दश भेदोंको पांच शरीरमें ही गर्भित कर लिया जाय तो १४८ ही प्रकृतियां होती हैं । गोत्रकर्मके दो भेद हैं—ऊंच गोत्र तथा नीच गोत्र । अन्तरायकर्मके पाँच भेद हैं—दानान्तराय १ लाभान्तराय २ भोगांतराय ३ उपभोगान्तराय ४ वीर्यान्तिराय ५ । इस तरह आठ कर्मोंके १४८ उत्तरभेद होते हैं ।

इन प्रकृतियों-कर्मोंका और आत्मा का दूध और पानीकी तरह आपसमें एकरूप होजाना ही बंध है । जैसे योग्यपात्रमें रक्खे हुए अनेक तरहके रस बीज फूल तथा फल सब मिलकर मदिरा (शराब) भावको प्राप्त होते हैं उसीप्रकार कर्मरूप होने योग्य कार्मणवर्गणानामके पुद्गलद्रव्य योग और क्रोधादिकषायका निमित्त पाकर कर्मभावको प्राप्त होते हैं । तभी उनमें कर्मपनेकी सामर्थ्य भी प्रगट होती है । जीवके एक समयमें होनेवाले अपने एकही परिणामसे ग्रहण (संबंध) किये हुए कर्म योग्य पुद्गल, ज्ञानावरणादि अनेकभेदरूप होकर परिणमते हैं । जैसे कि एकवार ही खाया हुआ ग्रास—अन्न रस रक्त मांस आदि अनेक धातुरूप परिणमता है ।

अब इन सब कर्मोंके भेदोंका शब्दार्थकी अपेक्षासे कार्य बताते हैं । क्योंकि कर्मोंके निमित्तसे ही जीवकी अनेक दशायें होती हैं, इस कारण सब प्रकृतियोंका स्वरूप जानना वहुत जरूरी है ।

मतिज्ञानका जो आवरण करै अथवा जिसके द्वारा मतिज्ञान आवृत किया जाय अर्थात् ढंका जाय वह **मतिज्ञानावरण कर्म १** है । श्रुतज्ञानका जो आवरण करै वह **श्रुतज्ञानावरण २** है । अवधिज्ञानका आवरण करै वह **अवधिज्ञानावरण ३** है । मनःपर्ययज्ञानका जो आवरण करै वह **मनःपर्ययज्ञानावरण ४** है । और केवलज्ञानको "आवृणोति" ढंकै वह **केवलज्ञानावरण ५** है । इस प्रकार ज्ञानावरणके पाँच भेदोंका स्वरूप कहा ।

"आवृणोति आव्रियते अनेनेति आवरणम्" ऐसी व्युत्पत्ति है । अर्थात् जो आवरण करै या जिससे आवरण किया जाय वह आवरण है । जो चक्षुसे दर्शन नहीं होने दे वह **चक्षुर्दर्शनावरण** कर्म ६ है । चक्षु (नेत्र) के सिवाय दूसरी चार इन्द्रियोंसे जो दर्शन (सामान्य अवलोकनको) नहीं होने दे वह **अचक्षुर्दर्शनावरण** ७ है । अवधिद्वारा दर्शन न होने दे वह **अवधिदर्शनावरण** ८ है । केवलदर्शन अर्थात् त्रिकालमें रहनेवाले सब पदार्थोंके दर्शनका आवरण कर उसे **केवलदर्शनावरण** ९ कहते हैं । "स्त्याने स्वापे गृध्यते दीप्यते सा **स्त्यानगृद्धिः** (निद्राविशेषः) दर्शनावरणः" । धातु शब्दोंके व्याकरणमें अनेक अर्थ होते हैं । तदनुसार इस निरुक्तिमें भी "स्त्यै" धातुका अर्थ सोना और "गृधू" धातुका

१–रस रक्तादि धातुओंका परिणमन क्रमसे होता है और ज्ञानावरणादि कर्मोंका युगपत्, इतना अन्तर है ।

अर्थ दीप्ति समझना । मतलब यह कि, जो सोनेमें अपना प्रकाश करे; अर्थात् जिसका उदय होने पर यह जीव नींदमें ही उठकर बहुत पराक्रमका कार्य तो करै, परन्तु भान नहीं रहे कि क्या किया था, उसे **स्त्यानगृद्धि** दर्शनावरण १० कहते हैं । जिसके उदयसे निद्राकी ऊंची-पुनः पुनः प्रवृत्ति हो, अर्थात् जिससे आंखके पलक भी नहीं उघाड़ सके उसे **निद्रानिद्रा कर्म** ११ कहते हैं । "यदुदयात् क्रिया आत्मानं पुनः पुनः प्रचलयति तत्प्रचलाप्रचलादर्शनावरणम्" । अर्थात् जिस कर्मके उदयसे क्रिया आत्माको वार वार चलावे वह **प्रचलाप्रचलादर्शनावरण कर्म** १२ है । क्योंकि शोक, अथवा खेद या मद (नशा) आदिसे उत्पन्न हुई निद्राकी अवस्थामें वैठते हुए भी शरीरके अङ्ग बहुत चलायमान होते हैं, कुछ सावधानी नहीं रहती । जिसके उदयसे मद खेद आदिक दूर करनेके लिये केवल सोना हो वह **निद्रादर्शनावरण** १३ है । जिसके उदयसे शरीरको क्रिया आत्माको चलावे, और जिस निद्रामें कुछ काम करे उसकी याद भी रहै, अर्थात् कुत्तेकी तरह अल्पनिद्रा हो वह **प्रचलादर्शनावरण कर्म** १४ है । इसतरह दर्शनावरणकर्मके नव भेद कहे ॥ जो उदयमें आकर देवादि गतिमें जीवको शारीरिक तथा मानसिक सुखोंकी प्राप्ति रूप साता का 'वेदयति'—भोग करावे, अथवा "वेद्यते अनेन" जिसकेद्वारा जीव उन सुखोंको भोगे वह **सातावेदनीय** कर्म १५ है । जिसके उदयका फल अनेक प्रकारके नरकादिकगतिजन्य दुखोंका भोग-अनुभव कराना है वह **असातावेदनीयकर्म** १६ है । इस रीतिसे वेदनीय कर्म दो प्रकारका है ॥ दर्शनमोहनीय कर्म बंधकी अपेक्षासे एक प्रकारका है, किन्तु उदय और सत्ता की अपेक्षा तीन तरहका कहा है । जिसके उदयसे मिथ्या (खोटा) श्रद्धान हो, अर्थात् सर्वज्ञ-कथित वस्तुके यथार्थ स्वरूपमें रुचि हो न हो, और न उस विषयमें उद्यम करे, तथा न हित अहितका विचार ही करे वह **मिथ्यात्वनाम** दर्शनमोहनीय १७ है । जिस कर्मके उदयसे सम्यक्त्वगुणका मूलसे घात तो न हो परंतु परिणामोंमें कुछ चलायमानपना तथा मलिनपना हो जाय उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं । जैसे कि यह मन्दिर मेरा है और यह उसका, तथा "शांतिनाथ" शांतिकरनेवाले हैं और "पार्श्वनाथ" रक्षा करनेवाले, इत्यादि । जिससे श्रद्धानमें ऐसा मलिनपना हो उसे **सम्यक्त्वप्रकृति** दर्शनमोहनीयकर्म १८ कहते हैं । इस प्रकृतिवाला सम्यग्दृष्टि ही कहलाता है । जिस कर्मके उदयसे परिणामोंमें वस्तुका यथार्थ श्रद्धान और अयथार्थ श्रद्धान दोनों ही मिले हुए हों उसे **सम्यग्मिथ्यात्व**[1] दर्शनमोहनीयकर्म १९ कहते हैं । इन परिणामोंको सम्यक्त्व या मिथ्यात्व दोनोंमेंसे किसीमें भी नहीं कह सकते, अतएव यह तीसरा भेद पृथक् ही माना है । इस प्रकार दर्शनमोहनीयके तीन भेद कहे ॥ चारित्रमोहनीयके दो भेद

---

१ इसमें कोदों चावलका दृष्टान्त दिया है, जैसे कि कोदों चावल यद्यपि मादक (नशा करनेवाले) हैं फिर भी यदि वे पानीसे धो डाले जांय तो उनकी कुछ मादकशक्ति रह जाती है, और कुछ चली जाती है । इसी प्रकार जब मिथ्यात्वप्रकृतिकी शक्ति भी उपशम सम्यक्त्वरूप जलसे धुलकर कुछ कम हो जाती है तब उसको ही सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र प्रकृति कहते हैं ।

कहे हैं,—१ कषाय वेदनीय २ नोकषाय वेदनीय । उनमेंसे कषाय वेदनीय सोलह प्रकारका है; उसको कहते हैं ।—"कषन्ति-हिंसन्तीति कषायाः" । जो घात करै अर्थात् गुणको ढकें—प्रकट नहीं होने दें उनको कषाय कहते हैं । उसके क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार भेद हैं । इनकी भी चार चार अवस्था हैं ।—अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन । इन अवस्थाओंका स्वरूप भी क्रमसे कहते हैं ।—अनन्त नाम संसारका है; परन्तु जो उसका कारण हो वह भी अनन्त कहा जाता है । जैसे कि प्राणके कारण अन्नको भी प्राण कहते हैं । सो यहाँ पर मिथ्यात्व परिणामको अनन्त कहा गया है । क्योंकि वह अनंत-संसारका कारण है । जो इस अनंत-मिथ्यात्वके अनु-साथ सात वंधे उस कषायको अनन्तानुबंधी कहते हैं । उसके चार भेद हैं । क्रोध २० मान २१ माया २२ लोभ २३ । जो "अ" अर्थात् ईषत्-थोड़ेसे भी प्रत्याख्यानको न होने दे, अर्थात् जिसके उदयसे जीव श्रावकके व्रत भी धारण न कर सके उस क्रोध २४ मान २५ माया २६ लोभ २७ रूप चारित्रमोहनीयकर्मको अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । जिसके उदयसे प्रत्याख्यान अर्थात् सर्वथा त्यागका आवरण हो, महाव्रत नहीं हो सकें उसे **प्रत्याख्यानावरण क्रोध २८ मान २९ माया ३० लोभ ३१** कषायवेदनीय जानना । जिसके उदयसे संयम "सं"-एक रूप होकर "ज्वलति"—प्रकाश करे, अर्थात् जिसके उदयसे कषाय अंशसे मिला हुआ संयम रहे, कषायरहित निर्मल यथाख्यात संयम न होसकै उसे **संज्वलन क्रोध ३२ मान ३३ माया ३४ लोभ ३५** कषाय वेदनीय कहते हैं । यह कर्म यथाख्यातचारित्रको घातता है ॥ अब नोकषायवेदनोय जो नौ प्रकारका है उसे कहते हैं ।—जो नो अर्थात् ईषत्-थोड़ा कषाय हो-प्रबल नहीं हो उसे नोकषाय कहते हैं । उसका जो अनुभव करावे वह नोकषायवेदनीय कर्म कहा जाता है । जिसके उदयसे **हास्य** प्रगट हो वह हास्यकर्म ३६ है । जिसके उदयसे देश धन पुत्रादिमें विशेष प्रीति हो उसे **रति** कर्म ३७ कहते हैं । जिसके उदयसे देश आदिमें अप्रीति हो उसको **अरति** कर्म ३८ कहते हैं । जिसके उदयसे इष्टके वियोग होनेपर क्लेश हो वह **शोक** कर्म ३९ है । जिसके उदयसे उद्वेग (चित्तमें घबराहट) हो उसे **भय** कर्म ४० कहते हैं । जिसके उदयसे ग्लानि अर्थात् अपने दोषको ढकना और दूसरेके दोषको प्रगट करना हो वह **जुगुप्सा** कर्म ४१ है । जिसके उदयसे स्त्रीसम्बन्धी भाव (मृदु-स्वभावका होना, मायाचारकी अधिकता, नेत्रविभ्रम आदि द्वारा पुरुषके साथ रमनेकी इच्छा आदि) हों उसको **स्त्रीवेद** कर्म ४२ कहते हैं । जिसके उदयसे स्त्रीमें रमण करने की इच्छा आदि परिणाम हों उसे **पुरुषवेद** कर्म ४३ कहते हैं । और जिस कर्मके उदयसे स्त्री तथा पुरुष दोनोंमें रमण करनेकी इच्छा आदि मिश्रित भाव हों उसको **नपुंसकवेद** कर्म ४४ कहते हैं । इस तरह नव भेद नोकषायके और १६ भेद कषायके सब मिलकर २५ भेद चारित्रमोहनीयके तथा ३ भेद दर्शनमोहनीयके कुल २८ भेद मोहनीयकर्मके हुए ।

आयुकर्म चार प्रकारका है। जो कर्म आत्माको नारक १ तिर्यंच २ मनुष्य ३ तथा देवके शरीरमें प्राप्त करे, अर्थात् जो जीवको नरकादि शरीरोंमें रोक रक्खे उसे क्रमसे **नरकायु ४५ तिर्यंचायु ४६ मनुष्यायु ४७** और **देवायु कर्म ४८** कहते हैं।

नामकर्मके भेदोंको दिखाते हैं:—जिसके उदयसे यह जीव एकपर्यायसे दूसरी पर्यायको "गच्छति" प्राप्त हो वह **गति नामकर्म** १ है। उसके चार भेद कहे हैं। जिस कर्मके उदयसे यह जीव नारकीके आकार १ तिर्यंचाकार २ मनुष्यके शरीराकार ३ अथवा देवशरीराकार हो उसको क्रमसे **नरकगति ४९ तिर्यंचगति ५० मनुष्यगति ५१** तथा **देवगति** कर्म ५२ कहते हैं। जो उन गतियोंमें अव्यभिचारी सादृश्य धर्मसे जीवोंको इकट्ठा करे वह **जाति** नामकर्म २ है। एकेन्द्री दोइंद्री आदि जीव समान स्वरूप होकर आपसमें एक दूसरेसे मिलते नहीं यह तो अव्यभिचारीपना, और एकेन्द्रियपना सब एकेन्द्रियोंमें सरीखा है यह हुआ सादृश्यपना, यह अव्यभिचारी धर्म एकेन्द्रियादि जीवोंमें रहता है, अतएव वे एकेन्द्रियादि जाति शब्दसे कहे जाते हैं। जाति कर्म ५ प्रकारका है। जिसके उदयसे यह आत्मा एकेन्द्री १ दो इन्द्री २ ते इन्द्री ३ चौ इन्द्री ४ अथवा पंचेन्द्री ५ कहा जाय उसे क्रमसे **एकेन्द्रीजाति ५३ बेइन्द्रीजाति ५४ तेइन्द्रीजाति ५५ चौइन्द्रीजाति ५६** तथा **पंचेन्द्रीजाति** नामकर्म ५७ समझना। जिसके उदयसे शरीर बने उसे **शरीर** नामकर्म ३ कहते हैं। वह पाँच प्रकार है।—जिसके उदयसे औदारिकशरीर १ वैक्रियकशरीर २ आहारकशरीर ३ तैजसशरीर ४ और कार्मणशरीर (कर्मपरमाणुओंका समूहरूप) ५ उत्पन्न हो उन्हें क्रमसे **औदारिकशरीर**[1] **नाम ५८ वैक्रियिकशरीर ५९ आहारकशरीर ६० तैजसशरीर ६१ तथा कार्मणशरीरनामकर्म** ६२ कहते हैं। और शरीर नामकर्मके उदयसे जो आहार-वर्गणारूप पुद्गलके स्कन्ध इस जीवने ग्रहण किये थे उन पुद्गलस्कन्धोंके प्रदेशों (हिस्सों) का जिस कर्मके उदयसे आपसमें सम्बन्ध हो उसे **बंधननाम** कर्म ४ कहते हैं। उसके **औदारिकशरीर बन्धन ६३ वैक्रियिकशरीरबन्धन ६४ आहारकशरीरबन्धन ६५ तैजसशरीरबन्धन ६६ कार्मण-शरीरबन्धन ६७** इस रीतिसे पांच भेद हैं। जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंके परमाणु आपसमें मिलकर छिद्र रहित बंधनको प्राप्त होकर एक रूप हो जांय उसे **संघातनामकर्म** ५ कहते हैं। यह भी **औदारिकसंघात ६८ वैक्रियिकसंघात ६९ आहारकसंघात ७० तैजससंघात ७१ कार्मणशरीरसंघात ७२** इस तरह पांच प्रकारका हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीरका आकार (शकल) बने उसे **संस्थाननामकर्म** ६ कहते हैं। वह छः प्रकारका है—जिसके उदयसे शरीरका आकार ऊपर नीचे तथा बीचमें समान हो अर्थात्

१ औदारिक आदि शब्दोंका अर्थ जीवकाण्डकी योगमार्गणामें गाथासूत्रोंसे स्वयं आचार्यने कहा है, इसकारण यहाँ लिखनेकी जरूरत नहीं है।

जिसके आंगोपाङ्गोंकी लम्बाई चौड़ाई सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार ठीक ठीक बनी हो वह **समचतुरस्रसंस्थान** कर्म ७३ है। जिसके उदयसे शरीरका आकार न्यग्रोधके (बड़के) वृक्ष सरीखा नाभिके ऊपर मोटा और नाभिके नीचे पतला हो वह **न्यग्रोधपरिमण्डल-संस्थान** ७४ है । जिसके उदयसे स्वातिनक्षत्रके अथवा सर्पकी बांमीके समान शरीरका आकार हो, अर्थात् ऊपरसे पतला और नाभिसे नीचे मोटा हो उसे **स्वातिसंस्थान** ७५ कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे कुबड़ा शरीर हो उसे **कुब्जकसंस्थान** ७६ कहते हैं। जिसके उदयसे बौना शरीर हो वह **वामनसंस्थान** ७७ है । जिस कर्मके उदयसे शरीरके अंगोपांग किसी खास शकलके न हों, और भयानक बुरे आकारके बनें उसे **हुंडकसंस्थान** नामकर्म ७८ कहते हैं। जिसके उदयसे अंगोपांगका भेद हो वह **आंगोपांग** कर्म ७ है। उसके तीन भेद हैं—**औदारिकआंगोपांग** ७९ **वैक्रियिकआंगोपांग** ८० **आहारकआंगोपांग** ८१ । जिसके उदयसे हाड़ोंके बंधनमें विशेषता हो उसे **संहनन** नामकर्म ८ कहते हैं। वह छः प्रकार है—जिस कर्मके उदयसे ऋषभ (बेठन) नाराच (कीला) संहनन (हाड़ोंका समूह) वज्रके समान हो, अर्थात् इन तीनोंका किसी शस्त्रसे छेदन भेदन न हो सके उसे **वज्रर्षभनाराचसंहनन** नामकर्म ८२ कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसा शरीर हो जिसके वज्रके हाड़ और वज्रकी कीलो हों परन्तु बेठन वज्रके न हों वह **वज्रनाराचसंहनन** ८३ है। जिस कर्मके उदयसे शरीरमें वज्र रहित (साधारण) वेठन और कीलीसहित हाड़ हों उसे **नाराचसंहनन** कर्म ८४ कहते हैं। जिसके उदयसे हाड़ोंको संधियां आधी कीलित हों वह **अर्धनाराचसंहनन** ८५ है। जिस कर्मके उदयसे हाड़ परस्पर कीलित हों उसे **कीलितसंहनन** ८६ कहते हैं, जिस कर्मके उदय से जुदे जुदे हाड़ नसोंसे बंधे हों, परस्पर (आपसमें) कीले हुये न हों वह **असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन** ८७ हैं । क्योंकि "असंप्राप्तानि (आपसमें नहीं मिले हों) सृपाटिकावत् संहननानि यस्मिन् (सर्पकी तरह हाड़ जिसमें) तत् (वह) असंप्राप्तसृपाटिकासंहननम् (असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन शरीर है)" ऐसा शब्दार्थ है ।। जिसके उदयसे शरीरमें रंग हो वह वर्ण नामकर्म ९ है । उसके पांच भेद हैं—**कृष्णवर्ण** नामकर्म ८८ **नीलवर्ण** नामकर्म ८९ **रक्तवर्ण** (लालरंग) नामकर्म ९० **पीतवर्ण** (पीलारंग) नामकर्म ९१ **स्वेतवर्ण** (सफेदरंग) नामकर्म ९२ ।। जिसके उदयसे शरीरमें गंध हो उसे **गंधनामकर्म** १० कहते हैं। वह दो तरहका है—**सुरभिगंध** (अच्छीवास) नामकर्म ९३ **असुरभिगंध** (खोटी वास) नामकर्म ९४। जिसके उदयसे शरीरमें रस हो उसे **रस** नामकर्म ११ कहते हैं। वह पांच प्रकार है—**तिक्तरस** (तीखा-चरपरा) नामकर्म ९५, **कटुक** (कडुआ) नामकर्म ९६, **कषाय** (कसैला) नामकर्म ९७, **आम्ल** (खट्टा) नामकर्म ९८, **मधुररस** (मीठा) नामकर्म ९९ । जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्श हो वह **स्पर्श** नामकर्म १२ है । उसके आठ भेद हैं—**कर्कशस्पर्श** (जो छूनेमें कठिन मालूम हो) नामकर्म १००, **मृदु** (कोमल)

नामकर्म १०१, **गुरु** (भारी) नामकर्म १०२, **लघु** (हलका) नामकर्म १०३, **शीत** (ठंडा) नामकर्म १०४, **उष्ण** (गरम) नामकर्म १०५, **स्निग्ध** (चिकना) नामकर्म १०६, **रूक्ष** (रूखा) नामकर्म १०७ । जिस कर्मके उदयसे मरणके पीछे और जन्मसे पहिले, अर्थात् विग्रहगति (बीचकी अवस्था) में मरणसे पहलेके शरीरके आकार आत्माके प्रदेश रहें, अर्थात् पहले शरीरके आकारका नाश न हो उसे **आनुपूर्व्य** नामकर्म १३ कहते हैं । वह चार प्रकार है ।—जिस कर्मके उदयसे नरकगतिको प्राप्त होनेके सन्मुख जीवके शरीरका आकार विग्रहगतिमें पूर्वशरीराकार रहे उसे **नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य** नामकर्म १०८ कहते हैं । इसीप्रकार **तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य** नामकर्म १०९, **मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य** नामकर्म ११०, **देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य** नामकर्म १११ भी जानना । जिस कर्मके उदयसे ऐसा शरीर मिले जो लोहेके गोलेकी तरह भारी और आककी रुईकी तरह हलका न हो उसे **अगुरुलघु** नामकर्म ११२ कहते हैं । जिसके उदयसे बड़े सींग, लम्बे स्तन अथवा मोटा पेट इत्यादि अपने ही घातक अङ्ग हों उसे **उपघात**[1] नामकर्म ११३ कहते हैं । जिसके उदयसे तीक्ष्ण सींग, नख, सर्प आदिकी दाढ, इत्यादि परके घात करनेवाले शरीरके अवयव हों उसे **परघात** नामकर्म ११४ कहते हैं । जिस कर्मके उदयसे श्वासोच्छ्वास हों उसे **उच्छ्वास** नामकर्म ११५ कहते हैं । जिसके उदयसे परको आताप करनेवाला शरीर हो वह **आतप**[2] नामकर्म ११६ है । जिस कर्मके उदयसे उद्योतरूप (आतापरहित प्रकाशरूप) शरीर हो उसे **उद्योत** नामकर्म ११७ कहते हैं । इसका उदय चन्द्रमाके बिंबमें और आगिया (जुगनू) आदि जीवोंके हैं । जिस कर्मके उदयसे आकाशमें गमन हो उसे **विहायोगति** नामकर्म १४ कहते हैं । उसके दो भेद हैं—**प्रशस्तविहायोगति** (शुभगमन) नामकर्म ११८, **अप्रशस्तविहायोगति** (अशुभगमन) नामकर्म ११९ । जिसके उदयसे दो इन्द्रियादि जीवोंकी जातिमें जन्म हो उसे **त्रसनामकर्म** १२० कहते हैं । जिसके उदयसे ऐसा शरीर हो जो कि दूसरे को रोके और दूसरे आप रुके उसे **बादर** नामकर्म १२१ कहते हैं । जिसके उदयसे जीव अपने अपने योग्य आहारादि (आहार १ शरीर २ इन्द्रिय ३ श्वासोच्छ्वास ४ भाषा ५ और मन ६) पर्याप्तियोंको पूर्ण करे वह **पर्याप्तिनामकर्म** १२२ है । जिसके उदयसे एक शरीरका एक ही जीव स्वामी हो उसे **प्रत्येकशरीर** नामकर्म १२३ कहते हैं । जिसके उदयसे शरीरके [3]रसादिक धातु और [4]वातादि

---

१. उपेत्य घातः उपघातः आत्मघात इत्यर्थः, २. इसका उदय सूर्यके बिम्बमें उत्पन्न हुए पृथ्वीकायिकजीवोंके हैं । ३. रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रवर्तते । मेदतोस्थि ततो मज्जं मज्जाच्छुक्रस्ततः प्रजा ।। १ ।। अर्थात् रससे लोही, लोहीसे मांस, मांससे मेद, मेदसे हाड, हाड़से मज्जा, मज्जासे वीर्य, वीर्यसे सन्तान होती है । इस तरह सात धातु हैं । ये सात धातु ३० दिनमें पूर्ण होती हैं । ४. वातः पित्तं तथा श्लेष्मा शिरा स्नायुश्च चर्म च । जठराग्निरिति प्राज्ञैः प्रोक्ताः सप्तोपधातवः ।। अर्थात् वात १ पित्त २ कफ ३ सिरा ४ स्नायु ५ चाम ६ पेट की आग ७ ये सात उपधातु हैं ।

उपधातु अपने अपने ठिकाने (स्थिर) रहे उसको **स्थिर** नामकर्म १२४ कहते हैं। इससे ही शरीरमें रोग शान्त रहता है। जिस कर्मके उदयसे मस्तक वगैरह शरीरके अवयव और शरीर सुन्दर हों उसे **शुभ** नामकर्म १२५ कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे दूसरे जीवोंको अच्छा लगनेवाला शरीर हो उसको **सुभग** नामकर्म १२६ कहते हैं। जिसके उदयसे स्वर (आवाज) अच्छा हो उसे **सुस्वर** नामकर्म १२७ कहते हैं। जिसके उदयसे कान्ति सहित शरीर हो उसको **आदेय** नामकर्म १२८ कहते हैं। जिसके उदयसे अपना पुण्यगुण जगत्में प्रकट हो अर्थात् संसारमें जीवकी प्रशंसा हो उसे **यशस्कीर्ति** नामकर्म १२९ कहते हैं। जिसके उदयसे शरीरके अंगोपांगोंकी ठीक ठीक रचना हो उसे **निर्माण** नामकर्म १३० कहते हैं। वह दो प्रकार है—जो जातिनामकर्मकी अपेक्षासे नेत्रादिक इन्द्रियें जिस जगह होनी चाहिये उसी जगह उन इन्द्रियोंकी रचना करै वह **स्थाननिर्माण** १ है, और जितना नेत्रादिकका प्रमाण (माप) चाहिये उतने ही प्रमाण (मापके बरोबर) बनावे वह **प्रमाणनिर्माण** २ है। जो श्रीमत् अर्हंतपदका कारण हो वह **तीर्थंकर** नामकर्म १३१ हैं। जिसके उदयसे एकेन्द्रियमें (पृथिवी १ जल २ तेज ३ वायु ४ वनस्पतिकाय ५ में) जन्म हो उसे **स्थावर** नामकर्म १३२ कहते हैं। जिसके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर हो जो कि न तो किसीको रोके और न किसीसे रुके उसे **सूक्ष्म** नामकर्म १३३ कहते हैं। जिसके उदयसे कोई भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो अर्थात् लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था हो उसको **अपर्याप्ति** नामकर्म १३४ कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे एक शरीरके अनेक जीव स्वामी हों उसको **साधरण** नामकर्म १३५ कहते हैं। जिसके उदयसे धातु और उपधातु अपने अपने ठिकाने न रहैं अर्थात् चलायमान होकर शरीरको रोगी बनावें उसको **अस्थिर** नामकर्म १३६ कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे शरीरके मस्तकादि अवयव सुन्दर न हों उसको **अशुभ** नामकर्म १३७ कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे रूपादिक गुण सहित होनेपर भी दूसरे जीवोंको अच्छा न लगे उसको **दुर्भग** नामकर्म १३८ कहते हैं। जिसके उदयसे अच्छा स्वर न हो उसको **दुःस्वर** नामकर्म १३९ कहते हैं। जिसके उदयसे प्रभा (कान्ति) रहित शरीर हो वह **अनादेय** नामकर्म १४० है। जिस कर्मके उदयसे संसारमें जीव की प्रशंसा न हो उसे **अयशःकीर्ति** नामकर्म १४१ कहते हैं। इसप्रकार सब मिलकर ९३ भेद नामकर्मके हुए॥

गोत्रकर्मके दो भेद हैं—जिसके उदयसे लोकपूजित (मान्य) कुलमें जन्म हो उसे **उच्चगोत्र** कर्म १४२ कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे लोकनिंदित कुलमें जन्म हो उसे **नीचगोत्र** कर्म १४३ कहते हैं।

अन्तरायकर्मके पांच भेद हैं—जिसके उदयसे देना चाहे परन्तु दे नहीं सके वह **दानांतराय** कर्म १४४ है। जिसके उदयसे लाभ (फायदा) की इच्छा करे लेकिन लाभ

नहीं हो उसे **लाभांतराय** कर्म १४५ कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे पुष्पादिक या अन्नादिक भोगरूप वस्तुको भोगना चाहें परन्तु भोग न सकै वह **भोगांतराय** कर्म १४६ हैं। जिसके उदयसे स्त्रीवगैरः उपभोग्य वस्तुका उपभोग न कर सके उसे **उपभोगांतराय** कर्म १४७ कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे अपनी शक्ति (बल) प्रकट करना चाहे परन्तु शक्ति प्रकट न हो उसे **वीर्यान्तराय** कर्म १४८ कहते हैं ॥ इस प्रकार १४८ उत्तर प्रकृतियोंका शब्दार्थ कहा।

अब नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियोंमें अभेद विवक्षासे जो जो प्रकृतियाँ जिन जिनमें शामिल हो सकती हैं उनको दिखाते हैं;—

देहे अविणाभावी बंधणसंघाद इदि अबंधुदया ।
वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये ॥ ३४ ॥

देहे अविनाभाविनौ बन्धनसंघातौ इति अबन्धोदयौ ।
वर्णचतुष्केऽभिन्ने गृहीते चतस्रः बन्धोदययोः ॥ ३४ ॥

अर्थ—शरीर नामकर्मके साथ अपना अपना बंधन और अपना अपना संघात ये दोनों अविनाभावी हैं। अर्थात् ये दोनों शरीरके विना नहीं हो सकते। इस कारण पांच बंधन और पांच संघात ये दश प्रकृतियां बन्ध और उदय अवस्थामें अभेद विवक्षासे जुदी नहीं गिनी जातीं, शरीर-नाम प्रकृतिमें ही शामिल हो जाती हैं। तथा वर्ण १ गंध २ रस ३ स्पर्श ४ इन चारमें ही इनके बीस भेद शामिल हो जाते हैं। इसकारण अभेदकी अपेक्षासे इनके भी बन्ध और उदय अवस्थामें चार ही भेद माने हैं ॥ ३४ ॥

ऐसा होनेपर बंध, उदय, तथा सत्ता रूप प्रकृतियां कितनी हुईं ? इसका उत्तर आचार्य चार गाथाओंसे कहते हुए प्रथम बंधरूप प्रकृतियों को गिनाते हैं;—

पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी ।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ ॥ ३५ ॥

पंच नव द्वौ षड्विंशतिरपि च चतस्रः क्रमेण सप्तषष्टिः ।
द्वौ च पञ्च च भणिता एता बन्धप्रकृतयः ॥ ३५ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी ९, वेदनीयकी २, मोहनीयकी २६, आयुकर्मकी ४, नामकर्मकी ६७, गोत्रकर्मकी २, अन्तरायकर्मकी ५, ये सब बंध होने योग्य प्रकृतियां हैं। क्योंकि मोहनीयमें सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति बन्धमें नहीं है यह पहले कहचुके हैं। और नामकर्ममें पहले गाथामें १०+१६=२६ प्रकृतियां अभेद विवक्षासे बंध अवस्थामें नहीं हैं ऐसा कह आये हैं। सो ९३ मेंसे २६ कम करनेपर (९३—२६ = ६७) ६७ बाकी रह जाती हैं ॥ ३५ ॥

अब उदय प्रकृतियोंको कहते हैं;—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी ।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ उदयपयडीओ ॥ ३६ ॥

पञ्च नव द्वौ अष्टाविंशतिः चतस्रः क्रमेण सप्तषष्टिः ।
द्वौ च पञ्च च भणिता एता उदयप्रकृतयः ॥ ३६ ॥

अर्थ—पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, सड़सठ, दो और पांच ये सब उदय प्रकृतियां हैं। मोहनीयकी पहली छव्वीस प्रकृतियोंमें सम्यग्मिथ्यात्व १ और सम्यक्त्व प्रकृति ये दो भी उदय अवस्थामें शामिल करनेसे अट्ठाईस प्रकृतियां हो जाती हैं ॥ ३६ ॥

आगे बंधरूप तथा उदयरूप कुल प्रकृतियोंकी भेदविवक्षा और अभेदविवक्षासे संख्या कहते हैं;—

भेदे छादालसयं इदरे बंधे हवंति वीससयं ।
भेदे सव्वे उदये बावीससयं अभेदम्हि ॥ ३७ ॥

भेदे षट्चत्वारिंशच्छतमितरे बन्धे भवन्ति विंशशतम् ।
भेदे सर्वे उदये द्वाविंशशतमभेदे ॥ ३७ ॥

अर्थ—बन्ध अवस्थामें, भेदविवक्षासे (भेदसे कहनेकी इच्छासे) १४६ प्रकृतियां हैं; क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति ये दोनों इस बंध अवस्थामें नहीं गिनी जातीं। और अभेदकी विवक्षासे १२० प्रकृतियाँ कहीं हैं। क्योंकि २६ प्रकृतियां दूसरे भेदोंमें शामिल कर दी गई हैं। उदय अवस्थामें, भेदविवक्षासे सब १४८ प्रकृतियां हैं। क्योंकि मोहनीय कर्मकी पूर्वोक्त दो प्रकृतियां भी यहां शामिल हो जाती हैं। तथा अभेद विवक्षासे १२२ प्रकृतियां कही हैं। क्योंकि २६ भेद दूसरे भेदोंमें गर्भित हो जाते हैं यह पहेले ही कह चुके हैं ॥ ३७ ॥

आगे सत्तारूप प्रकृतियोंकी संख्या कहते हैं;—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणउदी ।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ सत्तपयडीओ ॥ ३८ ॥

पञ्च नव द्वौ अष्टाविंशतिः चत्वारः क्रमेण त्रिनवतिः ।
द्वौ च पञ्च च भणिता एताः सत्त्वप्रकृतयः ॥ ३८ ॥

अर्थ—पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानवै, दो और पाँच, इस तरह सब १४८ सत्तारूप (मौजूद रहने योग्य) प्रकृतियां कही है ॥ ३८ ॥

घातिकर्म जो पहले कहे थे उनके सर्वघाती और देशघातीकी अपेक्षा दो भेद हैं। उन दोनोंमें से अब सर्वघातीके भेदोंको कहते हैं,—

केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायबारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधह्मि॥ ३९॥

केवलज्ञानावरणं दर्शनषट्कं कषायद्वादशकम्।
मिथ्यात्वं च सर्वघातीनि सम्यग्मिथ्यात्वमबन्धे॥ ३९॥

अर्थ—केवलज्ञानावरण १, केवलदर्शनावरण और पांच निद्रा इस प्रकार दर्शनावरणके छः भेद, तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, क्रोध मान माया लोभ ये बारह कषाय, और मिथ्यात्व मोहनीय, सब मिलकर २० प्रकृतियां सर्वघाती हैं। तथा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति भी बन्धरहित अवस्थामें अर्थात् उदय और सत्ता अवस्थामें सर्वघाती है। परन्तु यह सर्वघाती जुदी ही जातिकी है॥ ३९॥

अब देशघाती प्रकृतियोंको कहते हैं;—

णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं।
णव णोकसाय विग्घं छव्वीसा देसघादीओ॥ ४०॥

ज्ञानावरणचतुष्कं त्रिदर्शनं सम्यक्त्वं च संज्वलनम्।
नव नोकषाया विघ्नं षड्विंशतिः देशघातीनि॥ ४०॥

अर्थ—ज्ञानावरणके चार भेद (केवलज्ञानावरणको छोड़कर), दर्शनावरणके तीन भेद (उक्त छः भेदोंके सिवाय), सम्यक्त्वप्रकृति, संज्वलन-क्रोधादि चार, हास्यादि नोकषाय नव; और अंतरायके पांच भेद, इसतरह छव्वीस देशघाती कर्म हैं। क्योंकि इनके उदय होनेपर भी जीवका गुण प्रगट रहता है॥ ४०॥

इसप्रकार घातियाकर्मोंके दो भेद कहकर, अब अघातिया कर्मोंके जो प्रशस्त तथा अप्रशस्त दो भेद हैं, उनमें प्रशस्त प्रकृतियोंको दो गाथाओंसे कहते हैं:—

सादं तिण्णेवाऊ उच्चं णरसुरदुगं च पंचिंदी।
देहा बंधणसंघादंगोवंगाइं वण्णचओ॥ ४१॥
समचउरवज्जरिसहं उवघादूणगुरुछक्क सग्गमणं।
तसबारसट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था॥ ४२॥ जुम्मं।

सातं त्रीण्येवायूंषि उच्चं नरसुरद्विकं च पञ्चेन्द्रियम्।
देहा बन्धनसंघाताङ्गोपाङ्गानि वर्णचतुष्कम्॥ ४१॥
समचतुरस्रवज्रर्षभमुपघातोनागुरुषट्कं सद्गमनम्।
त्रसद्वादशाष्टषष्टिः द्वाचत्वारिंशदभेदतः शस्ताः॥ ४२॥ युग्मम्।

अर्थ—सातावेदनीय १, तिर्यंच मनुष्य देवायु ३, उच्चगोत्र १, मनुष्यगति १ मनुष्यगत्यानुपूर्वी १ देवगति १ देवगत्यानुपूर्वी १, पंचेंद्रिय जाति १, शरीर ५, बंधन ५, संघात ५,

अंगोपांग तीन, शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इन चारके २० भेद, समचतुरस्रसंस्थान १, वज्रर्षभनाराच संहनन १, और उपघातके विना अगुरुलघु आदि छह, तथा प्रशस्तविहायोगति १, और त्रस आदिक १२, इसप्रकार ६८ प्रकृतियां भेदविवक्षासे प्रशस्त (पुण्यरूप) कहीं हैं। और अभेद विवक्षासे ४२ ही पुण्य प्रकृतियां हैं। क्योंकि पहिली रीति के अनुसार २६ कम हो जाती हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

अब अप्रशस्त कर्मप्रकृतियोंकी संख्या दो गाथाओंमें दिखाते हैं; —

घादी णीचमसादं णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादी-
संठाणसंहदीणं चदुपणपणगं च वण्णचओ ॥ ४३ ॥
उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु ।
बंधुदयं पडि भेदे अडणउदि सयं दुचदुरसीदिदरे ॥ ४४ ॥ जुम्मं ।

घातीनि नीचमसातं निरयायुः निरयतिर्यग्द्विकं जाति- ।
संस्थानसंहतीनां चतुःपञ्चपञ्चकं च वर्णचतुष्कम् ॥ ४३ ॥
उपघातमसद्गमनं स्थावरदशकं च अप्रशस्ता हि ।
बन्धोदयं प्रति भेदे अष्टनवतिः शतं द्वि-चतुरशीतिरितरे ॥ ४४ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—चारों घातिया कर्मोंकी प्रकृतियां, नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेंद्रियादिजाति ४, समचतुरस्रको छोड़कर पाँच संस्थान, पहिले संहननके सिवाय पांच संहनन, अशुभ वर्ण रस गंध स्पर्श, ये चार अथवा इनके बीस भेद, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, और स्थावर आदिक दस, ये अप्रशस्त (पाप) प्रकृतियां हैं। ये भेदविवक्षासे बन्धरूप ९८ हैं, और उदयरूप १०० हैं। तथा अभेदविवक्षासे बन्धयोग्य ८२ और उदयरूप ८४ प्रकृतियां हैं। क्योंकि वर्णादिक चारके सोलह भेद कम हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

आगे अनन्तानुबन्धी आदि चार कषायोंका कार्य दिखाते हैं;

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं ।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि ॥ ४५ ॥

प्रथमादिकाः कषायाः सम्यक्त्वं देशसकलचारित्रम् ।
यथाख्यातं घातयन्ति च गुणनामानो भवन्ति शेषा अपि ॥ ४५ ॥

अर्थ—पहली-अनन्तानुबन्धी आदिक अर्थात् अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन, ये चार कषाय, क्रमसे सम्यक्त्वको; देशचारित्रको, सकलचारित्रको और यथाख्यातचारित्रको घातती हैं। अर्थात् सम्यक्त्व वगैरह को प्रकट नहीं होने देतीं।

---

१. वर्णादि चार अथवा उनके २० भेद पुण्य रूप भी हैं तथा पापरूप भी हैं। इस कारण ये दोनों ही भेदोंमें गिने जाते हैं। और इसी कारण १४८ में २० भेद अधिक जोड़नेसे १६८ भेद हो जाते हैं।

प्रकृतियोंका फल होता है । चार आनुपूर्वी प्रकृतियां **क्षेत्रविपाकी** हैं; क्योंकि परलोकको गमन करते हुए जीवके मार्गमें ही इनका उदय होता है । और बाकी जो अठत्तर प्रकृतियां हैं वे सब **जीवविपाकी** जानना । क्योंकि नारक आदि जीवकी पर्यायोंमें ही इनका फल होता है ॥४८॥

अब उन्हीं अठत्तर प्रकृतियोंको गिनाते हैं,—

वेदणियगोदघादीणेकावण्णं तु णामपयडीणं ।
सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवविवाई ॥४९॥

वेदनीयगोत्रघातिनामेकपञ्चाशत्तु नामप्रकृतीनाम् ।
सप्तविंशतिश्चैता अष्टसप्ततिः जीवविपाकिन्यः ॥ ४९ ॥

अर्थ—वेदनीयकी २, गोत्रकी २, घातियाकर्मोंकी ४७, इसप्रकार ५१ और २७ नामकर्मकी इसतरह ५१+२७=७८ प्रकृतियां जीवविपाकी हैं ॥ ४९ ॥

आगे नामकर्मकी सत्ताईस प्रकृतियोंकी संख्या दिखाते हैं,—

तित्थयरं उस्सासं बादरपज्जत्तसुस्सरादेज्जं ।
जसतसविहायसुभगदु चउगइ पणजाइ सगवीसं ॥५०॥

तीर्थंकरमुच्छ्वासं बादरपर्याप्तसुस्वरादेयम् ।
यशस्त्रसविहायः सुभगद्वयं चतुर्गतयः पञ्चजातयः सप्तविंशतिः ॥ ५० ॥

अर्थ—तीर्थंकर प्रकृति और उच्छ्वास प्रकृति, तथा बादर-पर्याप्त-सुस्वर-आदेय-यशस्कीर्ति-त्रस-विहायोगति और सुभग इनका जोड़ा, अर्थात् बादर-सूक्ष्म आदिक १६ और नरकादि चार गति, तथा एकेन्द्रियादि पांच जाति; इसप्रकार सत्ताईस नामकर्मकी प्रकृतियां जीवविपाकी जानना ॥५०॥

अब उन्हीं सत्ताईस प्रकृतियोंको प्रकारान्तरसे दिखाते हैं;—

गदि जादी उस्सासं विहायगदि तसतियाण जुगलं च ।
सुभगादिचउज्जुगलं तित्थयरं चेदि सगवीसं ॥ ५१ ॥

गतिः जातिः उच्छ्वासं विहायोगतिः त्रसत्रयाणां युगलं च ।
सुभगादिचतुर्युगलं तीर्थंकरं चेति सप्तविंशतिः ॥ ५१ ॥

अर्थ—चार गति, पांच जाति, उच्छ्वास, विहायोगति, त्रस-बादर-पर्याप्त इन तीनका जोड़ा (त्रस, स्थावर वगैरह) एवं सुभग-सुस्वर-आदेय-यशकीर्ति इन चारका जोड़ा (सुभग, दुर्भग आदि) और एक तीर्थंकर प्रकृति, इस प्रकार क्रमसे सत्ताईसकी गिनती कही है ॥५१॥

अब यहां मध्यम रुचिवाले श्रोताओंको विशेष समझनेके लिये नामादिक चार निक्षेपोंसे कर्मका स्वरूप चौंतीस गाथाओंसे कहते हैं । क्योंकि विना चार निक्षेपोंके वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता;—

१-यद्वा "जीवविवाईओ" इति पाठः । जीवविपाकिन्य इत्यर्थः ।

णामं ठवणा दवियं भावोत्ति चउव्विहं हवे कम्मं।
पयडी पावं कम्मं मलंति सण्णा हु णाममलं ॥ ५२ ॥
नाम स्थापना द्रव्यं भाव इति चतुर्विधं भवेत् कर्म।
प्रकृतिः पापं कर्म मलमिति संज्ञा हि नाममलम् ॥५२॥

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे कर्म चार तरहका है। इनमें पहला भेद संज्ञारूप है। प्रकृति पाप कर्म और मल ये कर्मकी संज्ञायें हैं। इन संज्ञाओंको ही **नामनिक्षेपसे** कर्म कहते हैं ॥ ५२ ॥

अब प्रकरणवश इन चार निक्षेपोंका स्वरूप कहते हैं। क्योंकि इनका स्वरूप जाने विना वस्तुका किस तरह व्यवहार होता है सो मालूम नहीं होता। जो युक्तिसे सुयुक्तमार्ग होते हुए कार्यके वशसे नाम स्थापना, द्रव्य और भावरूपसे पदार्थका व्यवहार करना उसे **निक्षेप** कहते हैं। वह नामादि[1] भेदसे चार प्रकारका है। जिस वस्तुमें जो गुण नहीं है उसको उस नामसे कहना उसे **नामनिक्षेप** कहते हैं। जैसे किसीने अपने लड़केकी संज्ञा ऋषभदेव रक्खी। उसमें यद्यपि ऋषभदेव तीर्थंकरके गुण नहीं हैं, फिरभी केवल व्यवहारके लिये वह संज्ञा रक्खी है। अतएव उसको ऋषभदेवका नामनिक्षेप कहेंगे। **स्थापनानिक्षेप** वह है जो कि साकार तथा निराकार (मनुष्यादि शरीरका आकार न हो और किसी शकलका पिंड हो) काठ पत्थर चित्राम (मूर्ति) वगैरहमें "ये वे ही ऋषभदेव तीर्थंकर हैं" इसप्रकारका अपने परिणामोंसे निवेश करना। इन दोनोंमें इतना ही भेद है कि, नाममें मूल पदार्थकी तरह सत्कार आदिककी प्रवृत्ति नहीं होती, और स्थापनामें मूल पदार्थ सरीखा ही आदर सत्कार किया जाता है।

जो पदार्थ आगामी (होनेवाली) पर्यायकी योग्यता रखता हो उसको **द्रव्यनिक्षेप** कहते हैं। जैसे—राजाके पुत्रको राजा कहना, अथवा केवलज्ञान अवस्थाको जो प्राप्त होनेवाले हैं उन ऋषभदेवको गृहस्थादि अवस्थामें तीर्थंकर कहना। वर्तमानपर्याय सहित वस्तुको **भावनिक्षेप** कहते हैं। जैसे राज्यकार्य करते हुयेको राजा कहना, अथवा केवलज्ञान प्राप्त हो जानेपर ऋषभदेवको तीर्थंकर कहना। इस तरह चार निक्षेपोंका स्वरूप कहा।

आगे स्थापनारूप कर्मको कहते हैं;—

सरिसासरिसे दव्वे मदिणा जीवट्ठियं खु जं कम्मं।
तं एदंति पदिट्ठा ठवणा तं ठावणाकम्मं ॥५३॥

---

१ "अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये। यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥१॥ साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम्। सोयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥ २ ॥ आगामिगुणयोग्योर्थो द्रव्यन्यासस्य गोचरः। तत्कालपर्ययाक्रान्तं वस्तु भावो निगद्यते ॥ ३ ॥" इस प्रकार चार निक्षेपोंका स्वरूप कहा है।

सदृशासदृशे द्रव्ये मत्या जीवस्थितं खलु यत्कर्म ।
तदेतदिति प्रतिष्ठा स्थापना तत्स्थापनाकर्म ॥ ५३ ॥

अर्थ—सदृश अर्थात् कर्मसरीखा, और असदृश अर्थात् जो कर्मके समान न हो ऐसे किसी भी द्रव्यमें अपनी बुद्धिसे ऐसी स्थापना करना कि जो जीवमें कर्म मिले हुये हैं वेही ये हैं इस अवधानपूर्वक किये गये निवेशको ही स्थापना कर्म कहते हैं ॥ ५३ ॥

आगे द्रव्यनिक्षेपरूप कर्मका स्वरूप दिखाते हैं;—

दव्वे कम्मं दुविहं आगमणोआगमंति तप्पढमं ।
कम्मागमपरिजाणुगजीवो उवजोगपरिहीणो ॥ ५४ ॥

द्रव्ये कर्म द्विविधमागमनोआगममिति तत्प्रथमम् ।
कर्मागमपरिज्ञायकजीव उपयोगपरिहीनः ॥ ५४ ॥

अर्थ—द्रव्यनिक्षेपरूप कर्म दो प्रकार है—एक **आगमद्रव्यकर्म** दूसरा **नोआगमद्रव्यकर्म** । इन दोनोंमें जो कर्मका स्वरूप कहनेवाले शास्त्रका जाननेवाला परंतु वर्तमानकालमें उस शास्त्रमें उपयोग (ध्यान) नहीं रखनेवाला जीव है वह पहला **आगमद्रव्यकर्म** है ॥ ५४

अब दूसरा नोआगमद्रव्यकर्म कहते हैं;—

जाणुगसरीर भवियं तव्वदिरित्तं तु होदि जं विदियं ।
तत्थ सरीरं तिविहं तियकालगयंति दो सुगमा ॥ ५५ ॥

ज्ञायकशरीरं भावि तद्व्यतिरिक्तं तु भवति यद्द्वितीयम् ।
तत्र शरीरं त्रिविधं त्रयकालगतमिति द्वे सुगमे ॥ ५५ ॥

अर्थ—दूसरा जो **नोआगमद्रव्यकर्म** है वह ज्ञायकशरीर १ भावि २ तद्व्यतिरिक्त ३ के भेदसे तीन प्रकारका है। उनमेंसे **ज्ञायकशरीरकर्म** (कर्मस्वरूपके जाननेवाले जीवका शरीर) भूत वर्तमान भावी, इसतरह तीन कालोंकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। उन तीनोंमेंसे वर्तमान तथा भावी शरीर इन दोनोंका अर्थ समझनेमें सुगम है, कठिन नहीं है। क्योंकि वर्तमान शरीर वह है जिसको कर रहा है, और भावि शरीर वह है कि जिसको आगामीकालमें धारण करेगा ॥ ५५ ॥

आगे भूतशरीर (जिसको छोड़कर आया है वह शरीर) के भेद दिखलाते हैं;—

भूदं तु चुदं चइदं चत्तंति तेधा चुदं सपाकेण ।
पडिदं कदलीघादपरिच्चागेणूणयं होदि ॥ ५६ ॥

भूतं तु च्युतं च्यावितं त्यक्तमिति त्रेधा च्युतं स्वपाकेन ।
पतितं कदलीघातपरित्यागेनोनं भवति ॥ ५६ ॥

अर्थ—भूतज्ञायकशरीर, च्युत १ च्यावित २ त्यक्त ३ के भेदसे तीन तरहका है। उनमें जो दूसरे किसी कारणके विना केवल आयुके पूर्ण होनेपर नष्ट होजाय वह **च्युतशरीर** है। यह च्युतशरीर कदलीघात (अकालमृत्यु) और सन्यास इन दोनों अवस्थाओंसे रहित होता है॥ ५६॥

अब कदलीघातमरणका लक्षण कहते हैं;—

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं।
उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ॥ ५७॥

विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रघातसंक्लेशैः।
उच्छ्वासाहारयोः निरोधतः छिद्यते आयुः॥ ५७॥

अर्थ—विष भक्षणसे अथवा विषवाले जीवोंके काटनेसे, रक्तक्षय अर्थात् लोहू जिसमें सूखता जाता है ऐसे रोगसे अथवा धातुक्षयसे, (उपचारसे-लोहूके संबंधसे यहां धातुक्षय भी समझना चाहिये), भयंकर वस्तुके दर्शनसे या उसके विना भी उत्पन्न हुए भयसे, शस्त्रों (तलवार आदि हथियारों) के घातसे; संक्लेश[1] अर्थात् शरीर वचन तथा मनद्वारा आत्माको अधिक पीड़ा पहुंचानेवाली क्रिया होनेसे, श्वासोच्छ्वासके रुकजानेसे, और आहार (खाना पीना) नहीं करनेसे इस जीवकी आयु कम हो जाती है। इन कारणोंसे जो मरण हो अर्थात् शरीर छूटे उसे कदलीघात मरण अथवा अकालमृत्यु कहते हैं॥ ५७॥

आगे च्यावित और त्यक्त-भूतज्ञायकशरीरका लक्षण कहते हैं;—

कदलीघादसमेदं चागविहीणं तु चइदमिदि होदि।
घादेण अघादेण व पडिदं चागेण चत्तमिदि॥ ५८॥

कदलीघातसमेतं त्यागविहीनं तु च्यावितमिति भवति।
घातेन अघातेन वा पतितं त्यागेन त्यक्तमिति॥ ५८॥

अर्थ—जो ज्ञायकका भूत शरीर कदलीघातसहित नष्ट हो गया हो परंतु सन्यासविधि रहित हो उसे **च्यावितशरीर** कहते हैं। और जो कदलीघातसहित अथवा कदलीघातके विना संन्यासरूप परिणामोंसे शरीर छोड़ दिया हो उसे **त्यक्त** कहते हैं॥ ५८॥

---

१ अधिक दौड़नेसे जो अधिक श्वासें चलती हैं वहां कायकी क्रिया तथा मनकी क्रियारूप संक्लेश परिणाम होते हैं। इस कारण अधिक श्वासका चलना भी अकालमृत्युका निमित्त कारण है। इस एक ही दृष्टांतको देखकर अज्ञानी लोक एकांतसे श्वासके ऊपर ही आयुके कमती बढ़ती होनेका अनुमान कर श्वासके कमती बढ़ती चलनेसे आयु घट बढ़ जाती है ऐसा श्रद्धान कर लेते हैं। उनके भ्रम दूर करनेके लिये आठ कारण गिनाये हैं। क्योंकि यदि एकहीके ऊपर विश्वास किया जाय तो शस्त्रके लगनेसे श्वास चलना तो अधिक नहीं मालूम पड़ता, वहां पर या तो अपमृत्यु न होनी चाहिये, अथवा अधिक श्वास चलने चाहिये। दूसरी बात यह है कि भुज्यमान आयु कभी भी बढ़ती नहीं है। समाधिमें श्वास कम चलते हैं इसलिये आयु बढ़ जाती है ऐसा मानना मिथ्या है। वहां पर श्वांसके निरोधसे आयु कम नहीं होती।

अब त्यक्तशरीर (संन्याससहित शरीर) के भेद दिखाते हैं;—

भत्तपइण्णाइंगिणिपाउग्गविधीहिं चत्तमिदि तिविहं ।
भत्तपइण्णा तिविहा जहण्णमज्झिमवरा य तहा ॥ ५९ ॥

भक्तप्रतिज्ञाइङ्गिनीप्रायोग्यविधिभिः त्यक्तमिति त्रिविधम् ।
भक्तप्रतिज्ञा त्रिविधा जघन्यमध्यमवरा च तथा ॥ ५९ ॥

अर्थ—त्यक्तशरीर, भक्तप्रतिज्ञा १ इंगिनी २ और प्रायोग्य ३ की विधिसे तीन प्रकारका है । उनमें **भक्तप्रतिज्ञा** जघन्य १ मध्यम २ तथा उत्कृष्ट ३ के भेदसे तीन तरह की हैं ॥ ५९ ॥

आगे इन जघन्य आदि भेदोंका काल कहते हैं;—

भत्तपइण्णाइविहि जहण्णमंतोमुहुत्तयं होदि ।
वारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदिमज्झिमया ॥ ६० ॥

भक्तप्रतिज्ञादिविधिः जघन्योऽन्तर्मुहूर्तको भवति ।
द्वादशवर्षो ज्येष्ठः तन्मध्ये भवति मध्यमकः ॥ ६० ॥

अर्थ—भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भोजनकी प्रतिज्ञा कर जो संन्यासमरण हो उसके कालका प्रमाण जघन्य (कमसे कम) अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट (ज्यादासे ज्यादा) बारह वर्ष प्रमाण है । तथा मध्यके भेदोंका काल एक एक समय बढ़ता हुआ हैं । उसका अंतर्मुहूर्तसे ऊपर और बारह वर्षके भीतर जितने भेद हैं उतना प्रमाण समझना ॥ ६० ॥

अब इंगिनीमरण और प्रायोपगमन (प्रायोग्यविधि) मरणका लक्षण कहते हैं;—

अप्पोवयारवेक्खं परोवयारूणमिंगिणीमरणं ।
सपरोवयारहीणं मरणं पाओवगमणमिदि ॥ ६१ ॥

आत्मोपकारापेक्षं परोपकारोनमिङ्गिनीमरणम् ।
स्वपरोपकारहीनं मरणं प्रायोपगमनमिति ॥ ६१ ॥

अर्थ—अपने शरीरकी टहल आपही अपने अंगोंसे करे, किसी दूसरेसे रोगादिका उपचार न करावे, ऐसे विधानसे जो संन्यास धारण कर मरे उस मरणको **इंगिनीमरण** संन्यास कहते हैं । और जिसमें अपना तथा दूसरेका भी उपचार (सेवा) न हो अर्थात् अपनी टहल न तो आप करे न दूसरे से ही करावे ऐसे संन्यासमरणको **प्रायोपगमन** कहते हैं ॥ ६१ ॥

आगे नोआगमद्रव्यकर्मका दूसरा भेद जो **भावी** है उसे कहते हैं;—

भवियंति भवियकाले कम्मागमजाणगो स जो जीवो ।
जाणुगसरीरभवियं एवं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥ ६२ ॥

भविष्यति भाविकाले कर्मागमज्ञायकः स यो जीवः ।
ज्ञायकशरीरभावी एवं भवतीति निर्दिष्टम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो कर्मके स्वरूपको कहनेवाले शास्त्रका जाननेवाला आगे होगा वह **ज्ञायकशरीर भावी** जीव है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ६२ ॥

अब तीसरा भेद जो तद्व्यतिरिक्त है उसे कहते हैं;—

तव्वदिरित्तं दुविहं कम्मं णोकम्ममिदि तहिं कम्मं ।
कम्मसरूवेणागय कम्मं दव्वं हवे णियमा ॥ ६३ ॥

तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्म नोकर्मेति तस्मिन् कर्म ।
कर्मस्वरूपेणागतं कर्म द्रव्यं भवेत् नियमात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—तद्व्यतिरिक्त जो नो आगमद्रव्यकर्मका भेद वह कर्म १ और नोकर्म २ के भेदसे दो प्रकार है । ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतिरूप अथवा उनके भेद मतिज्ञानावरणादि उत्तरप्रकृतिस्वरूप परिणमता हुआ जो कार्मणवर्गणारूप पुद्गल द्रव्य वह **कर्मतद्व्यतिरिक्त** नोआगमद्रव्यकर्म है ऐसा नियमसे जानना ॥ ६३ ॥

आगे नोकर्मतद्व्यतिरिक्तका स्वरूप और भावनिक्षेपरूपकर्मके भेद दिखाते हैं;—

कम्मद्दव्वादण्णं दव्वं णोकम्मदव्वमिदि होदि ।
भावे कम्मं दुविहं आगमणोआगमंति हवे ॥ ६४ ॥

कर्मद्रव्यादन्यद्द्रव्यं नोकर्मद्रव्यमिति भवति ।
भावे कर्म द्विविधमागमनोआगममिति भवेत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—कर्मस्वरूप द्रव्यसे भिन्न जो द्रव्य है वह **नोकर्म[1]-तद्व्यतिरिक्त** नोआगमद्रव्यकर्म है । और **भावनिक्षेपस्वरूप कर्म** आगम १ तथा नोआगम २ के भेदसे दो प्रकार कहा है ॥६४॥

अब आगमभावनिक्षेपकर्मका स्वरूप कहते हैं:—

कम्मागमपरिजाणगजीवो कम्मागमम्हि उवजुत्तो ।
भावागमकम्मोत्ति य तस्स य सण्णा हवे णियमा ॥ ६५ ॥

कर्मागमपरिज्ञायकजीवः कर्मागमे उपयुक्तः ।
भावागमकर्मेति च तस्य च संज्ञा भवेन्नियमात् ॥ ६५ ॥

अर्थ—जो जीव कर्मस्वरूपके कहनेवाले आगम (शास्त्र) का जाननेवाला और वर्तमान समयमें उसी शास्त्रका चिन्तवन (विचार) रूप उपयोगसहित हो उस जीवका नाम भावागमकर्म अथवा **आगमभावकर्म** निश्चयसे कहा जाता है ॥६५॥

---

१ नो (थोड़ा) कर्म, अर्थात् जो कर्मको फल देनेमें सहायता करनेवाला हो वह **नोकर्म** है ।

आगे नोआगमभावनिक्षेपकर्मको कहते हैं,—

णोआगमभावो पुण कम्मफलं भुंजमाणगो जीवो ।
इदि सामण्णं कम्मं चउव्विहं होदि णियमेण ॥ ६६ ॥

नोआगमभावः पुनः कर्मफलं भुञ्जमानकः जीवः ।
इति सामान्यं कर्म चतुर्विधं भवति नियमेन ॥ ६६ ॥

अर्थ— कर्मके फलको भोगनेवाला जो जीव वह **नोआगम** भावकर्म है। इस तरह निक्षेपोंकी अपेक्षा सामान्यकर्म चार प्रकारका नियमसे जानना ॥६६॥

आगे कर्मके विशेष भेद जो मूलप्रकृति तथा उत्तरप्रकृतियां हैं उनमें नामादि चार निक्षेपके भेदोंकी विशेषता दिखाते हैं;—

मूलुत्तरपयडीणं णामादी एवमेव णवरिं तु ।
सगणामेण य णामं ठवणा दवियं हवे भावो ॥ ६७ ॥

मूलोत्तरप्रकृतीनां नामादय एवमेव नवरि तु ।
स्वकनाम्ना च नाम स्थापना द्रव्यं भवेद् भावः ॥६७॥

अर्थ—कर्मकी मूलप्रकृति ८ तथा उत्तर प्रकृति १४८ हैं । इन दोनोंके जो नामादि चार निक्षेप हैं उनका स्वरूप सामान्यकर्मकी तरह समझना । परन्तु इतनी विशेषता है कि, जिस प्रकृतिका जो नाम हो उसीके अनुसार नाम १ स्थापना २ द्रव्य ३ तथा भाव ४ निक्षेप होते हैं ॥६७॥

अब कुछ और भी विशेषता दिखाते हैं;—

मूलुत्तरपयडीणं णामादि चउव्विहं हवे सुगमं ।
वज्जित्ता णोकम्मं णोआगमभावकम्मं च ॥ ६८ ॥

मूलोत्तरप्रकृतीनां नामादि चतुर्विधं भवेत्सुगमम् ।
वर्जयित्वा नोकर्म नोआगमभावकर्म च ॥ ६८ ॥

अर्थ—मूलप्रकृति तथा उत्तरप्रकृतियोंके नामादिक चार भेदोंका स्वरूप समझना सरल है; परन्तु उनमें द्रव्य तथा भावनिक्षेपके भेदोंमेंसे नोकर्म तथा नोआगमभावकर्मका स्वरूप समझना कठिन है ॥ ६८ ॥

अतएव उन दोनोंको अर्थात् नोकर्म और नोआगमभावकर्मको मूल तथा उत्तर दोनों प्रकृतियोंमें घटित करते हैं, और उसमें भी क्रमानुसार पहले नोकर्मको मूलप्रकृतियोंमें जोड़ते हैं;—

पडपडिहारसिमज्जा आहारं देह उच्चणीचंगं ।
भंडारी मूलाणं णोकम्मं दवियकम्मं तु ॥ ६९ ॥

पटप्रतीहारासिमद्यानि आहारं देह उच्चनीचाङ्गम् ।
भण्डारी मूलानां नोकर्म द्रव्यकर्म तु ॥ ६९ ॥

अर्थ—द्रव्यनिक्षेपकर्मका जो एक भेद 'नोकर्मतद्व्यतिरिक्त' है उसीको यहां **नोकर्म** शब्दसे समझना । और जिस प्रकृतिके फल देनेमें जो निमित्तकारण हो (सहायता करता हो) वही उस प्रकृतिका नोकर्म जानना । इस अभिप्रायको धारण करके ही यहांपर नोकर्मोंको बताते हैं । ज्ञानावरणादि ८ मूलप्रकृतियोंके **नोकर्म** द्रव्यकर्म क्रमसे, वस्तुके चारोंतरफ लगा हुआ कनातका कपड़ा १, द्वारपाल २, शहत लपेटी तलवारकी धार ३, शराब ४; अन्नादि आहार ५, शरीर ६; प्रशस्त अप्रशस्त शरीर ७, और भंडारी ८, ये आठ जानना ॥ ६९ ॥

आगे उत्तरप्रकृतियोंके नोकर्म कहते हैं;—

पडविसयपहुदि दव्वं मदिसुदवाघादकरणसंजुत्तं ।
मदिसुदबोहाणं पुण णोकम्मं दवियकम्मं तु ॥ ७० ॥

पटविषयप्रभृति द्रव्यं मतिश्रुतव्याघातकरणसंयुक्तम् ।
मतिश्रुतबोधयोः पुनः नोकर्म द्रव्यकर्म तु ॥ ७० ॥

अर्थ—वस्तुस्वरूपके ढंकनेवाले वस्त्र आदि पदार्थ मतिज्ञानावरणके नोकर्म द्रव्यकर्म हैं । और इन्द्रियोंके रूपादिकविषय श्रुतज्ञान (शास्त्र ज्ञान व एक पदार्थसे दूसरे पदार्थके ज्ञान) को नहीं होने देते इस कारण श्रुतज्ञानावरण कर्मके नोकर्म हैं । अर्थात् जो विषयोंमें मग्न रहता है उसे शास्त्रके विचार करनेमें रुचि नहीं होती । इसलिये (शास्त्रज्ञान अथवा अपने आत्माके स्वरूपका विचार करनेमें बाधा करनेवाले होने से) इन्द्रियोंके विषयोंको श्रुतज्ञानावरणका नोकर्म कहा है ॥ ७० ॥

अब अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरणके नोकर्म दिखाते हैं,—

ओहिमणपज्जवाणं पडिघादणिमित्तसंकिलेसयरं ।
जं बज्झट्ठं तं खलु णोकम्मं केवले णत्थि ॥ ७१ ॥

अवधिमनःपर्ययोः प्रतिघातनिमित्तसंक्लेशकरः ।
यः बाह्यार्थः स खलु नोकर्म केवले नास्ति ॥ ७१ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन दोनोंके घात करनेका निमित्त कारण जो संक्लेशरूप (खेदरूप) परिणाम उसको करनेवाली जो बाह्य वस्तु वह अवधिज्ञानावरण तथा मनःपर्ययज्ञानावरणका नोकर्म है । और केवलज्ञानावरणका नोकर्म द्रव्यकर्म कोई वस्तु नहीं है । क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक (कर्मोंके क्षयसे प्रगट) है । वहां संक्लेशरूप परिणाम नहीं हो सकते । और इसीलिये उस केवलज्ञानका घात करनेवाले संक्लेशरूप परिणामोंको कोई भी वस्तु उत्पन्न ही नहीं कर सकती ॥ ७१ ॥

अब दर्शनावरणके भेदोंके नोकर्म कहते हैं;—

पंचण्हं णिद्दाणं माहिसदहिपहुदि होदि णोकम्मं ।
वाघादकरपडादी चक्खुअचक्खूण णोकम्मं ॥ ७२ ॥

पञ्चानां निद्राणां माहिषदधिप्रभृति भवति नोकर्म ।
व्याघातकरपटादि चक्षुरचक्षुषोः नोकर्म ॥ ७२ ॥

अर्थ—पांच निद्राओंका नोकर्म, भैंसका दही लहसन खलि इत्यादिक हैं। क्योंकि ये निद्राकी अधिकता करनेवाली वस्तुयें हैं। और चक्षु तथा अचक्षुदर्शनके रोकनेवाले वस्त्र वगैरह द्रव्य चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरणकर्मके नोकर्म द्रव्यकर्म हैं ॥ ७२ ॥

ओहीकेवलदंसणणोकम्मं ताण णाणभंगो व ।
सादेदरणोकम्मं इट्ठाणिट्ठण्णपाणादी ॥ ७३ ॥

अवधिकेवलदर्शननोकर्म तयोः ज्ञानभङ्गो वा ।
सातेतरनोकर्म इष्टानिष्टान्नपानादि ॥ ७३ ॥

अर्थ—अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरणका नोकर्म अवधिज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरणके नोकर्मकी तरह ही जानना। और सातावेदनीय तथा असातावेदनीयका नोकर्म क्रमसे अपनेको रुचनेवाली तथा अपनेको नहीं रुचै ऐसी खाने पीने वगैरहकी वस्तु जानना ॥७३॥

अब मोहनीयकर्मके भेदोंके नोकर्म दिखाते हैं;—

आयदणाणायदणं सम्मे मिच्छे य होदि णोकम्मं ।
उभयं सम्मामिच्छे णोकम्मं होदि णियमेण ॥ ७४ ॥

आयतनानायतनं सम्यक्त्वे मिथ्यात्वे च भवति नोकर्म ।
उभयं सम्यग्मिथ्यात्वे नोकर्म भवति नियमेन ॥ ७४ ॥

अर्थ—जिन १, जिनमंदिर २, जिनागम ३; जिनागमके धारण करनेवाले ४; तप ५, और तपके धारक ६, ये छह आयतन सम्यक्त्व प्रकृतिके नोकर्म हैं। और कुदेव १, कुदेवका मंदिर २, कुशास्त्र ३; कुशास्त्रके धारक ४, खोटी तपस्या ५, खोटी तपस्याके करनेवाले ६, ये ६ अनायतन मिथ्यात्व प्रकृतिके नोकर्म हैं। तथा आयतन और अनायतन दोनों मिले हुये सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीयके नोकर्म हैं। ऐसा निश्चय कर समझना ॥ ७४ ॥

अणणोकम्मं मिच्छत्तायदणादी हु होदि सेसाणं ।
सगसगजोग्गं सत्थं सहायपहुदी हवे णियमा ॥ ७५ ॥

अननोकर्म मिथ्यात्वायतनादि हि भवति शेषाणाम् ।
स्वकस्वकयोग्यं शास्त्रं सहायप्रभृति भवेत् नियमात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—अनन्तानुवंधीकषायके नोकर्म मिथ्या आयतन अर्थात् कुदेव वगैरह छह अनायतन हैं। और बाकी बची हुई बारह कषायोंके नोकर्म, देशचारित्र, सकलचारित्र तथा यथाख्यातचारित्रके घातमें सहायता करने वाले काव्य, नाटक, कोक इत्यादि शास्त्र, और पापी जार (कुशीली) पुरुषोंकी संगति करना, इत्यादिक हैं। ऐसा नियमसे जानना ॥ ७५ ॥

थीपुंसंढसरीरं ताणं णोकम्म दव्वकम्मं तु ।
वेलंबको सुपुत्तो हस्सरदीणं च णोकम्मं ॥ ७६ ॥

स्त्रीपुंषण्ढशरीरं तेषां नोकर्म द्रव्यकर्म तु ।
विडम्बकः सुपुत्रः हास्यरत्योः च नोकर्म ॥ ७६ ॥

अर्थ—स्त्रीवेदका नोकर्म स्त्रीका शरीर, पुरुषवेदका नोकर्म पुरुषका शरीर है, और नपुन्सकवेदका नोकर्म द्रव्यकर्म उक्त दोनोंका कुछ कुछ मिश्रित चिन्हरूप नपुंसकका शरीर है। हास्यकर्मके नोकर्म विदूषक व बहुरूपिया वगैरह हैं जो कि हंसी ठठ्ठा करनेके पात्र हैं। रतिकर्मका नोकर्म अच्छा गुणवान् पुत्र है, क्योंकि गुणवान् पुत्रपर अधिक प्रीति होती है ॥ ७६ ॥

इट्ठाणिट्ठविजोग-जोगं अरदिस्स मुदसुपुत्तादी ।
सोगस्स य सिंहादी णिंदिददव्वं च भयजुगले ॥ ७७ ॥

इष्टानिष्टवियोगयोगः अरतेः मृतसुपुत्रादयः ।
शोकस्य च सिंहादयः निन्दितद्रव्यं च भययुगले ॥ ७७ ॥

अर्थ—अरतिकर्मका नोकर्मद्रव्य इष्टका (प्रियवस्तुका) वियोग होना और अनिष्ट अर्थात् अप्रियवस्तुका संयोग (प्राप्ति) होना है। शोकका नोकर्मद्रव्य सुपुत्र स्त्री वगैरहका मरना है। और सिंह आदिक भयके करनेवाले पदार्थ भयकर्मके नोकर्म द्रव्य हैं। तथा निंदित वस्तु जुगुप्साकर्मको नोकर्मद्रव्य हैं ॥ ७७ ॥

अव आयुकर्मके भेदोंके तथा नामकर्मके भेदोंके नोकर्म कहते हैं;—

णिरयायुस्स अणिट्ठाहारो सेसाणमिट्ठमण्णादी ।
गदिणोकम्मं दव्वं चउग्गदीणं हवे खेत्तं ॥ ७८ ॥

नरकायुषः अनिष्टाहारः शेषाणामिष्टमन्नादयः ।
गतिनोकर्म द्रव्यं चतुर्गतीनां भवेत् क्षेत्रम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—अनिष्ट आहार अर्थात् नरककी विषरूप मिट्टी आदि नरकायुका नोकर्मद्रव्य है। और बाकी तिर्यंच आदि तीन आयुकर्मोंका नोकर्म इन्द्रियोंको प्रिय लगे ऐसा अन्न पानी वगैरह है। और गतिनामकर्मका नोकर्म द्रव्य चार गतियोंका क्षेत्र (स्थान) है ॥७८॥

णिरयादीण गदीणं णिरयादी खेत्तयं हवे णियमा ।
जाईए णोकम्मं दव्विदियपोग्गलं होदि ॥ ७९ ॥

निरयादीनां गतीनां निरयादि क्षेत्रकं भवेत् नियमात् ।
जातेः नोकर्म द्रव्येन्द्रियपुद्गलो भवति ॥ ७९ ॥

अर्थ—नरकादि चार गतियोंका नोकर्मद्रव्य नियमसे नरकादि गतियोंका अपना अपना क्षेत्र है। और जातिकर्मका नोकर्म द्रव्येन्द्रियरूप पुद्गलकी रचना है ॥ ७९ ॥

एइंदियमादीणं सगसगदव्विदियाणि णोकम्मं ।
देहस्स य णोकम्मं देहुदयजदेहखंधाणि ॥ ८० ॥

एकेन्द्रियादीनां स्वकस्वकद्रव्येन्द्रियाणि नोकर्म ।
देहस्य च नोकर्म देहोदयजदेहस्कंधाः ॥ ८० ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय आदिक पांच जातियोंके नोकर्म अपनी अपनी द्रव्येन्द्रियें हैं। और शरीर नामकर्मका नोकर्मद्रव्य शरीरनाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुये अपने शरीरके स्कंधरूप पुद्गल जानना ॥ ८० ॥

ओरालियवेगुव्वियआहारयतेजकम्मणोकम्मं ।
ताणुदयजचउदेहा कम्मे विस्संचयं णियमा ॥ ८१ ॥

औदारिकवैगूर्विकाहारकतेजःकर्मनोकर्म ।
तेषामुदयजचतुर्देहा कर्मणि विश्रसोपचयो नियमात् ॥ ८१ ॥

अर्थ—औदारिक-वैक्रियक-आहारक-तैजस शरीरनामकर्मका नोकर्मद्रव्य अपने अपने उदयसे प्राप्त हुईं शरीरवर्गणा हैं। क्योंकि उन वर्गणाओंसे ही शरीर बनता है। और कार्माणशरीरका नोकर्मद्रव्य विस्रसोपचयरूप (स्वभावसे कर्म रूप होने योग्य कार्मण वर्गणा) परमाणु हैं ॥ ८१ ॥

बंधणपहुदिसमण्णियसेसाणं देहमेव णोकम्मं ।
णवरि विसेसं जाणे सगखेत्तं आणुपुव्वीणं ॥ ८२ ॥

बन्धनप्रभृतिसमन्वितशेषाणां देहमेव नोकर्म ।
नवरि विशेषं जानीहि स्वकक्षेत्रमानुपूर्वीणाम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—शरीरबंधन नामकर्मसे लेकर जितनी पुद्गलविपाकी प्रकृतियां हैं उनका, और पहले कही हुई प्रकृतियोंके सिवाय जीवविपाकी प्रकृतियोंमेंसे जितनी बाकी बचीं उनका नोकर्म शरीर ही है। क्योंकि उन प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुये सुखादिरूप कार्यका कारण शरीर ही है। क्षेत्रविपाकी चार आनुपूर्वी प्रकृतियोंका नोकर्म द्रव्य अपना अपना क्षेत्र ही है, इतनी विशेष बात जाननी। ८२ ॥

थिरजुम्मस्स थिराथिररसरुहिरादीणि सुहजुगस्स सुहं ।
असुहं देहावयवं सरपरिणदपोग्गलाणि सरे ॥ ८३ ॥
स्थिरयुग्मस्य स्थिरास्थिररसरुधिरादयः शुभयुगस्य शुभः ।
अशुभो देहावयवः स्वपरिणतपुद्गलाः स्वरे ॥ ८३ ॥

अर्थ—स्थिरकर्मका नोकर्म अपने अपने ठिकानेपर स्थिर रहनेवाले रस लोही वगैरह हैं और अस्थिर प्रकृतिके नोकर्म अपने अपने ठिकानेसे चलायमान हुए रस लोही आदिक हैं। शुभ प्रकृतिके नोकर्मद्रव्य शरीरके शुभ अवयव हैं, तथा अशुभ प्रकृतिके नोकर्मद्रव्य शरीरके अशुभ (जो देखनेमें सुन्दर न हों ऐसे) अवयव हैं । स्वर नामकर्मका नोकम सुस्वर-दुःस्वररूप परिणमे पुद्गल परमाणु हैं ॥ ८३ ॥

अब गोत्रकर्म तथा अंतरायकर्मके भेदोंके नोकर्म दिखाते हैं;—

उच्चस्सुच्चं देहं णीचं णीचस्स होदि णोकम्मं ।
दाणादिचउक्काणं विग्घगणगपुरिसपहुदी हु ॥ ८४ ॥
उच्चस्योच्चं देहं नीचं नीचस्य भवति नोकर्म ।
दानादिचतुर्णां विघ्नकनगपुरुषप्रभृतयो हि ॥ ८४ ॥

अर्थ—उच्चगोत्रका नोकर्मद्रव्य लोकपूजितकुलमें उत्पन्न हुआ शरीर है । और नीच गोत्रका नोकर्म लोकनिंदित कुलमें प्राप्त हुआ शरीर है । दानादिक चारका अर्थात् दान १ लाभ २ भोग ३ और उपभोगान्तराय ४ कर्मका नोकर्मद्रव्य दानादिकमें विघ्न करनेवाले पर्वत, नदी, पुरुष, स्त्री वगैरह जानने ॥ ८४ ॥

विरियस्स य णोकम्मं रुक्खाहारादिबलहरं दव्वं ।
इदि उत्तरपयडीणं णोकम्मं दव्वकम्मं तु ॥ ८५ ॥
वीर्यस्य च नोकर्म रूक्षाहारादि वलहरं द्रव्यम् ।
इति उत्तरप्रकृतीनां नोकर्म द्रव्यकर्म तु ॥ ८५ ॥

अर्थ—वीर्यांतराय कर्मके नोकर्म रूखा आहार वगैरह बलके नाश करनेवाले पदार्थ हैं। इसप्रकार उत्तरप्रकृतियोंके नोकर्म द्रव्यकर्मका स्वरूप कहा ॥ ८५ ॥

अब नोआगमभावकर्मको कहते हैं;—

णोआगमभावो पुण सगसगकम्मफलसंजुदो जीवो ।
पोग्गलविवाइयाणं णत्थि खु णोआगमो भावो ॥ ८६ ॥
नोआगमभावः पुनः स्वकस्वककर्मफलसंयुतो जीवः ।
पुद्गलविपाकिनां नास्ति खलु नोआगमो भावः ॥ ८६ ॥

अर्थ—जिस जिस कर्मका जो जो फल है उस फलको भोगते हुये जीवको ही उस उस कर्मका नोआगमभावकर्म जानना । पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंका नोआगमभावकर्म नहीं होता क्योंकि उनका उदय होनेपर भी जीवविपाकी प्रकृतियोंकी सहायताके विना साताजन्य सुखादिककी उत्पत्ति नहीं हो सकती । इस तरह सामान्य कर्मकी मूल उत्तर दोनों प्रकृतियोंके चार निक्षेप कहे ॥ ८६ ॥

इति प्रकृतिसमुत्कीर्तननामा प्रथमोऽधिकारः ॥ १ ॥

अब बंध-उदय-सत्त्वनामा दूसरे अधिकारको कहनेके पूर्व आचार्य मङ्गलाचरणपूर्वक उसके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

णमिऊण णेमिचंदं असहायपरक्कमं महावीरं ।
बंधुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे थवं वोच्छं ॥ ८७ ॥

नत्वा नेमिचन्द्रमसहायपराक्रमं महावीरम् ।
बन्धोदयसत्त्वयुक्तमोघादेशे स्तवं वक्ष्यामि ॥ ८७ ॥

अर्थ—मैं नेमिचन्द्र आचार्य, कर्मरूप वैरीके जीतनेमें असहाय–किसी दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा जिसमें नहीं है ऐसे पराक्रमवाले, तथा महावीर अर्थात् वंदनेवालोंको मनवांछित फलके देनेवाले, ऐसे नेमिनाथ तीर्थंकररूपी चन्द्रमाको नमस्कार करके, गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें कर्मोंके बंध–उदय–सत्त्वको बतानेवाले, और जिसमें कि सर्वांग अर्थके विस्तारका संक्षेपसे कथन है ऐसे स्तवरूप ग्रन्थको अब कहूँगा ॥ ८७ ॥

अब स्तवका लक्षण कहते हैं;—

सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं ।
वण्णणसत्थं थयथुइधम्मकहा होइ णियमेण ॥ ८८ ॥

सकलाङ्गैकाङ्गैकाङ्गमधिकारं सविस्तरं ससंक्षेपम् ।
वर्णनशास्त्रं स्तवस्तुतिधर्मकथा भवति नियमेन ॥ ८८ ॥

अर्थ—जिसमें सर्वांगसम्बन्धी अर्थ विस्तारसहित अथवा संक्षेपतासे कहा जाय ऐसे शास्त्रको स्तव कहते हैं । और जिसमें एक अंग (अंश) का अर्थ विस्तारसे अथवा संक्षेपसे हो उस शास्त्रको स्तुति कहते हैं । तथा अंगके एक अधिकारका अर्थ (पदार्थ) जिसमें विस्तारसे वा संक्षेपसे कहा जाय उसे वस्तु कहते है । और प्रथमानुयोगादि शास्त्रोंको धर्मकथा कहते हैं ॥ ८८ ॥

इसलिये (स्तव कहनेसे) यहाँ पर बंध–उदय–सत्ताका सब तरहसे विस्तारपूर्वक कथन किया जायगा, ऐसा समझना चाहिये ।

आगे कर्मकी बंधआदि तीन-बंध उदय और सत्ता अवस्थाओंमेंसे क्रमानुसार पहिले बंध अवस्थाको कहते हैं,—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधोत्ति चदुविहो बंधो ।
उक्कस्समणुक्कस्सं जहण्णमजहण्णगंति पुधं ॥ ८९ ॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्ध इति चतुर्विधो बन्धः ।
उत्कृष्टोनुत्कृष्टः जघन्योऽजघन्यक इति पृथक् ॥ ८९ ॥

अर्थ—प्रकृतिबंध १ स्थितिबंध २ अनुभागबंध ३ और प्रदेशबंध ४ इसतरह बंधके चार भेद हैं। तथा इनमें भी हरएक बंधके उत्कृष्ट १ अनुत्कृष्ट २ जघन्य ३ और अजघन्य ४ इसतरह चार चार भेद हैं ॥ ८९ ॥

प्रकृति आदि चार तरहके बंधोंका स्वरूप इसप्रकार है—प्रकृति अर्थात् स्वभाव उसका जो बंध सो प्रकृतिबंध। जैसे नीमका स्वभाव कडुआ और ईखका स्वभाव मीठा होता है, उसीतरह ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृति (स्वभाव) ज्ञानको ढंकना (रोकना) आदिक है। कर्मोंके इन स्वभावोंका आत्माके संबंधको पाकर प्रकट होना **प्रकृतिबंध** है। और आत्माके साथ कर्मोंके रहनेकी मर्यादा (मियाद) को **स्थितिबंध** कहते हैं। कर्मोंके फल देनेकी शक्तिकी हीनता वा अधिकताको **अनुभागबंध** कहते हैं। तथा बंधनेवाले कर्मोंकी संख्याको **प्रदेशबंध** कहते हैं ॥

आगे उत्कृष्टादिके भी भेद कहते हैं;—

सादिअणादी धुव अद्धुवो य बंधो दु जेट्ठमादीसु ।
णाणेगं जीवं पडि ओघादेसे जहाजोग्गं ॥ ९० ॥

साद्यनादी ध्रुव अध्रुवश्च बन्धस्तु ज्येष्ठादिषु ।
नानैकं जीवं प्रति ओघादेशे यथायोग्यम् ॥ ९० ॥

अर्थ—उत्कृष्ट आदिक भेदोंके भी सादि (जिसका छूटकर पुनः बंध हो) १, अनादिबंध (अनादिकालसे जिसके बंधका अभाव न हुआ हो) २, ध्रुवबंध ३ अर्थात् जिसका निरंतर बंध हुआ करै, और अध्रुवबंध ४ अर्थात् जो अंतरसहित बंध हो, इसप्रकार चार चार भेद हैं। इन बंधोंको नानाजीवोंकी तथा एक जीवकी अपेक्षासे गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें यथासंभव घटित करलेना चाहिये ॥ ९० ॥

ठिदिअणुभागपदेसा गुणपडिवण्णेसु जेसिमुक्कस्सा ।
तेसिमणुक्कस्सो चउव्विहोऽजहण्णेवि एमेव ॥ ९१ ॥

स्थित्यनुभागप्रदेशा गुणप्रतिपन्नेषु येषामुत्कृष्टाः ।
तेषामनुत्कृष्टः चतुर्विध अजघन्येपि एवमेव ॥ ९१ ॥

अर्थ—गुणप्रतिपन्न अर्थात् मिथ्यादृष्टि सासादनादिक ऊपर ऊपरके गुणस्थानवर्ती जीवोंमें जिन कर्मोंका स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबंध उत्कृष्ट होता है उन्हीं कर्मोंका अनुत्कृष्ट स्थिति, अनुभाग, प्रदेशबंध भी सादिबंधादिके भेदसे चार तरहका होता है । इसीतरह अजघन्य भी चार प्रकार है, अर्थात् जिन कर्मोंका स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबंध ऊपर ऊपर के गुणस्थानोंमें जघन्य पाया जाता है उन्हीं कर्मोंका अजघन्यबंध भी चार प्रकारका होता है ॥ ९१ ॥

इनका लक्षण आगे कहेंगे । परन्तु कुछ, उदाहरणके लिये थोड़ासा यहांपर भी दिखा-देते हैं—जैसे उपशमश्रेणी चढ़नेवाला जीव सूक्ष्मसांपराय (दशवाँ) गुणस्थानवर्ती हुआ । वहांपर ऊंचगोत्रका उत्कृष्ट अनुभाग बंध करके पीछे वह उपशांतकषाय (ग्यारहवां) गुणस्थानवर्ती हुआ । फिर वहांसे उतरके सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें आया । तब वहांपर उसने अनुत्कृष्ट ऊंचगोत्रका अनुभागबंध किया । उस जगह इस अनुत्कृष्ट उच्चगोत्रके अनुभागको सादिबंध कहते हैं । क्योंकि पहले इस बंधका अभाव हुआ था फिर उत्पत्ति (सद्भाव) हुई । और सूक्ष्मसांपरायसे नीचे रहनेवाले जीवोंके वह बंध अनादि है । अभव्य जीवोंके वह बंध ध्रुव है । तथा उपशमश्रेणीवालेके अनुत्कृष्ट बंधको छोड़कर जो उत्कृष्ट बंध होता है वह अध्रुवबन्ध है । इसप्रकार अनुत्कृष्ट उच्चगोत्रके अनुभागबंधमें चार भेद दिखलाये ॥ अब अजघन्यके चार भेद कहते हैं—जैसे कोई मिथ्यादृष्टि जीव सातवें नरककी पृथ्वीमें प्रथमोपशमसम्यक्त्वके सन्मुख हुआ; वहांपर मिथ्यादृष्टि (पहला) गुणस्थानके अंतसमयमें जघन्य नीचगोत्रका अनुभागबंध किया । फिर सम्यग्दृष्टि हुआ । उसके बाद फिर मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टि हुआ । वहांपर वह नीचगोत्रके अजघन्य अनुभागको बांधता है । उस जगह इस अजघन्य नीचगोत्रके अनुभागबंधको सादि कहना । फिर उसी मिथ्यादृष्टि जीवके द्वितीयादिक समयोंमें जो बंध है वह अनादि है । अभव्य जीवके वह बंध ध्रुव है । और जहां अजघन्यको छोड़ जघन्यको प्राप्त हुआ वहांपर वह बंध अध्रुव है । इसतरह अजघन्य नीचगोत्र के अनुभागबंधमें सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव चार भेद कहे । इसीप्रकार जहां जैसा संभव हो वहां वैसा अन्य बंधोंमें भी सादि वगैरः चार भेद समझलेना । प्रकृतिबंधमें उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट-अजघन्य-जघन्य ये भेद नहीं हैं । बाकी स्थिति अनुभाग और प्रदेशबंध इन तीनमें ही ये उत्कृष्टादिक भेद होते हैं ॥

आगे गुणस्थानोंमें प्रकृतिबंधका नियम कहते हैं;—

सम्मेव तित्थबंधो आहारदुगं पमादरहिदेसु ।
मिस्सूणे आउस्स य मिच्छादिसु सेसबंधोदु ॥ ९२ ॥

सम्यक्त्वे एव तीर्थबन्ध आहारद्विकं प्रमादरहितेषु ।
मिश्रोने आयुषश्च मिथ्यात्वादिषु शेषबन्धस्तु ॥ ९२ ॥

अर्थ—असंयत-चतुर्थ-गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान—अपूर्वकरणके छठे भागतक-

के सम्यग्दृष्टिके ही तीर्थङ्कर प्रकृतिका बंध होता है। आहारकशरीर और आहारक अङ्गोपाङ्ग प्रकृतियोंका बंध अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरणके छठे भागतक ही होता है। और आयुकर्मका बंध मिश्र गुणस्थान तथा निर्वृत्त्यपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त मिश्रकाययोग इन दोनोंके सिवाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त गुणस्थानतक ही होता है। तथा बाकी बची प्रकृतियोंका बंध मिथ्यादृष्टि वगैरः गुणस्थानोंमें अपनी अपनी बंधकी व्युच्छित्ति[1]क होता है॥ ९२॥

अब तीर्थङ्करप्रकृतिके बंधका विशेष नियम दिखाते हैं;—

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते॥ ९३॥

प्रथमोपशमे सम्यक्त्वे शेषत्रये अविरतादिचत्वारः।
तीर्थंकरबन्धप्रारम्भका नराः केवलिद्विकान्ते॥ ९३॥

अर्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वमें अथवा बाकीके तीनों–द्वितीयोपशमसम्यक्त्व–क्षायोपशम-सम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्वकी अवस्थामें, असंयतसे लेकर अप्रमत्तगुणस्थानतक चार गुणस्थानोंवाले मनुष्य ही, केवली–तीन जगत्को प्रत्यक्ष देखनेवाले तीर्थङ्कर (हितोपदेशी सर्वज्ञ) तथा श्रुतकेवली (द्वादशाङ्गके पारगामी) के निकट ही तीर्थङ्करप्रकृतिके बंधका आरंभ करते हैं॥ ९३॥

अब चौदह गुणस्थानोंमें कर्मप्रकृतियोंके बंधकी व्युच्छित्तिकी संख्या बताते हैं,—

सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क बंधवोछिण्णा।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को॥ ९४॥

षोडश पञ्चविंशतिः नभः दश चतस्रः षडेकैकं बन्धव्युच्छिन्नाः।
द्विके त्रिंशत् चतस्रः अपूर्वे पञ्च षोडश योगिनः एका॥ ९४॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि–पहले गुणस्थानके अन्तसमयमें सोलह प्रकृतियां बंध होनेसे व्युच्छिन्न होती हैं (बिछुड़ जाती हैं)। अर्थात् पहले गुणस्थानतक ही उनका बंध होता है, उससे आगेके गुणस्थानोंमें उनका बंध नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थानमें २५ प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है। तीसरेमें शून्य अर्थात् किसी प्रकृतिकी व्युच्छित्ति नहीं होती। चौथेमें

---

१ व्युच्छित्ति नाम बिछुड़नेका है–परन्तु जहांपर व्युच्छित्ति कही जाती है वहांपर उनका संयोग रहता है। जैसे दो मनुष्य एक नगरमें रहतेथे उनमेंसे एक पुरुष दूसरी जगह गया, वहांपर किसीने पूछा कि तुम कहां बिछुड़े थे? तब उसने कहा कि, मैं अमुक नगरमें बिछुड़ा था, अर्थात् उससे जुदा हुआ था। इसीतरह जहां जहां पर कर्मोंके बंध उदय अथवा सत्वकी व्युच्छित्ति बताई है, वहांपर तो उन उन कर्मोंका बंध उदय अथवा सत्व रहता है, उसके आगे नहीं रहता, ऐसा सर्वत्र समझ लेना। २ क्योंकि दूसरी जगह इतने उत्कृष्ट परिणामोंकी निर्मलता नहीं होसकती।

दशकी, पांचवेंमें चारकी; छट्ठेमें छहकी, सातवेंमें एक प्रकृतिको व्युच्छित्ति होती है। आठवें अपूर्वकरणगुणस्थानके सात भागोंमेंसे पहले भागमें दोकी, तथा दूसरे भागसे पांचवें भागतक शून्य, छठे भागमें तीसकी, सातवें भागमें चार प्रकृतियोंकी बंधसे व्युच्छित्ति होती है। नवमेमें पांचकी; दसवेंमें सोलहकी, ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें शून्य; तेरहवें संयोगकेवली गुणस्थानमें एक प्रकृतिकी बंधव्युच्छित्ति होती है। चौदहवें गुणस्थानमें बंध भी नहीं और व्युच्छित्ति भी नहीं होती। क्योंकि वहांपर बंधके कारण—योगका ही अभाव है ॥ ९४ ॥

अब उन व्युच्छिन्न प्रकृतियोंके नाम गुणस्थानके क्रमसे आठ गाथाओंद्वारा दिखानेकेलिये क्रमसे पहले गुणस्थानकी सोलह प्रकृतियोंको गिनाते हैं;—

मिच्छत्तहुंडसंढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं ।
सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छे ॥ ९५ ॥

मिथ्यात्वहुण्डषण्ढासंप्राप्तैकाक्षस्थावरातपः ।
सूक्ष्मत्रयं विकलेन्द्रियं निरयद्विनिरयायुष्कं मिथ्यात्वे ॥ ९५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व १ हुण्डकसंस्थान २ नपुंसकवेद ३ असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ४ एकेन्द्रिय ५ स्थावर नाम ६ आतप ७ सूक्ष्मादि तीन (सूक्ष्म ८ अपर्याप्त ९ साधारण १०) विकलेन्द्री तीन अर्थात् दो इन्द्री ११ ते इन्द्री १२ चौ इन्द्री १३, नरकगति १४ नरकगत्यानुपूर्वी १५ नरकायु १६। ये सोलह प्रकृतियां मिथ्यात्वगुणस्थानके अंतसमयमें बंधसे व्युच्छिन्न होजाती हैं। अर्थात् मिथ्यात्वसे आगेके गुणस्थानोंमें इनका बंध नहीं होता ॥ ९५ ॥

आगे दूसरे गुणस्थानके अंतमें जिन प्रकृतियोंको व्युच्छित्ति होती है उनकी संख्या दिखाते हैं:—

बिदियगुणे अणथीणतिदुभगतिसंठाणसंहदिचउक्कं ।
दुग्गमणित्थीणीचं तिरियदुगुज्जोवतिरियाऊ ॥ ९६ ॥

द्वितीयगुणे अन-स्त्यानत्रयदुर्भगत्रयसंस्थानसंहतिचतुष्कम् ।
दुर्गमनस्त्रीनीचं तिर्यग्द्विकोद्योततिर्यगायुः ॥ ९६ ॥

अर्थ—दूसरे सासादनगुणस्थानके अन्तसमयमें अनंतानुबंधी क्रोधादि चार; स्त्यानगृद्धि १ निद्रानिद्रा १ प्रचलाप्रचला १ ये तीन, दुर्भग १ दुःस्वर १ अनादेय १ ये तीन, न्यग्रोधादि चार संस्थान, वज्रनाराचादि चार संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यग्गति १ तिर्यग्गत्यानुपूर्वी २ ये दो; उद्योत, और तिर्यंचायु, इन पच्चीस प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है ॥ ९६ ॥ मिश्र गुणस्थानमें किसी भी प्रकृतिकी व्युच्छित्ति नहीं होती।

अब चौथे और पांचवें गुणस्थानमें व्युच्छिन्न प्रकृतिओंकी संख्या कहते हैं;—

अयदे विदियकसाया वज्जं ओरालमणुदुमणुवाऊ ।
देसे तदियकसाया णियमेणिह बंधवोच्छिण्णा ॥ ९७ ॥

अयते द्वितीयकषाया वज्रमौरालमनुष्यद्विमानवायुः ।
देशे तृतीयकषाया नियमेनेह वन्धव्युच्छिन्नाः ॥ ९७ ॥

अर्थ—चौथे असंयत गुणस्थानमें दूसरी अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि चार कषाय, वज्रर्षभनाराचसंहनन, औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, मनुष्यगति १ मनुष्यगत्यानुपूर्वी २ ये दो; और मनुष्यायु, ये दश प्रकृतियां बंधसे व्युच्छिन्न होती हैं । पांचवें देशव्रत गुणस्थानमें तीसरी प्रत्याख्यानावरणी क्रोधादि चार कषायें नियमसे बंधसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥ ९७ ॥

अब छट्ठे और सातवें गुणस्थानमें व्युच्छित्तिकी संख्या कहते हैं;—

छट्ठे अथिरं असुहं असादमजसं च अरदिसोगं च ।
अपमत्ते देवाऊणिट्ठवणं चेव अत्थित्ति ॥ ९८ ॥

षष्ठे अस्थिरमशुभमसातमयशश्च अरतिशोकं च ।
अप्रमत्ते देवायुनिष्ठापनं चैव अस्तीति ॥ ९८ ॥

अर्थ—छठे गुणस्थानके अन्तिम समयमें अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्ति अरति, और शोक, इन छह प्रकृतियोंका बंधसे विछुड़ना होता है । और सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें एक देवायु प्रकृतिकी ही व्युच्छित्ति होती हैं ॥ ९८ ॥

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानके सात भागोंमेसे पहले, छठे, और सातवें भागमें ही बंधकी व्युच्छित्ति होती है; अतएव क्रमसे उनकी संख्या दिखाते हैं,—

मरणूणम्हि णियट्टीपढमे णिद्दा तहेव पयला य ।
छट्ठे भागे तित्थं णिमिणं सग्गमणपंचिंदी ॥ ९९ ॥
तेजदुहारदुसमचउसुरवण्णागुरुचउक्कतसणवयं ।
चरमे हस्सं च रदी भयं जुगुच्छा य बंधवोच्छिण्णा ॥ १०० ॥ जुम्मं ।

मरणोने निवृत्तिप्रथमे निद्रा तथैव प्रचला च ।
षष्ठे भागे तीर्थं निर्माणं सद्गमनपचेन्द्रियम् ॥ ९९ ॥
तेजोद्विकाहारद्विकसमचतुरस्रसुरवर्णागुरुचतुष्कत्रसनवकम् ।
चरमे हास्यं च रतिः भयं जुगुप्सा च वन्धव्युच्छिन्ना ॥ १०० ॥ युग्मम् ।

---

१ जो श्रेणी चढ़नेके संमुख नहीं है ऐसे स्वस्थान अप्रमत्तके ही अन्तसमयमें व्युच्छित्ति होती है । दूसरे सातिशय अप्रमत्तके बंध नहीं होता, अतएव व्युच्छित्ति भी नहीं होती ।

अर्थ—निवृत्ति अर्थात् आठवें अपूर्वकरणके मरणअवस्थारहित प्रथम भागमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है। और छट्ठे भागके अंतसमयमें तीर्थकरप्रकृति, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पंचेंद्रीजाति, तेजस १ कार्माण २ ये दो, आहारकशरीर १ आहारक आंगोपांग २; समचतुरस्रसंस्थान, देवगति १ देवगत्यानुपूर्वी २ वैक्रियिकशरीर ३ वैक्रियिक आंगोपांग ४ ये चार, वर्णादि चार, अगुरुलघु १ उपघात २ परघात ३ उच्छ्वास ४ ये चार; और त्रसादि नौ[1], इन तीस प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है। और अन्तके सातवें भागमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियां बंधसे बिछुड़ती हैं ॥ ९९ ॥ १०० ॥

अब नवमें तथा दसवें गुणस्थानके अन्त समयमें बंधव्युच्छित्तिकी संख्या कहते हैं;—

पुरिसं चदुसंजलणं कमेण अणियट्टिपंचभागेसु ।
पढमं विग्घं दंसणचउजसउच्चं च सुहुमंते ॥ १०१ ॥

पुरुषः चतुस्संज्वलनः क्रमेण अनिवृत्तिपञ्चभागेषु ।
प्रथमं विघ्नः दर्शनचतुर्यशउच्चं च सूक्ष्मान्ते[2] ॥ १०१ ॥

अर्थ—नववें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके पांच भागोंमेंसे क्रमसे पहले भागमें पुरुषवेदकी व्युच्छित्ति, बाकीके चार भागोंने संज्वलन क्रोधादि चार कषायोंकी व्युच्छित्ति, जानना। और दसवें सूक्ष्मसांपराय (सूक्ष्म लोभकषायवाले) गुणस्थानके अंतसमयमें ज्ञानावरण अर्थात् मतिज्ञानावरणादि पांच, अंतरायके पांच भेद; चक्षुर्दर्शनावरणादि चार, यशस्कीर्ति, और उच्च गोत्र, इसप्रकार १६ प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है ॥ १०१ ॥

अब तेरहवें गुणस्थानके अतमें बंधव्युच्छिन्न प्रकृतियोंको दिखाते हैं,—

उवसंतखीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्ठिदी सादं ।
णायव्वो पयडीणं बंधस्संतो अणंतो य ॥ १०२ ॥

उपशान्तक्षीणमोहे योगिनि च समयिकस्थितिः सातम् ।
ज्ञातव्यः प्रकृतीनां बन्धस्यान्तः अनन्तश्च ॥ १०२ ॥

अर्थ—उपशांतमोह नामके ग्यारहवें गुणस्थानमें, बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानमें, और तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानमें; एक समयकी स्थितिवाला एक सातावेदनीय प्रकृतिका ही बन्ध होता है, इसकारण तेरहवें गुणस्थानके अन्त सययमें सातावेदनीय प्रकृतिकी ही व्युच्छित्ति होती है। और चौदहवेंमें बंधके कारण-योगका अभाव होनेसे बंध भी नहीं तथा व्युच्छित्ति भी नहीं होती। इसप्रकार प्रकृतियोंके बंधका अन्त अर्थात् व्युच्छित्ति जानना।

---

१ कर्मोंके पाठक्रमसे गिन लेना। इसीतरह दूसरी जगहभी गिनती करलेना॥ २ इस गाथामें "अन्ते" ऐसा शब्द कहा है वह अन्त्य दीपक है, अन्तमें रक्खे हुए दीपककी तरह समझना। जैसे—अन्तिमस्थानमें रक्खा हुआ दीपक भीतरकी सब जगहमें प्रकाश करता है वैसे ही "अन्ते" शब्दभी सब व्युच्छित्तियोंका अन्तसमयमें होना जाहिर करता है।

आगे अनंत अर्थात् बंध और "च" शब्दसे अबंधका जो उल्लेख किया है सो उसका स्वरूप भी दो गाथाओंसे कहते हैं ॥ १०२ ॥—

सत्तरसेकग्गसयं चउसत्तत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी ।
बंधा णवट्ठवण्णा दुवीस सत्तारसेकोघे ॥ १०३ ॥

सप्तदशैकाग्रशतं चतुः—सप्तसप्ततिः सप्तषष्टिः त्रिषष्टिः ।
बन्धा नवाष्टपंचाशत् द्वाविंशतिः सप्तदश एकौघे ॥ १०३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदिक गुणस्थानोंमें क्रमसे एकसौ सत्रह, एकसौ एक, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२, १७, १, १, १, इसप्रकार प्रकृतियोंका बंध तेरहवें गुणस्थानतक होता है। चौदहवेंमें बंध नहीं होता। भावार्थ—यह है कि बंधयोग्य प्रकृतियां पहले १२० कहीं हैं। उनमें "सम्मेव तित्थ" इस ९२ वें गाथाके अनुसार मिथ्यादृष्टिमें तीन प्रकृतियोंका बंध न होनेसे १२०-३=११७ बाकी रहती हैं। द्वितीयादि गुणस्थानोंमें भी व्युच्छिन्न प्रकृतियोंको घटानेसे बंधकी संख्या इस गाथाके अनुसार निकल आती है ॥ १०३ ॥

अब अबंधप्रकृतियोंको गुणस्थानोंमें क्रमसे दिखाते हैं;—

तिय उणवीसं छत्तियतालं तेवण्ण सत्तवण्णं च ।
इगिदुगसट्ठी बिरहिय सय तियउणवीससहिय वीससयं ॥१०४॥

त्रयमेकोनविंशतिः षट्त्रिकचत्वारिंशत् त्रिपञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्च ।
एकद्वाषष्ठिः द्विरहितं शतं त्र्येकोनविंशतिसहितं विंशतिशतम् ॥१०४॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदिक चौदह गुणस्थानोंमें क्रमसे ३, १९, ४६, ४३, ५३, ५७, ६१, ६२, दोरहित सौ अर्थात् ९८, तीनसहित सौ अर्थात् १०३, ११९ तीन जगह—ग्यारहवें बारहवें और तेरहवेंमें, और चौदहवें १२० प्रकृतियोंका अबन्ध है। अर्थात् इन ऊपर लिखित प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। अर्थात्—पहले गुणस्थानमें तीर्थङ्कर १ आहारक शरीर २ आहारक आंगोपाङ्ग ३ इन तीनका बन्ध पहले ९२ वें गाथामें कहे हुए नियमसे नहीं होता। और द्वितीयादि गुणस्थानोंमें व्युच्छित्ति प्रकृतियोंको पहली अबन्ध प्रकृतियोंमें जोड़नेसे ऊपर लिखीहुई संख्या निकल आती है ॥ १०४ ॥

उपर्युक्त बन्धव्युच्छित्ति तथा बन्ध और अबन्ध इन तीनोंका चौदह मार्गणाओंमें वर्णन करनेकी इच्छासे क्रमानुसार पहले नरकगतिमें इन विषयोंका तीन गाथाओंद्वारा वर्णन करते हैं;—

---

१ जैसे पहले गुणस्थानकी व्युच्छित्ति प्रकृतियां १६ हैं, और ३ प्रकृति अबन्ध हैं तो १६+३=१९ प्रकृतियां दूसरे गुणस्थानमें अबन्धरूप हुई; अर्थात् १९ का बन्ध नहीं होता है। इसीतरह और गुणस्थानोंमें भी लगा लेना। २ मार्गणाओंके नाम तथा स्वरूप इसके पूर्वार्ध जीवकांडमेंसे समझलेना।

ओघे वा आदेसे णारयमिच्छम्हि चारि वोच्छिण्णा ।
उवरिम वारस सुरचउ सुराउ आहारयमबंधा ॥१०५॥

ओघे इव आदेशे नारकमिथ्यात्वे चतस्रो व्युच्छिन्नाः ।
उपरितना द्वादश सुरचतुष्कं सुरायुराहारकमबन्धाः ॥ १०५ ॥

अर्थ—मार्गणाओंमें व्युच्छित्ति वगैरह तीनों अवस्थाएं गुणस्थानके समान जानना । परन्तु विशेष यह है कि नरकगतिमें मिथ्यात्वगुणस्थानके अन्तमें मिथ्यात्वादि चार प्रकृतियोंकी ही व्युच्छित्ति होती है । सोलहमेंसे आदिकी इन चार प्रकृतियोंके विना बाकी एकेन्द्री आदि बारह[1], और देवगति १ देवगत्यानुपूर्वी २ वैक्रियिकशरीर ३ वैक्रियिक आङ्गोपांग ४ ये चार, तथा देवायु, और आहारकशरीर १ आहारक आंगोपांग २, ये सब उन्नीस प्रकृतियां अबन्ध हैं । अर्थात् नरकगतिके मिथ्यात्वगुणस्थानमें १९ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता । अतएव बन्धयोग्य १२० प्रकृतियोंमेंसे बाकी १०१ प्रकृतियोंका ही वहांपर बन्ध होता है ॥ १०५ ॥

अब नरकगतिमें घर्मादि नरकोंकी अपेक्षा कुछ भेद दिखाते हैं;—

घम्मे तित्थं बंधदि वंसामेघाण पुण्णगो चेव ।
छट्ठोत्ति य मणुवाऊ चरिमे मिच्छेव तिरियाऊ ॥ १०६ ॥

धर्मे तीर्थं बध्नाति वंशामेघयोः पूर्णकश्चैव ।
षष्ठ इति च मानवायुः चरमे मिथ्यात्वे एव तिर्यगायुः ॥ १०६ ॥

अर्थ—घर्मा नामके पहले नरककी पृथिवीमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध होता है । वंशानाम दूसरे तथा मेघनाम तीसरे नरकमें पर्याप्तजीव ही तीर्थङ्कर प्रकृतिको बांधता है । मघवीनामक छट्ठे नरकतकही मनुष्यायुका बन्ध होता है । और अंतके माघवी नाम सातवें नरकमें मिथ्यात्वगुणस्थानमें ही तिर्यंच आयुका बन्ध होता है ॥ १०६ ॥

मिस्साविरदे उच्चं मणुवदुगं सत्तमे हवे बंधो ।
मिच्छा सासणसम्मा मणुवदुगुच्चं ण बंधंति ॥ १०७ ॥

मिश्राविरते उच्चं मनुष्यद्वयं सप्तमे भवेत् बन्धः ।
मिथ्यात्विनः सासादनसम्यक्त्वा मनुष्यद्विकोच्चं न बध्नन्ति ॥ १०७ ॥

अर्थ—सातवें नरकमें मिश्रगुणस्थान और अविरतनामके चौथे गुणस्थानमें ही उच्चगोत्र, मनुष्यगति १, मनुष्यगत्यानुपूर्वी २, इन तीन प्रकृतियोंका बन्ध है । और मिथ्यात्वगुणस्थान-

---

[1] प्रकृतियोंकी संख्याका क्रम पहले लिखा गया है उसके अनुसार १२ प्रकृतियां गिन लेना । ऐसेही आगेभी सर्व जगह पहले लिखा हुआ ही क्रम याद रखना चाहिये ।

अर्थ—मनुष्यगतिमें व्युच्छित्ति वगैरः की रचना तिर्यंचगतिकी ही तरह जानना। विशेषता इतनी है कि यहांपर तीर्थंकर, और आहारकद्विक इन तीनोंकाभी बन्ध होता है। इसीकारण यहांपर बन्ध योग्य प्रकृतियां १२० हैं। और सामान्य (सब भेदोंका समुदायरूप) मनुष्य, पर्याप्तमनुष्य, स्त्रीवेदरूप मनुष्य, इन तीनोंकी व्युच्छित्ति आदिकी रचना तो मनुष्यगतिकीसी ही है। किन्तु लब्ध्यपर्याप्तमनुष्यकी रचना तिर्यंचलब्ध्यपर्याप्तकी तरह समझना ॥ ११० ॥

अब देवगतिमें व्युच्छित्ति वगैरः को कहते हैं;—

णिरयेव होदि देवे आईसाणोत्ति सत्त वाम छिदी ।
सोलसचेव अबन्धा भवणतिए णत्थि तित्थयरं ॥१११॥

निरय इव भवति देवे आ ईशान इति सप्त वामे छित्तिः ।
षोडश चैव अबन्धाः भवनत्रये नास्ति तीर्थकरम् ॥ १११ ॥

अर्थ—देवगतिमें व्युच्छित्ति आदिक नरकगतिके समान जानना। परन्तु इतना विशेष है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें दूसरे ईशान स्वर्गतक पहले गुणस्थानकी १६ प्रकृतियोंमेंसे मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंकी ही व्युच्छित्ति होती है। बाकी बची हुई सूक्ष्मादि नौ तथा देवगति १ देवगत्यानुपूर्वी २ वैक्रियिक शरीर ३ वैक्रियिक आंगोपांग ४ ये सुरचतुष्क, तथा देवायु, आहारक शरीर, और आहारक आंगोपांग, ये तीन मिलाकर सात, सब ९+७ मिलाकर १६ प्रकृतियां अबन्धरूप हैं, अर्थात् इन सोलहका बन्ध नहीं होता। इसीकारण यहां बन्ध योग्य प्रकृतियां १०४ हैं। तथा भवनत्रिक देवोंमें (भवनवासी १ व्यन्तर २ ज्योतिषीदेवोंमें ३) तीर्थंकर प्रकृति नहीं है, अर्थात् तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध नहीं होता ॥ १११ ॥

कप्पित्थीसु ण तित्थं सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं ।
तिरियाऊ उज्जोवो अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ ॥ ११२ ॥

कल्पस्त्रीषु न तीर्थं शतारसहस्रारक इति तिर्यग्द्विकम् ।
तिर्यगायुरुद्योतः अस्ति ततः नास्ति शतारचतुष्कम् ॥ ११२ ॥

अर्थ—कल्पवासिनी स्त्रियोंमें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध नहीं होता। और तिर्यंचगति १ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी २ ये दो, और तिर्यंचायु, तथा उद्योत, इन चार प्रकृतियोंका बन्ध ग्यारहवें बारहवें-शतार सहस्रार नामके स्वर्गतक ही होता है। इसके ऊपर आनतादि स्वर्गोंमें रहनेवालोंके इन चार प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। इन चार प्रकृतियोंका दूसरा नाम 'शतारचतुष्क' भी है; क्योंकि शतार युगलतक ही इनका बन्ध होता है ॥ ११२ ॥

अब इन्द्रियमार्गणामें बन्धव्युच्छित्ति आदिकको कहते हैं;—

अर्थ—मनुष्यगतिमें व्युच्छित्ति वगैरः की रचना तिर्यंचगतिकी ही तरह जानना। विशेषता इतनी है कि यहांपर तीर्थंकर, और आहारकद्विक इन तीनोंकाभी बन्ध होता है। इसीकारण यहांपर बन्ध योग्य प्रकृतियां १२० हैं। और सामान्य (सब भेदोंका समुदायरूप) मनुष्य, पर्याप्तमनुष्य, स्त्रीवेदरूप मनुष्य, इन तीनोंकी व्युच्छित्ति आदिकी रचना तो मनुष्यगतिकीसी ही है। किन्तु लब्ध्यपर्याप्तमनुष्यकी रचना तिर्यंचलब्ध्यपर्याप्तकी तरह समझना ॥ ११० ॥

अब देवगतिमें व्युच्छित्ति वगैरः को कहते हैं;—

णिरयेव होदि देवे आईसाणोत्ति सत्त वाम छिदी।
सोलसचेव अबन्धा भवणतिए णत्थि तित्थयरं ॥१११॥

निरय इव भवति देवे आ ईशान इति सप्त वामे छित्तिः।
षोडश चैव अबन्धाः भवनत्रये नास्ति तीर्थंकरम् ॥ १११ ॥

अर्थ—देवगतिमें व्युच्छित्ति आदिक नरकगतिके समान जानना। परन्तु इतना विशेष है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें दूसरे ईशान स्वर्गतक पहले गुणस्थानकी १६ प्रकृतियोंमेंसे मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंकी ही व्युच्छित्ति होती है। बाकी बची हुई सूक्ष्मादि नौ तथा देवगति १ देवगत्यानुपूर्वी २ वैक्रियिक शरीर ३ वैक्रियिक आंगोपांग ४ ये सुरचतुष्क, तथा देवायु, आहारक शरीर, और आहारक आंगोपांग, ये तीन मिलाकर सात, सब ९+७ मिलाकर १६ प्रकृतियां अबन्धरूप हैं, अर्थात् इन सोलहका बन्ध नहीं होता। इसीकारण यहां बन्ध योग्य प्रकृतियां १०४ हैं। तथा भवनत्रिक देवोंमें (भवनवासी १ व्यन्तर २ ज्योतिषीदेवोंमें ३) तीर्थंकर प्रकृति नहीं है, अर्थात् तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध नहीं होता ॥ १११ ॥

कप्पित्थीसु ण तित्थं सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं।
तिरियाऊ उज्जोवो अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ ॥ ११२ ॥

कल्पस्त्रीषु न तीर्थं शतारसहस्रारक इति तिर्यग्द्विकम्।
तिर्यगायुरुद्योतः अस्ति ततः नास्ति शतारचतुष्कम् ॥ ११२ ॥

अर्थ—कल्पवासिनी स्त्रियोंमें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध नहीं होता। और तिर्यंचगति १ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी २ ये दो, और तिर्यंचायु, तथा उद्योत, इन चार प्रकृतियोंका बन्ध ग्यारहवें बारहवें-शतार सहस्रार नामके स्वर्गतक ही होता है। इसके ऊपर आनतादि स्वर्गोंमें रहनेवालोंके इन चार प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। इन चार प्रकृतियोंका दूसरा नाम 'शतारचतुष्क' भी है; क्योंकि शतार युगलतक ही इनका बन्ध होता है ॥ ११२ ॥

अब इन्द्रियमार्गणामें बन्धव्युच्छित्ति आदिकको कहते हैं;—

पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु सासणो देहे ।
पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउगं णत्थि ॥ ११३ ॥

पूर्णेतरमिवैकविकले तत्रोत्पन्नो हि सासादनो देहे ।
पर्याप्तिं नापि प्राप्नोति इति नरतिर्यगायुष्कं नास्ति ॥ ११३ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय अर्थात् दो इन्द्री, ते इन्द्री, चौ इन्द्रीमें लब्धिअपर्याप्तक अवस्थाको तरह बन्ध योग्य १०९ प्रकृतियां समझना, क्योंकि तीर्थंकर, आहारकद्वय, देवायु, नरकायु; और वैक्रियिक षट्क इसतरह ग्यारह प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। तथा एकेन्द्रिय और विकलत्रयमें गुणस्थान आदिके दो-मिथ्यादृष्टि और सासादन ही होते हैं। इनमेंसे पहले गुणस्थानमें बंधव्युच्छित्ति १५ प्रकृतियोंकी होती है। क्योंकि यद्यपि पहले गुणस्थानमें १६ प्रकृतियोंके बन्ध की व्युच्छित्ति कही है। परन्तु यहांपर उनमेंसे नरकद्विक और नरक आयु छूट जाती है तथा मनुष्य आयु और तिर्यंच आयु बढ़ जाती है। इससे १५ की ही व्युच्छित्ति होती है। मनुष्य आयु और तिर्यंच आयुको बन्धव्युच्छित्ति प्रथम गुणस्थानमें ही क्यों कहीं ? तो इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय तथा विकलत्रयमें उत्पन्न हुआ जीव सासादन गुणस्थानमें देह (शरीर) पर्याप्तिको पूरा नहीं कर सकता है, क्योंकि सासादनका काल थोड़ा और निर्वृति अपर्याप्त अवस्थाका काल बहुत है। इसीकारण सासादन गुणस्थानमें मनुष्यायु तथा तिर्यंचायुका भी बन्ध नहीं होता है; प्रथम गुणस्थानमें ही बन्ध और व्युच्छित्ति होती है ॥ ११३ ॥

अब पंचेन्द्रियमें, तथा काय मार्गणाकी अपेक्षा पृथ्वीकाय वगैरः एकेन्द्रिय के पांच भेदोंमें व्युच्छित्ति दिखाते हैं;—

पंचेन्द्रियेसु ओघं एयक्खे वा वणप्फदीयंते ।
मणुवदुगं मणुवाऊ उच्चं ण हि तेउवाउम्हि ॥ ११४ ॥

पंचेन्द्रियेषु ओघः एकाक्ष इव वनस्पत्यन्ते ।
मनुष्यद्वयं मनुष्यायुरुच्चं न हि तेजोवायौ ॥ ११४ ॥

अर्थ—पंचेन्द्री जीवोंके व्युच्छित्ति आदिक गुणस्थानकी तरह समझना, कुछ विशेषता नहीं है। और कायमार्गणामें पृथ्वीकायादि वनस्पतिकायपर्यंतमें एकेन्द्रिय की तरह व्युच्छित्ति आदिक जानना। विशेष यह है कि तेजकाय तथा वायुकायमें मनुष्यगति १ मनुष्यगत्यानुपूर्वी २, मनुष्यायु और उच्चगोत्र इन चार प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। और गुणस्थान एक मिथ्यादृष्टि ही है ॥ ११४ ॥

आगे एक गुणस्थान होनेके कारणको तथा योगमार्गणामें व्युच्छित्ति आदिको कहते हैं;—

ण हि सासणो अपुण्णे साहारणसुहुमगे य तेउदुगे ।
ओघं तस मणवयणे ओराले मणुवगइभंगो ॥ ११५॥

न हि सासादन अपूर्णे साधारणसूक्ष्मके च तेजोद्वये ।
ओघः त्रसे मनोवचने औराले मनुष्यगतिभङ्गः ॥ ११५ ॥

अर्थ—लब्धि अपर्याप्तक अवस्थामें, साधारण शरीरसहित जीवोंमें, सब सूक्ष्मकायवालोंमें, और तेजोकाय १ वायुकायवालोंमें २ सासादननामा दूसरा गुणस्थान नहीं होता। इसका कारण कालका थोड़ा होना है सो पहले कह चुके हैं। इसलिये तेजःकाय तथा वायुकायवालोंके एक मिथ्यादृष्टि ही गुणस्थान समझना। और त्रसकायकी रचना गुणस्थानोंकी तरह समझनी। योगमार्गणामें मनोयोग तथा वचनयोगकी रचना गुणस्थानोंकी तरह जाननी। और औदारिक काययोगमें मनुष्यगतिकी तरह रचना जानना ॥ ११५ ॥

ओराले वा मिस्से ण सुरणिरयाउहारणिरयदुगं ।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं ण हि अविरदे अत्थि ॥ ११६ ॥

ओराल इव मिश्रे न हि सुरनिरयायुराहारनिरयद्वयम् ।
मिथ्यात्वद्वये देवचतुष्कं तीर्थं न हि अविरते अस्ति ॥ ११६ ॥

अर्थ—औदारिकमिश्रकाययोगमें औदारिककाययोगवत् रचना जानना। विशेष बात यह है कि देवायु, नरकायु, आहारकशरीर १ आहारक आंगोपांग २, नरकगति १ नरकगत्यानुपूर्वी २, इन छह प्रकृतियोंका बंध नहीं होता। अर्थात् यहांपर ११४ का ही बन्ध होता है। उसमें भी मिथ्यात्व तथा सासादन इन दो गुणस्थानोंमें देवचतुष्क और तीर्थंकर इन ५ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। किन्तु अविरतनामा चौथे गुणस्थानमें इनका बन्ध होता है ॥ ११६ ॥

पण्णारसमुनतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदी चउरो ।
उवरिमपणसट्ठीवि य एक्कं सादं सजोगिम्हि ॥ ११७ ॥

पञ्चदशैकोनत्रिंशत् मिथ्यात्वद्विके अविरते छित्तयःचतस्रः ।
उपरिमपञ्चषष्टिरपि च एकं सातं सयोगिनि ॥ ११७ ॥

अर्थ—औदारिकमिश्रकाययोगमें मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानोंमें १५ तथा २९ प्रकृतियोंकी बन्ध व्युच्छित्ति क्रमसे जानना। और चौथे अविरत गुणस्थानमें ऊपरकी चार तथा ६५ दूसरीं सब ६९ प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है। तथा तेरहवें सयोगीकेवलीके एक सातवेदनीयकी ही व्युच्छित्ति जानना ॥ ११७ ॥

देवे वा वेगुव्वे मिस्से णरतिरियआउगं णत्थि ।
छट्ठगुणंवाहारे तम्मिस्से णत्थि देवाऊ ॥ ११८ ॥

देव इव वैगूर्वे मिश्रे नरतिर्यगायुष्कं नास्ति ।
षष्ठगुणमिवाहारे तन्मिश्रे नास्ति देवायुः ॥ ११८ ॥

अर्थ—वैक्रियिक काययोगमें देवगतिके समान जानना । और वैक्रियिकमिश्रकाययोगमें सौधर्म-ऐशान सम्बन्धी अपर्याप्त देवोंके समान व्युच्छित्ति कही है । परन्तु इस मिश्रमें मनुष्यायु और तिर्यंचायुका बन्ध नहीं होता । और आहारक काययोगमें छठे गुणस्थानके समान रचना जानना । लेकिन आहारकमिश्रयोगमें देवायुका बन्ध नहीं होता है ॥ ११८ ॥

कम्मे उरालमिस्सं वा णाउदुगंपि णव छिदी अयदे ।
वेदादाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघं तु ॥ ११९ ॥

कर्म्मणि औरालिकमिश्रमिव नायुर्द्विकमपि नव छित्तिरयते ।
वेदादाहार इति च स्वगुणस्थानानामोघस्तु ॥ ११९ ॥

अर्थ—कार्माण काययोगीकी रचना औदारिकमिश्रकी तरह जानना । परन्तु विग्रहगतिमें आयुका बन्ध न होनेसे मनुष्यायु तथा तिर्यंचायु इन दोनोंका भी बन्ध नहीं होता; और चौथे असंयत गुणस्थानमें नौ प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है, इतनी विशेषता है । वेदमार्गणासे लेकर आहार मार्गणातक जैसा साधारण कथन गुणस्थानोंमें है वैसा ही जानना ॥ ११९ ॥

परन्तु सम्यक्त्वमार्गणा तथा लेश्यामार्गणाकी रचनामेंसे शुभ लेश्याओंमें और आहारमार्गणामें कुछ विशेषता है सो उसको अब दो गाथाओं द्वारा दिखाते हैं;—

णवरि य सव्वुवसम्मे णरसुरआऊणि णत्थि णियमेण ।
मिच्छस्संतिम णवयं वारं ण हि तेउपम्मेसु ॥ १२० ॥

सुक्के सदरचउक्कं वामंतिमबारसं च ण व अत्थि ।
कम्मेव अणाहारे बंधस्संतो अणंतो य ॥ १२१ ॥ जुम्मं ॥

नवरि च सर्वोपशमे नरसुरायुषी नास्ति नियमेन ।
मिथ्यात्वस्यान्तिमं नवकं द्वादश न हि तेजःपद्मयोः ॥ १२० ॥
शुक्लायां शतारचतुष्कं वामान्तिमद्वादश च न वा अस्ति ।
कर्म्मे इव अनाहारे बन्धस्यान्त अनन्तश्च ॥ १२१ ॥ युग्मं ॥

अर्थ—विशेषता यह है कि सम्यक्त्वमार्गणामें निश्चयकर सब ही अर्थात् दोनों ही उपशमसम्यक्त्वी जीवोंके मनुष्यायु और देवायुका बन्ध नहीं होता । और लेश्यामार्गणामें तेजोलेश्यावालेके मिथ्यात्व गुणस्थानकी अन्तकी नौ, तथा पद्मलेश्यावालेके मिथ्यात्वगुणस्थानकी अन्तकी बारह प्रकृतियोंका बन्ध नियमसे नहीं होता । शुक्लेश्यावालेके शतार चतुष्क (तिर्यंचगति वगैरः जो ११२ वें गाथामें कह चुके हैं) और वाम अर्थात्

मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके अन्तको बारह, सब मिलकर १६ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है। और आहारमार्गणामें अनाहारक अवस्थामें कार्माण योगकीसी बन्धव्युच्छित्ति आदिक तीनोंकी रचना समझ लेना ॥

इसप्रकार बन्धकी व्युच्छित्ति, बन्ध और "च" शब्दसे अबन्ध इन तीनोंका स्वरूप जानना ॥ १२० ॥

आगे मूलप्रकृतियोंके सादि वगैरः बन्ध भेदोंको विशेषपनेसे कहते हैं;—

सादि अणादी धुव अद्धुवो य बंधो दु कम्मछक्कस्स ।
तदियो सादियसेसो अणादिधुवसेसगो आऊ ॥ १२२ ॥

सादिरनादिः ध्रुव अध्रुवश्च बंधस्तु कर्मषट्कस्य ।
तृतीयः सादिशेषः अनादिध्रुवशेषक आयुः ॥ १२२ ॥

अर्थ—छह कर्मोंका प्रकृतिबन्ध सादि १ अनादि २ ध्रुव ३ अध्रुव ४ रूप चारों प्रकारका होता है। परन्तु तीसरे वेदनीय कर्मका बन्ध तीन प्रकार का होता है, सादि बन्ध नहीं होता। और आयुकर्मका अनादि तथा ध्रुव बन्धके सिवाय दो प्रकारका अर्थात् सादि और अध्रुव ही बन्ध होता है ॥ १२२ ॥

आगे इन बन्धोंका स्वरूप कहते हैं;—

सादी अबंधबंधे सेढिअणारूढगे अणादी हु ।
अभव्वसिद्धम्हि धुवो भवसिद्धे अद्धुवो बंधो ॥ १२३ ॥

सादिः अबन्धबन्धे श्रेण्यनारोहके अनादिर्हि ।
अभव्यसिद्धे ध्रुवो भव्यसिद्धे अध्रुवो बन्धः ॥ १२३ ॥

अर्थ—जिसकर्मके बंधका अभाव होकर फिर वही कर्म बंधै उसे **सादिबन्ध** कहते हैं। जैसे किसी जीवके दसवें गुणस्थानतक ज्ञानावरणकी पांच प्रकृतियोंका बन्ध था, जब वह जीव ग्यारहवेंमें गया तब बन्धका अभाव हुआ, पीछे ग्यारहवें गुणस्थानसे पड़कर फिर दसवेंमें आया तब ज्ञानावरणी पांच प्रकृतियोंका पुनः बन्ध हुआ, ऐसा बन्ध सादि कहलाता है। और जो गुणस्थानोंकी श्रेणीपर ऊपरको नहीं चढ़ा अर्थात् जिसके बन्धका अभाव नहीं हुआ वह **अनादिबन्ध** है। जैसे दसवेंतक ज्ञानावरणका बन्ध। दसवें गुणस्थानवाला ग्यारहवेंमें जबतक प्राप्त नहीं हुआ वहांतक ज्ञानावरणका अनादि बन्ध है; क्योंकि वहांतक अनादिकालसे उसका बन्ध चला आता है। जिस बन्धका आदि तथा अन्त न हो वह **ध्रुवबन्ध** है—यह बन्ध अभव्यजीवके होता है। जिस बन्धका अन्त आ जावै उसे **अध्रुवबन्ध** कहते हैं। यह अध्रुवबन्ध भव्यजीवोंके होता है ॥ १२३ ॥

---

१ बन्धव्युच्छित्ति आदि तीनोंका खुलासा बंधादिके नक्शामें लिखा जायगा। यहांपर ग्रन्थके बढ़जानेके भयसे नहीं लिखा है।

आगे उत्तर प्रकृतियोंमें इन चार बन्धोंकी विशेषता दिखाते हैं;—

घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचओ ।
सत्तेतालधुवाणं चदुधा सेसाणयं तु दुधा ॥ १२४ ॥

घातित्रिमिथ्यात्वकषाया भयतेजोऽगुरुद्विकनिर्माणवर्णचतुष्कम् ।
सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवाणां चतुर्धा शेषाणां तु द्विधा ॥ १२४ ॥

अर्थ—मोहनीयके सिवा तीन घातियाकर्मोंकी १९ प्रकृतियां, और मिथ्याव, तथा १६ कषाय, एवं भय तैजस और अगुरुलघुका जोड़ा अर्थात् भय १ जुगुप्सा २, तैजस १ कार्मीण २, अगुरुलघु १ उपघात २; तथा निर्माण, और वर्णादि चार. ये ४७ प्रकृतियां ध्रुव हैं । इनका चारों प्रकारका बन्ध होता है । जब तक इनके बन्धकी व्युच्छित्ति (विछुड़ना) न हो तबतक इन प्रकृतियोंका प्रति समय निरन्तर बन्ध होता ही रहता है, इसकारण इनको ध्रुव कहते हैं । इनके बिना जो बाकी बचीं वेदनीयकी २ मोहनीयकी ७ आयुकी ४ और नामकर्मकी गति आदि ५८ तथा गोत्र कर्मकी २ ये ७३ प्रकृतियां वे अध्रुव हैं । इनके सादि और अध्रुव दो ही बन्ध होते हैं । इनका किसी समय बन्ध होता है, और किसी समय किसीका बन्ध नहीं भी होता ॥ १२४ ॥

आगे इन प्रकृतियोंके अप्रतिपक्षी १ सप्रतिपक्षी २ (विरोधी) इन दो भेदोंको बताते हैं,—

ऐसे तित्थाहारं परघादचउक्क सव्वआऊणि ।
अप्पडिवक्खा सेसा सप्पडिवक्खा हु बासट्ठी ॥ १२५ ॥

शेषासु तीर्थाहारं परघातचतुष्कं सर्वायूंषि ।
अप्रतिपक्षाः शेषाः सप्रतिपक्षा हि द्वाषष्टिः ॥ १२५

अर्थ—पहले कही हुईं ४७ ध्रुवप्रकृतियोंसे बाकी बची हुईं ७३ प्रकृतियोंमेंसे तीर्थंकर, आहारकशरीरद्वय अर्थात् आहारकशरीर आहारक आंगोपांग, परघात आदि चार और चारों आयु, ये ग्यारह प्रकृतियां **अप्रतिपक्षी** है । अर्थात् इनकी कोई प्रकृति विरोधी नहीं है । जिस समयमें इनका बन्ध होता है उस समयमें वह होता ही है । यदि न होवे तो नहीं ही होता । जैसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध जिस समय होना चाहे उससमय उसका बन्ध होगा ही, न होना चाहे तब नहीं होगा । इस प्रकृतीकी कोई विरोधी प्रकृति नहीं जोकि इसके बन्धको रोक लेवें । भावार्थ जिन प्रकृतियोंके बंध होनेको कोईभी दूसरी प्रकृतिका बन्ध रोक न सके उनको अप्रतिपक्षी कहते हैं । ७३ मेंसे ११ घट जानेपर बाकी रहीं ६२ प्रकृतियां उनमें आपसमें विरोधीपना होनेसे वे **सप्रतिपक्षी** कही जाती है । जैसे कि सातावेदनीय, असातावेदनीय ये दोनों आपसमें प्रतिपक्षी हैं । सो जिस समय साताका बन्ध होता है उससमय असाताका नहीं होता, और जब असाताका बन्ध होता ।

है तब साताका नहीं होता। इसीतरह रति अरति सभी परस्पर विरोधी प्रकृतियोंमें सप्रतिपक्षीपना समझ लेना ॥ १२५ ॥

आगे अध्रुव प्रकृतियोंका पहले सादि तथा अध्रुव ये दोही प्रकारका जो बन्ध कहा है उसका कारण युक्तिपूर्वक बताते हैं;—

अवरो भिण्णमुहुत्तो तित्थाहाराण सव्वआऊणं ।
समओ छावट्ठीणं बंधो तम्हा दुधा सेसा ॥ १२६ ॥

अवरो भिन्नमुहूर्तः तीर्थाहाराणां सर्वायुषाम् ।
समयः षट्षष्ठीनां बन्धः तस्मात् द्विधा शेषाः ॥ १२६ ॥

अर्थ—तीर्थंकर, आहारकद्वय, नरकादि चार आयु इन सातोंके निरंतर बन्ध होनेका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। और शेष छ्यासठि प्रकृतियोंके निरन्तर बन्ध होनेका काल एक समय (क्षण) है। अर्थात् जिसका किसी एक समयमें बंध हुआ फिर दूसरे समयमें उस प्रकृतिका बन्ध होवै भी, नहीं भी, होवै इसकारण ध्रुवसे बाकी रहीं ७३ अध्रुव प्रकृतियोंके सादि बन्ध तथा अध्रुव बंध दो ही भेद कहेगये हैं सो सिद्ध हुआ ॥ १२६ ॥

इसप्रकार प्रकृतिबन्ध समाप्त हुआ ॥

आगे स्थितिबंधको कहते हुए आचार्य प्रथम ही मूलप्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बताते हैं,—

तीसं कोडाकोडी तिघादितदियेसु वीस णामदुगे ।
सत्तरि मोहे सुद्धं उवही आउस्स तेतीसं ॥ १२७ ॥

त्रिंशत् कोटीकोट्यः त्रिघातितृतीयेषु विंशतिर्नामद्वये ।
सप्ततिर्मोहे शुद्ध उदधिः आयुषः त्रयस्त्रिंशत् ॥ १२७ ॥

अर्थ—तीन घातियाओंकी अर्थात् ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ अन्तरायको और तीसरे वेदनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरके प्रमाण है। नाम और गोत्र इन दोनोंका स्थिति समय वीस कोड़ाकोड़ी सागर है। मोहनीयकर्मकी बंधरूप रहनेकी स्थिति (कालकी मर्यादा) सत्तरि कोड़ाकोड़ी सागर है। और आयुकर्मकी स्थिति शुद्ध तेतीस सागर की ही जानना। अर्थात् एक समयके बंधे हुए अधिकसे अधिक ऊपर लिखे हुए कालतक कर्म आत्मासे बन्धरूप रह सकते हैं। फिर अपना फल देकर खिरजाते हैं। नवीन नवीन कर्म बन्धरूप होते ही रहते हैं ॥ १२७ ॥

अब उत्तरप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको ६ गाथाओंसे दिखाते हैं,—

दुक्खतिघादीणोघं सादिच्छीमणुदुगे तदद्धं तु ।
सत्तरि दंसणमोहे चरित्तमोहे य चत्तालं ॥ १२८ ॥

संठाणसंहदीणं चरिमस्सोघं दुहीणमादित्ति ।
अट्ठरसकोडकोडी वियलाणं सुहुमतिण्हं च ॥ १२९ ॥
अरदीसोगे संढे तिरिक्खभयणिरयतेजुरालदुगे ।
वेगुव्वादावदुगे णीचे तसवण्णअगुरुतिचउक्के ॥ १३० ॥
इगिपंचेंदियथावरणिमिणासग्गमणअथिरछक्काणं ।
वीसं कोडाकोडीसागरणामाणमुक्कस्सं ॥ १३१ ॥
हस्सरदिउच्चपुरिसे थिरछक्के सत्थगमणदेवदुगे ।
तस्सद्धमंतकोडाकोडी आहारतित्थयरे ॥ १३२ ॥
सुरणिरयाऊणोघं णरतिरियाऊण तिण्णि पल्लाणि ।
उक्कस्सट्ठिदिबंधो सण्णीपज्जत्तगे जोगे ॥ १३३ ॥ कुलयं ।

दुःखत्रिघातीनामोघः सातस्त्रीमनुष्यद्विके तदर्धं तु ।
सप्ततिः दर्शनमोहे चारित्रमोहे च चत्वारिंशत् ॥ १२८ ॥
संस्थानसंहतीनां चरमस्योघः द्विहीनमादीति ।
अष्टादशकोटीकोटिः विकलानां सूक्ष्मत्रयाणां च ॥ १२९ ॥
अरतिशोके षण्ढे तिर्यग्भयनिरयतेजऔराळद्वये ।
वैगूर्विकातपद्विके नीचे त्रसवर्णागुरुत्रिचतुष्के ॥ १३० ॥
एकपञ्चेन्द्रियस्थावरनिर्माणासद्गमनास्थिरषट्कानाम् ।
विंशं कोटीकोटीसागरनाम्नामुत्कृष्टम् ॥ १३१ ॥
हास्यरत्युच्चपुरुषे स्थिरषट्के शस्तगमनदेवद्विके ।
तस्यार्धमन्तःकोटीकोटिः आहारतीर्थंकरे ॥ १३२ ॥
सुरनिरयायुषोरोघः नरतिर्यगायुषोः त्रीणि पल्यानि ।
उत्कृष्टस्थितिबन्धः संज्ञिपर्याप्तके योग्ये ॥ १३३ ॥ कुलकम् ।

अर्थ—उत्तरप्रकृतियोंमेंसे दुःख अर्थात् असाता वेदनीय १ और ज्ञानावरण २ दर्शनावरण २ अन्तराय ३ इन तीन घातियाकर्मोंकी १९ प्रकृतियां, सब मिलकर २० प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ओघ अर्थात् सामान्य मूलप्रकृतिकी तरह तीस कोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण है। सातावेदनीय, स्त्रीवेद, और मनुष्यगति १ मनुष्यगत्यानुपूर्वी २ ये दो; इस तरह चार प्रकृतियोंका उससे आधा अर्थात् पंद्रह कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति का प्रमाण है। दर्शनमोहनीयरूप जो एक मिथ्यात्व उसका सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। और चारित्रमोहनीयरूप सोलह कषायोंका चालीस कोड़ाकोड़ी सागर है ॥ १२८ ॥ और ६ संस्थान तथा ६ संहनन में चरम अर्थात् अन्तका हुंडकसंस्थान और सृपाटिकासंहनन इन दोनोंका मूलप्रकृतिकी

तरह बीस कोड़ाकोड़ी सागर है । और बाकीके ४ संस्थान तथा ४ संहननोंमें दो दो सागर पहले पहले तक कम करना चाहिये । अर्थात् वामनसंस्थान और कीलितसंहननका १८, कुब्जकसंस्थान और अर्धनाराचसंहननका १६, स्वातिसंस्थान और नाराचसंहननका १४, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान और वज्रनाराचसंहननका १२, समचतुरस्रसंस्थान और वज्रऋषभनाराचसंहननका १० कोडाकोडीसागर प्रमाण है । विकलेन्द्री अर्थात् दोइन्द्री तेइन्द्री चौइन्द्री, और सूक्ष्मादि तीन इस तरह ६ प्रकृतियोंका अठारह कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध है ॥ १२९ ॥ अरति, शोक, नपुन्सकवेद, तिर्यंच-भय-नरक-तैजस-औदारिक इन पांचका जोड़ा अर्थात् तिर्यंचगति १ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी २ इत्यादि, वैक्रियिक-आतप इन दो का जोड़ा, नीचगोत्र, त्रस-वर्ण-अगुरुलघु इन तीनोंकी चौकड़ी अर्थात् त्रस १ बादर २ पर्याप्त ३ प्रत्येक ४ इत्यादि, ॥ १३० ॥ एकेन्द्री, पंचेंद्री, स्थावर, निर्माण, असद्गमन अर्थात् अप्रशस्तविहायोगति, और अस्थिरादि छह, इस तरह ४१ प्रकृतियोंका बीस कोड़ाकोड़ीसागर उत्कृष्टस्थितिबंध है ॥ १३१ ॥ हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिरआदिक छह, शस्त गमन अर्थात् प्रशस्तविहायोगति, देवद्विक अर्थात् देवगति १ देवगत्यानुपूर्वी २, इन तेरह प्रकृतियोंका उससे आधा अर्थात् दस दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है । आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग और तीर्थंकरप्रकृति इन तीनोंका अंतःकोड़ाकोड़ी अर्थात् कोड़िसे ऊपर और कोड़ाकोड़ीसे नीचे इतने सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध है ॥ १३२ ॥ देवायु और नरकायु इन दोनोंका मूलप्रकृतिकी तरह ३३ सागर प्रमाण है, और मनुष्यायु तथा तिर्यंचायु इन दोनोंका तीन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध कहा है । तीन शुभ आयुके सिवाय शेष कर्मोंका यह उत्कृष्टस्थितिबंध सैनी पंचेंद्री पर्याप्तके उसमें भी योग्य[1] जीवके ही होता है, हरएकके नहीं होता ॥ १३३ ॥

आगे तीन आयुके सिवाय शुभ-अशुभ प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिके कारण संक्लेश परिणाम ही हैं, ऐसा कहते हैं;—

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण ।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु ॥ १३४ ॥

सर्वस्थितीनामुत्कृष्टकस्तु उत्कृष्टसंक्लेशेन ।
विपरीतेन जघन्य आयुष्कत्रयवर्जितानां तु ॥ १३४ ॥

अर्थ—तीन आयु अर्थात् तिर्यंच-मनुष्य-देवायुके विना अन्य सब ११७ प्रकृतियोंका उत्कृष्टस्थितिबन्ध यथासंभव उत्कृष्ट संक्लेश (कषायसहित) परिणामोंसे होता है । और जघन्यस्थितिबंध विपरीतपरिणामोंसे अर्थात् संक्लेशसे उलटे-उत्कृष्ट विशुद्धपरिणामोंसे होता

---

१ तीव्र कषायरूप उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामोंवाला ही जीव अधिक स्थितिके योग्य कहा गया है ।

है । तीन आयुप्रकृतियोंका इससे विपरीत अर्थात् उत्कृष्ट विशुद्धपरिणामोंसे उत्कृष्टस्थिति-वंघ होता है तथा जघन्यस्थितिवंध उत्कृष्ट संक्लेशपरिणामोंसे होता है ॥ १३४ ॥

आगे उत्कृष्टस्थितिवंधके करनेवाले (स्वामीको) कहते हैं;—

सव्वुक्कस्सठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो ।
आहारं तित्थयरं देवाउं वा विमोत्तूणं ॥ १३५ ॥

सर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिस्तु बन्धको भणितः ।
आहारं तीर्थकरं देवायुष्कं वा विमुच्य ॥ १३५ ॥

अर्थ—आहारकद्विक, तीर्थंकर और देवायु इन चार प्रकृतियोंके सिवाय बाकी ११६ प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थितियोंका मिथ्यादृष्टि जीव ही बांधनेवाला होता है । इस कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि इन आहारकादि चार प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थितिका बंध सम्यग्दृष्टिके ही होता है ॥ १३५ ॥

अब इन चार प्रकृतियोंके बंधस्वामियोंमें जो विशेषता है उसको दिखाते हैं;—

देवाउगं पमत्तो आहारयमप्पमत्तविरदो दु ।
तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥ १३६ ॥

देवायुष्कं प्रमत्त आहारकमप्रमत्तविरतस्तु ।
तीर्थंकरं च मनुष्यः अविरतसम्यक् समर्जयति ॥ १३६ ॥

अर्थ—देवायुकी उत्कृष्ट स्थितिको छट्ठे प्रमत्तगुणस्थानवाला[1] बांधता है । आहारकको अर्थात् आहारकशरीर १ आहारक आंगोपांग २ इन दोनोंकी उत्कृष्ट स्थितिको सातवें अप्रमत्तगुणस्थानवाला[2] बांधता है । और उत्कृष्टस्थितिवाली तीर्थंकरप्रकृतिको चौथे गुणस्थान वाला असंयमी[3] सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही उपार्जन करता है, अर्थात् बाँधता है ॥ १३६ ॥

आगे ११६ प्रकृतियोंके बांधनेवाले (जो कि १३५ वीं गाथामें कहे हैं) मिथ्यादृष्टियोंके भी भेद दो गाथाओंसे कहते हैं,—

णरतिरिया सेसाउं वेगुव्वियछक्कवियलसुहुमतियं ।
सुरणिरया ओरालियतिरियदुगुज्जोवसंपत्तं ॥ १३७ ॥
देवा पुण एइंदियआदावं थावरं च सेसाणं ।
उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिया ईसिमज्झिमया ॥ १३८ ॥ जुम्मं ।

नरतिर्यञ्चः शेषायुष्कं वैगूर्विकषट्कविकलसूक्ष्मत्रयम् ।
सुरनिरयाः औदारिक तिर्यग्द्वयोद्योतासंप्राप्तम् ॥ १३७ ॥

---

१ सातवें गुणस्थानके चढ़नेको सन्मुख हुआ प्रमत्तगुणस्थानवाला । २ छठे गुणस्थानमें उतरनेको सन्मुख हुआ ऐसा अप्रमत्तवाला । ३ नरकमें जाने के लिये सन्मुख हुआ अर्थात् नरकमें जानेवाला ऐसा अविरतसम्यग्दृष्टि ।

देवाः पुनरेकेन्द्रियातपं स्थावरं च शेषाणाम् ।
उत्कृष्टसंक्लिष्टाः चतुर्गतिका ईषन्मध्यमकाः ॥ १३८ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—देवायुसे शेष नरकादि तीन आयु, वैक्रियिकषट्क (नरकगति आदि ६), दो इंद्री आदि तीन विकलेंद्री, सूक्ष्म आदि तीन, इस तरह १५ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध मनुष्य और तिर्यंच जीव ही करते हैं। और औदारिकशरीरद्वय (औदारिकशरीर १ औदारिक आंगोपांग २), तिर्यंचगति १ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी २ ये दो, उद्योत और असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन इन उत्कृष्ट-स्थिति-सहित प्रकृतियोंको देव और नारकी मिथ्यादृष्टि जीव ही बांधते हैं ॥ १३७ ॥ एकेंद्री, आतप, और स्थावर इन तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। और बाकी बचीं ९२ प्रकृतियोंको उत्कृष्ट संक्लेश परिणामवाले तथा ईषन्मध्यमसंक्लेश परिणामवाले चारों गतियोंके जीव बाँधते हैं ॥ १३८ ॥

आगे मूलप्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबंध बताते हैं;—

बारस य वेयणीये णामे गोदे य अट्ठ य मुहुत्ता ।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदी जहण्णयं सेसपंचण्हं ॥ १३९ ॥

द्वादश च वेदनीये नाम्नि गोत्रे च अष्ट च मुहूर्ताः ।
भिन्नमुहूर्तस्तु स्थितिः जघन्या शेषपञ्चानाम् ॥ १३९ ॥

अर्थ—वेदनीयकर्मकी जघन्यस्थिति १२ मुहूर्त है, और नाम तथा गोत्रकर्म इन दोनोंकी आठ मुहूर्त है, तथा बाकी बचे पांचकर्मोंकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है ॥ १३९ ॥

अब उत्तरप्रकृतियोंका जघन्यस्थितिबंध चार गाथाओंसे कहते हैं;—

लोहस्स सुहुमसत्तरसाणं ओघं दुगेक्कदलमासं ।
कोहतिये पुरिसस्स य अट्ठ य वस्सा जहण्णठिदी ॥ १४० ॥

लोभस्य सूक्ष्मसप्तदशानामोघः द्विकैकदलमासः ।
क्रोधत्रये पुरुषस्य च अष्ट च वर्षाणि जघन्यस्थितिः ॥ १४० ॥

अर्थ—लोभप्रकृति और दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें बंधनेवालीं १७ प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबंध मूल प्रकृतियोंकी तरह समझना। अर्थात् इन प्रकृतियोंमेंसे यशस्कीर्ति और उच्चगोत्रका आठ आठ मुहूर्त, सातावेदनीयका १२ मुहूर्त; पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय इन १४ का और लोभप्रकृतिका एक २ अन्तर्मुहूर्त जानना। क्रोधादि तीन अर्थात् क्रोध, मान, मायाका क्रमसे दो महीने एक महीना तथा पन्द्रहदिन जघन्यस्थितिबंध है। पुरुषवेदकी जघन्य स्थिति आठ वर्ष प्रमाण है ॥ १४० ॥

---

१ कषायरूप परिणाम तीव्र, मंद, मध्यमके भेदसे असंख्यात हैं। उनमेंसे तीव्र कषायरूप परिणामोंको उत्कृष्टसंक्लेश कहते हैं, मंद (थोड़ी) कषाय अवस्थारूप परिणामोंको ईषत्संक्लेश, और न बहुत न थोड़ी ऐसी मध्यमकषायअवस्थारूप परिणामोंको मध्यमसंक्लेश परिणाम कहते हैं।

तित्थाहाराणंतोकोडाकोडी जहण्णठिदिबंधो ।
खवगे सगसगबंधच्छेदणकाले हवे णियमा ॥ १४१ ॥

तीर्थाहाराणामन्तःकोटीकोटिः जघन्यस्थितिबन्धः ।
क्षपके स्वकस्वकबन्धच्छेदनकाले भवेत् नियमात् ॥ १४१ ॥

अर्थ—तीर्थंकर और आहारकका जोड़ा इन ३ प्रकृतियोंका जघन्यस्थितिबंध अन्तः-कोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण है। यह जघन्यस्थितिबंध क्षपकश्रेणीवालेके और अपनी २ बंधव्यु-च्छित्तिके समयमें ही नियमसे होता है ॥ १४१ ॥

भिण्णमुहुत्तो णरतिरियाऊणं वासदससहस्साणि ।
सुरणिरयआउगाणं जहण्णओ होदि ठिदिबंधो ॥ १४२ ॥

भिन्नमुहूर्तः नरतिर्यगायुषोः वर्षदशसहस्राणि ।
सुरनिरयायुषोः जघन्यकः भवति स्थितिबन्धः ॥ १४२ ॥

अर्थ—मनुष्यायु और तिर्यंच आयुका जघन्यस्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त है। देवायु और नरकायुका दश हजार वर्ष प्रमाण जघन्यस्थितिबंध होता है ॥ १४२ ॥

सेसाणं पज्जत्तो बादरएइंदियो विसुद्धो य ।
बंधदि सव्वजहण्णं सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥ १४३ ॥

शेषाणां पर्याप्तो बादरैकेन्द्रियो विशुद्धश्च ।
बध्नाति सर्वजघन्यं स्वकस्वकोत्कृष्टप्रतिभागे ॥ १४३ ॥

अर्थ—बंधयोग्य १२० प्रकृतियोंमेंसे २९ प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबंध ऊपर बता चुके हैं। अब बाकी बचीं ९१ प्रकृतियां; उनमेंभी वैक्रियिकषट्क और मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंके विना ८४ प्रकृतियोंकी जघन्यस्थितियोंको बादरपर्याप्त यथायोग्य विशुद्धपरिणामोंको धारण करनेवाला एकेंद्री जीव ही बांधता है। और उसका प्रमाण गतिके अनुसार त्रैराशिकविधिसे भाग करनेपर अपनी अपनी स्थितिके प्रतिभागका जो जो प्रमाण आवे उतना ही जानना ॥ १४३ ॥

आगे उसी जघन्यस्थितिकी विधि और प्रमाणको दिखाते हैं;—

एयं पणकदि पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छवरबंधो ।
इगिविगलाणं अवरं पल्लासंखूणसंखूणं ॥ १४४ ॥

एकं पञ्चकृतिः पञ्चाशत् शतं सहस्रं च मिथ्यात्ववरबंधः ।
एकविकलानामवरः पल्यासंख्योनसंख्योनम् ॥ १४४ ॥

अर्थ—एकेंद्री और विकल चतुष्क अर्थात् दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, और असंज्ञी-पंचेंद्री; इस तरह कुल पांच प्रकारके जीव, क्रमसे मिथ्यात्वकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका बंध

एक सागर, २५ सागर, ५० सागर, १०० सागर, और १००० सागर प्रमाण करते हैं । अपनी उत्कृष्ट स्थितिमेंसे पल्यका असंख्यातवां भाग हीन (कम) करनेपर जो प्रमाण बाकी रहे उतनी जघन्यस्थितिको एकेंद्री जीव बांधता है । और दोइन्द्री आदि विकल चतुष्क अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थितिमेंसे पल्यके संख्यातवें भाग हीन करनेपर बाकी जो प्रमाण आवै उतनी जघन्यस्थिति बांधते हैं ।। १४४ ।।

आगे संज्ञीपंचेंद्रीकी उत्कृष्ट स्थितिकी अपेक्षासे त्रैराशिकगणितद्वारा एकेंद्रियजीवोंके उत्कृष्ट वा जघन्यस्थितिबंधका प्रमाण निकालकर बताते हैं;—

जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं ।
इदि संपाते सेसाणं इगिविगलेसु उभयठिदी ।। १४५ ।।

यदि सप्ततेः एतावन्मात्रं किं भवति त्रिंशदादीनाम् ।
इति संपाते शेषाणामेकविकलेषूभयस्थितिः ।। १४५ ।।

अर्थ—जो सत्तरि कोड़ाकोड़ीसागरको उत्कृष्टस्थितिवाला मिथ्यात्वकर्म एकेंद्री जीवके एक सागरप्रमाण बंधता है तो तीसकोड़ाकोड़ी सागरआदिकी स्थितिवाले बाकीके कर्मोंका एकेंद्री जीवके कितना स्थिति प्रमाण बंध सकता है ? इसप्रकार संपात (त्रैराशिक) विधि करनेसे एकेन्द्रीजीवकी उत्कृष्टस्थिति है अर्थात् एक सागरके सात भागमेंसे तीन भाग प्रमाण होती है । इसीतरह दोइन्द्री आदि विकलेन्द्रिय जीवोंके भी संज्ञी पंचेंद्रीको उत्कृष्टस्थितिके हिसाबसे सम्पूर्ण कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति निकाललेना चाहिये । और एकेंद्रियादि असंज्ञीपंचेंद्री तककी जघन्यस्थितिसे जघन्यस्थिति निकाल लेनी चाहिये । इसतरह दोनों (उत्कृष्ट व जघन्य) स्थितियां त्रैराशिकके द्वारा निकल आती हैं ।। १४५ ।।

अब जघन्यस्थितिमें कुछ विशेषता है उसको दिखाते हैं;—

सण्णि असण्णिचउक्के एगे अंतोमुहुत्तमाबाहा ।
जेट्ठे संखेज्जगुणा आवलिसंखं असंखभागहियं ।। १४६ ।।

संज्ञिनि असंज्ञिचतुष्के एके अन्तर्मुहूर्तं आबाधा ।
ज्येष्ठे संख्येयगुणा आवलिसंख्यमसंख्यभागाधिकम् ।। १४६ ।।

अर्थ—सैनी जीव, असंज्ञीकी चौकड़ी अर्थात् असंज्ञिपंचेन्द्री १ चौइन्द्री २ तेइन्द्री ३ दोइन्द्री ४, और एकेन्द्री जीवकी प्रकृतियोंकी जघन्य अबाधा (इसका लक्षण आगे १५५ वें गाथा में कहेंगे) अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है । यद्यपि विशेष दृष्टिसे विचार करनेपर संज्ञीपंचेन्द्रियसे एकेन्द्रिय पर्यन्त यह अबाधा उत्तरोत्तर क्रमसे संख्यातगुणी २ कमती है; तो भी अन्तर्मुहूर्तमें ही सामान्यसे वे सब गिनी जाती हैं । क्योंकि अन्तर्मुहूर्तके बहुत भेद हैं । इसकारण यहांपर सामान्य से अन्तर्मुहूर्त ही काल कहा है । ज्येष्ठ अर्थात् उत्कृष्ट अबाधा सैनीजीवमें तो अपनी

जघन्यसे संख्यातगुणी जानना । और असंज्ञिचतुष्कमें अपनी जघन्यसे आवलिके संख्यातवें भाग अधिक तथा एकेन्द्रियमें अपनी जघन्य आवाधाके कालसे आवलीके असंख्यातवें भाग अधिक समझना ॥ १४६ ॥

इसप्रकार सब मनमें रखकर जघन्यस्थितिबंधको सिद्ध करनेके लिये गणित का सूत्र कहते हैं;—

जेट्ठाबाहोवट्टियजेट्ठं आवाहकंडयं तेण ।
आबाहवियप्पहदेणेगूणेणूणजेट्ठमवरठिदी ॥ १४७ ॥

ज्येष्ठावाधोद्वर्तितज्येष्ठमावाधाकाण्डकं तेन ।
आवाधाविकल्पहतेन एकोनेन ऊनज्येष्ठमवरस्थितिः ॥ १४७ ॥

अर्थ— एकेन्द्रियादि जीवोंकी उत्कृष्ट आवाधासे भाजित (भाग की गई) जो अपने अपने कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति उसके प्रमाण (माप) कालको **आवाधाकाण्डक** कहते हैं । अर्थात् उतने २ स्थितिके भेदोंमें एकसरीखा आवाधाका प्रमाण जानना । उस अपने अपने आवाधाकाण्डकके प्रमाणसे अपने अपने आवाधाके भेदोंको गुणनेसे जो प्रमाण हो उसमें एक एक घटाकर जितना प्रमाण आवै उतना कम जो अपनी अपनी उत्कृष्टस्थिति है वह अपनी अपनी जघन्यस्थिति जानना । जैसे एकेन्द्री जीवके मिथ्यात्व की उत्कृष्ट आवाधाका प्रमाण आवलिके असंख्यातवें भाग अधिक अन्तर्मुहूर्त है । उसका भाग मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति १ सागरमें देनेसे जो लब्ध आया वह **आवाधाकाण्डक** नामका प्रमाण हुआ । इस आवाधाकाडकसे और पूर्वकथित आवाधाके भेदोंसे अर्थात् अवलिके असंख्यातवें भाग अधिक अन्तर्मुहूर्त प्रमाणसे गुणाकार करनेपर जो प्रमाण हो उसमेंसे एक कम करे, पुनः उतने प्रमाण-गुणनफलको मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति १ सागरमें घटानेसे जो प्रमाण बचे वही मिथ्यात्वकी जघन्यस्थितिका प्रमाण जानना । इसीप्रकार दो इन्द्री आदिमें भी गणित करके समझ लेना । विस्तार भयसे अधिक नहीं लिखा है ॥ १४७ ॥

अब जीवोंके चौदह[1] भेदोंमें जघन्य और उत्कृष्टस्थितिबंधको जुदा जुदा करके दिखलाते हैं;—

वासूप-बासूअ-वरट्ठिदीओ सूबाअ-सूबाप-जहण्णकालो ।
बीबीवरो बीविजहण्णकालो सेसाणमेवं वयणीयमेदं ॥ १४८ ॥

वासूप-वासूअ-वरस्थितिः सूबाअ-सूबाप-जघन्यकालः ।
बीबीवरः बीविजघन्यकालः शेषाणामेवं वक्तव्यमेतत् ॥ १४८ ॥

---

१ एकेन्द्रीके दो भेद—बादर और सूक्ष्म, तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय । इन सात भेदोंके पर्याप्त और अपर्याप्त भेदोंसे जीवोंके १४ भेद होते हैं ।

अर्थ—बासूप अर्थात् बादर-सूक्ष्मपर्याप्त और बासूअ अर्थात् बादर-सूक्ष्मअपर्याप्त दोनों मिलकर चार तरहके जीवोंके कर्मोंको उत्कृष्टस्थिति, तथा सूक्ष्म-बादरअपर्याप्त और सूक्ष्म-बादरपर्याप्त जीवोंके कर्मोंकी जघन्य स्थिति, इस तरह एकेन्द्री जीवकी कर्म स्थितिके आठ भेद हुए। बीबीवरः अर्थात् दोइन्द्री पर्याप्त इन दोनोंका जघन्यकाल; इस प्रकार दोइन्द्रीकी स्थितिके चार भेद होते हैं। इसीतरह तेइन्द्रीसेलेकर संज्ञीपंचेंद्रीतक की स्थितिके भी चार २ भेद जानना। सब मिलकर चौदह तरहके जीवोंकी अपेक्षा स्थितिके ८+४+४+४+४+४=२८ भेद हुए ॥ १४८ ॥

ऐसा सब कथन मनमें धारण कर स्थितिकी शलाका (हिस्सा) ओंको जाननेकेलिये गाथासूत्र कहते हैं;—

मज्झे थोवसलागा हेट्ठा उवरिं च संखगुणिदकमा ।
सव्वजुदी संखगुणा हेट्ठुवरिं संखगुणमसण्णित्ति ॥ १४९ ॥

मध्ये स्तोकशलाका अधस्तनमुपरि च संख्यगुणितक्रमाः ।
सर्वयुतिः संख्यगुणा अधस्तनोपरि संख्यगुणा असंज्ञीति ॥ १४९ ॥

अर्थ—संज्ञी जीवकी स्थितिके ४ भेदोंको छोड़कर बाकी जीवोंकी स्थितिके २४ भेदोंकी जो संख्यास्वरूप शलाकाएं हैं वे मध्यभागमें थोड़ी हैं। अर्थात् मध्यके भेदोंकी संख्या अल्प है किंतु नीचेके भाग तथा ऊपरके भागके भेदोंकी संख्या पहलेसे क्रमसे संख्यातगुणी जानना। तथा सबका जोड अर्थात् सब भेदोंकी संख्या मिलकर संख्यातगुणी होती है। इस तरह नीचेके भागसे लेकर ऊपरके भाग तकमें असंज्ञी पंचेन्द्री जीवोंतककी हो संख्यातगुणी शलाका जाननी। अर्थात् एकेन्द्रीसे लेकर असंज्ञीपंचेन्द्री तक स्थितिके कुल भेद संख्यात हैं ॥ १४९ ॥

अब संज्ञीजीवोंकी स्थितिके चार भेदोंमें कुछ विशेषता दिखाते हैं,—

सण्णिस्स हु हेट्ठादो ठिदिठाणं संखगुणिदमुवरुवरिं ।
ठिदिआयामोवि तहा सगठिदिठाणं व आबाहा ॥ १५० ॥

संज्ञिनः हि अधस्तनात् स्थितिस्थानं संख्यगुणितमुपर्युपरि ।
स्थित्यायामोपि तथा स्वकस्थितिस्थानं व आबाधा ॥ १५० ॥

अर्थ—संज्ञी (मनसहित) पंचेन्द्रीके चार भेदोंमें नीचेसे लेकर अर्थात् संज्ञीपर्याप्तके जघन्यस्थितिबंधसे ऊपर ऊपर चौथे भेदतक स्थितिके स्थान (भेदोंका प्रमाण) संख्यातगुणे क्रमसे जानने। और स्थितिका काल (समय प्रमाण) भी संख्यातगुणा है। तथा आबाधाकालका प्रमाण स्थितिके स्थानोंकी तरह समझना। भावार्थ—जिस प्रकार स्थितिस्थान और स्थिति आयामका प्रमाण बहु भाग और एक भागके हिसाबसे निकाला जाता है उसी विधिसे आबाधाका प्रमाण भी निकालना चाहिये ॥ १५० ॥

आगे जघन्यस्थितिबंधके (करनेवाले) स्वामी को कहते हैं:—

सत्तरसपंचतित्थाहाराणं सुहुमबादरापुव्वो ।
छव्वेगुव्वमसण्णी जहण्णमाऊण सण्णी वा ॥ १५१ ॥

सप्तदशपञ्चतीर्थाहाराणां सूक्ष्मबादरापूर्वः ।
षड्वैगूर्वमसंज्ञी जघन्यमायुषां संज्ञी वा ॥१५१॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अन्तराय ५, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र, सातावेदनीय) १७ प्रकृतियोंकी जघन्यस्थितिको दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवाला बांधता है । पुरुषवेदादिक (पुंवेद १ संज्वलन ४) पांचकी जघन्यस्थिति बादर अर्थात् नवमें गुणस्थानवाला तीर्थंकरप्रकृति तथा आहारकद्वय इन तीनकी जघन्यस्थितिको आठवें अपूर्वकरणगुणस्थानवाला, और वैक्रियिकषट्क जो देवगति आदि छह हैं उनकी जघन्यस्थितिको असैनी पंचेंद्री जीव, तथा आयुकर्मकी जघन्यस्थितिको संज्ञी अथवा असंज्ञी दोनों ही बांधते हैं ॥ १५१ ॥

आगे अजघन्यादि स्थितिके भेदोंमें जो साद्यादिभेद संभव हो सकते हैं उनको कहते हैं;—

अजहण्णट्ठिदिबंधो चउव्विहो सत्तमूलपयडीणं ।
सेसतिये दुवियप्पो आउचउक्केवि दुवियप्पो ॥ १५२ ॥

अजघन्यस्थितिबन्धः चतुर्विधः सप्तमूलप्रकृतीनाम् ।
शेषत्रये द्विविकल्प आयुश्चतुष्केपि द्विविकल्पः ॥ १५२ ॥

अर्थ—आयुके विना सात मूल प्रकृतियोंका अजघन्य स्थितिबंध सादि आदिकके भेदसे चार तरहका है । और बाकीके उत्कृष्ट वगैरह तीन बंधोंके सादि, अध्रुव ये दो ही भेद हैं । तथा आयुकर्मके उत्कृष्टादिक चार भेदोमें भी स्थितिबंध सादि, अध्रुव ऐसे दो प्रकारका है ॥ १५२ ॥

अब उत्तरप्रकृतियोंमें विशेषता दिखाते हैं;—

संजलणसुहुमचोद्दस-घादीणं चदुविधो दु अजहण्णो ।
सेसतिया पुण दुविहा सेसाणं चदुविधावि दुधा ॥ १५३ ॥

संज्वलनसूक्ष्मचतुर्दशघातिनां चतुर्विधस्तु अजघन्यः ।
शेषत्रयः पुनः द्विविधाः शेषाणां चतुर्विधापि द्विधा ॥ १५३ ॥

अर्थ—संज्वलनकषायकी चौकड़ी, दसवें सूक्ष्मसांपरायकी मतिज्ञानावरणादि घातियाकर्मोंकी १४ प्रकृतियां, इन १८ प्रकृतियोंका अजघन्यस्थितिबंध सादि आदिकके भेदसे चारप्रकार है, और बाकीके जघन्यादि तीन भेदोंके सादि, अध्रुव ये दो ही भेद हैं । शेष प्रकृतियोंके जघन्यादिक चार भेदोंके भी सादि, अध्रुव दो भेद हैं ॥ १५३ ॥

सव्वाओ दु ठिदीओ सुहासुहाणंपि होंति असुहाओ ।
माणुसतिरिक्खदेवाउगं च मोत्तूण सेसाणं ॥ १५४ ॥

सर्वास्तु स्थितयः शुभाशुभानामपि भवन्ति अशुभाः ।
मनुष्यतिर्यग्देवायुष्कं च मुक्त्वा शेषाणाम् ॥ १५४ ॥

अर्थ—मनुष्य, तिर्यंच, देवायुके सिवाय बाकी सब शुभ तथा अशुभ प्रकृतियोंकी स्थितियां अशुभरूप ही हैं; क्योंकि संसारका कारण हैं। इसीलिये इन प्रकृतियोंको बहुतकषायी जीव ही उत्कृष्टस्थितिके साथ बांधता है ॥ १५४ ॥

पहले जो आबाधा कही थी उसका अब लक्षण कहते हैं;—

कम्मसरूवेणागयदव्वं ण य एदि उदयरूवेण ।
रूवेणुदीरणस्स व आबाहा जाव ताव हवे ॥ १५५ ॥

कर्मस्वरूपेणागतद्रव्यं न च एति उदयरूपेण ।
रूपेणोदीरणाया वा आबाधा यावत्तावद्भवेत् ॥ १५५ ॥

अर्थ—कार्मणशरीरनामा नामकर्मके उदयसे योगद्वारा आत्मामें कमस्वरूपसे परिणमता हुआ जो पुद्गलद्रव्य वह जब तक उदयस्वरूप (फल देने स्वरूप) अथवा उदीरणा (विना समयके कर्मका पाक होना) स्वरूप न हो तब तकके उस कालको आबाधा कहते हैं ॥ १५५ ॥

अब उस अबाधाको उदयकी अपेक्षा मूलप्रकृतियोंमें बतलाते हैं;—

उदयं पडि सत्तण्हं आबाहा कोडकोडि उवहीणं ।
वाससयं तप्पडिभागेण य सेसट्ठिदीणं च ॥ १५६ ॥

उदयं प्रति सप्तानामाबाधा कोटीकोटिः उदधीनाम् ।
वर्षशतं तत्प्रतिभागेन च शेषस्थितीनां च ॥ १५६ ॥

अर्थ—एक कोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण स्थितिकी आबाधा सौ वर्ष प्रमाण जानना। और बाकी स्थितियोंकी आबाधा इसीके अनुसार त्रैराशिकविधिसे भाग देनेपर जो जो प्रमाण आवे उतनी उतनी जानना। यह क्रम आयुकर्मके सिवाय सात कर्मोंकी आबाधाके लिये उदयकी अपेक्षासे है ॥ १५६ ॥

आगे अंतःकोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण स्थितिकी आबाधा कहते हैं;—

अंतोकोडाकोडिट्ठिदिस्स अंतोमुहुत्तमाबाहा ।
संखेज्जगुणविहीणं सव्वजहण्णट्ठिदिस्स हवे ॥ १५७ ॥

अन्तःकोटीकोटिस्थितेः अन्तर्मुहूर्तं आबाधा ।
सख्यातगुणविहीनः सर्वजघन्यस्थितेः भवेत् ॥ १५७ ॥

अर्थ—अंतः कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिकी अन्तर्मुहूर्त आवाधा है। और सब जघन्यस्थितियोंकी उस से संख्यातगुणी कम (संख्यातवें भाग) आवाधा होती है ॥ १५७ ॥

अब शेष (बचे) आयुकर्मकी आवाधा कहते हैं;—

पुव्वाणं कोडितिभा-गादासंखेपअद्ध वोत्ति हवे ।
आउस्स य आवाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स ॥१५८॥

पूर्वाणां कोटित्रिभागादासंक्षेपाद्धा वा इति भवेत् ।
आयुषश्च आवाधा न स्थितिप्रतिभाग आयुषः ॥ १५८ ॥

अर्थ—आयुकर्मकी आवाधा कोड़पूर्वके तीसरे भागसे लेकर असंक्षेपाद्धा प्रमाण अर्थात् जिससे थोड़ा काल कोई न हो ऐसे आवलीके असंख्यातवें भाग प्रमाण तक है। आयुकर्मकी आवाधा स्थितिके अनुसार भाग की हुई नहीं है। अर्थात्—जैसे अन्य कर्मोंमें स्थितिके अनुसार भाग करनेसे आवाधाका प्रमाण होता है, इसतरह इस आयुकर्ममें नहीं है ॥ १५८ ॥

आगे उदीरणाकी अपेक्षा आवाधा कहते हैं,—

आवलियं आवाहा उदीरणमासिज्ज सत्तकम्माणं ।
परभवियआउगस्स य उदीरणा णत्थि णियमेण ॥ १५९ ॥

आवलिकमावाधा उदीरणामाश्रित्य सप्तकर्मणाम् ।
परभवीयायुष्कस्य च उदीरणा नास्ति नियमेन ॥ १५९ ॥

अर्थ—सात कर्मोंकी आवाधा उदीरणाकी अपेक्षासे एक आवली मात्र है। और परभवकी आयु जो बांध ली है उसकी उदीरणा निश्चय कर नहीं होती। अर्थात् वर्तमान आयुकी उदीरणा तो हो सकती है, परन्तु आगामी आयुकी नहीं होती ॥ १५९ ॥

अब कर्मोंके निषेकका स्वरूप कहते हैं;—

आवाहूणियकम्मट्ठिदी णिसेगो दु सत्तकम्माणं ।
आउस्स णिसेगो पुण सगट्ठिदी होदि णियमेण ॥ १६० ॥

आवाधोनितकर्मस्थितिः निषेकस्तु सप्तकर्मणाम् ।
आयुषः निषेकः पुनः स्वकस्थितिः भवति नियमेन ॥ १६० ॥

अर्थ—अपनी अपनी कर्मोंकी स्थितिमें आवाधाका काल घटानेसे जो काल शेष रहे उसके समयोंके प्रमाण सात कर्मोंके निषेक (समय समय में जो कर्म खिरें उनके समूहरूप निषेक) जानना। और आयुकर्मका निषेक अपनी अपनी स्थिति प्रमाण है, ऐसा नियमसे समझना ॥ १६० ॥

अब निषेकका क्रम दिखाते हैं,—

आवाहं बोलाविय पढमणिसेगम्मि देय बहुगं तु ।
तत्तो विसेसहीणं विदियस्सादिमणिसेओत्ति ॥ १६१ ॥

आबाधां वा अपलाप्य प्रथमनिषेके देयं बहुकं तु ।
ततो विशेषहीनं द्वितीयस्यादिमनिषेक इति ॥ १६१ ॥

अर्थ—आबाधा कालको छोड़कर जो अनंतर (उसके बाद) का समय है वहां पहली गुणहानिके प्रथम निषेकमें बहुत द्रव्य देना । अर्थात् वहां बहुत कर्मपरमाणू फल देकर खिर जाते हैं (दूर हो जाते हैं) । और दूसरे निषेकसे लेकर दूसरी गुणहानिके प्रथमनिषेकपर्यंत विशेषकर अर्थात् चयकर हीन (कम) कर्मपरमाणू फल देकर दूर होते हैं ॥ १६१ ॥

बिदिये बिदियणिसेगे हाणी पुव्विल्लहाणिअद्धं तु ।
नवं गुणहाणिं पडि हाणी अद्धद्धयं होदि ॥ १६२ ॥

द्वितीये द्वितीयनिषेके हानिः पूर्वहान्यर्धं तु ।
एवं गुणहानिं प्रति हानिः अर्धार्धं भवति ॥ १६२ ॥

अर्थ—द्वितीय गुणहानिके दूसरे निषेकमें पहली गुणहानिके चयसे आधा चय तीसरी गुणहानिके पहले निषेक तक घटाना । इसीप्रकार तीसरी आदि गुणहानिके दूसरे निषेकसे लेकर चौथी आदि सब गुणहानियोंमें क्रमसे आधा आधा चय कम कर्मपरमाणुद्रव्य समझना ॥ १६२ ॥

इस कथनको आगे विस्तारसे कहेंगे; परन्तु उदाहरण द्वारा नाममात्र यहांपर भी दिखा देते हैं।—जैसे कर्म की परमाणु ६३००, आबाधाके विना स्थितिका प्रमाण ४८ समय, एक एक गुणहानि ८ समय प्रमाण, सब स्थिति ४८ समयकी ६ नानागुणहानि, दो गुणहानिका आयाम (काल) १६, अन्योन्याभ्यस्तराशि ६४ । इतनी सब संज्ञा मनमें धारण कर लेना । इन सब गुणहानियोंमेंसे प्रथम गुणहानिमें परमाणू ३२०० खिरते हैं । द्वितीयादिक गुणहानिमें आधे आधे खिरते हैं । इत्यादि कथन अन्यत्र टीकासे जानना । यहाँ विस्तारभयसे अधिक नहीं लिखा है । इसीप्रकार **स्थितिबंधका** प्रकरण समाप्त हुआ ।

आगे अनुभागबन्धको बाईस गाथाओंसे कहते हैं;—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण ।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ १६३ ॥

शुभप्रकृतीनां विशुद्ध्या तीव्र अशुभानां संक्लेशेन ।
विपरीतेन जघन्य अनुभागः सर्वप्रकृतीनाम् ॥ १६३ ॥

अर्थ—सातावेदनीयादिक शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंका अनुभागबंध विशुद्धपरिणामोंसे उत्कृष्ट होता है । असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंका अनुभागबंध क्लेशरूप परिणामोंसे उत्कृष्ट होता है । और विपरीत परिणामोंसे जघन्य अनुभागबंध होता है । अर्थात्-शुभप्रकृतियोंका संक्लेश (तीव्र कषायरूप) परिणामोंसे और अशुभप्रकृतियोंका विशुद्ध (मंद कषायरूप) परिणामोंसे जघन्य अनुभागबंध होता है । इसप्रकार सब प्रकृतियोंका अनुभागबंध जानना ॥ १६३ ॥

आगे तीव्र अनुभागबंधके स्वामीको दिखाते हैं;—

बादालं तु पसत्था विसोहिगुणमुक्कडस्स तिव्वाओ ।
बासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कडसंकिलिट्ठस्स ॥ १६४ ॥

द्वाचत्वारिंशत्तु प्रशस्ता विशुद्धिगुणोत्कटस्य तीव्राः ।
द्व्यशीतिः अप्रशस्ता मिथ्योत्कटसंक्लिष्टस्य ॥ १६४ ॥

अर्थ—पहले कही गईं जो ४२ पुण्य प्रकृतियां हैं उनका उत्कृष्ट अनुभागबंध विशुद्धतारूप गुणकी उत्कृष्टतावाले जीवके होता है। और असातादिक ८२ अशुभ प्रकृतियां उत्कृष्ट संक्लेशरूप परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीवके तीव्र (उत्कृष्ट) अनुभाग लेकर बंधती हैं ॥ १६४ ॥

आदाओ उज्जोओ मणुवतिरिक्खाउगं पसत्थासु ।
मिच्छस्स होंति तिव्वा सम्माइट्ठिस्स सेसाओ ॥ १६५ ॥

आतप उद्योतः मानवतिर्यगायुष्कं प्रशस्तासु ।
मिथ्यस्य भवन्ति तीव्राः सम्यग्दृष्टेः शेषाः ॥ १६५ ॥

अर्थ—उक्त ४२ प्रशस्त प्रकृतियोंमेंसे आतप, उद्योत, मनुष्यायु और तिर्यंचायु इन चारका उत्कृष्ट अनुभागबंध विशुद्धमिथ्यादृष्टिके होता है। और शेष ३८ प्रकृतियोंका विशुद्धसम्यग्दृष्टिके तीव्र अनुभागबंध होता है ॥ १६५ ॥

मणुओरालदुवज्जं विसुद्धसुरणिरयअविरदे तिव्वा ।
देवाउ अप्पमत्ते खवगे अवसेसबत्तीसा ॥ १६६ ॥

मनुष्यौदारिकद्विवज्रं विशुद्धसुरनिरयाविरते तीव्राः ।
देवायुरप्रमत्ते क्षपके अवशेषद्वात्रिंशत् ॥ १६६ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिकी ३८ प्रकृतियोंमेंसे मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिकशरीर तथा उसके आंगोपांग, वज्रवृषभनाराचसंहनन, इन पांचोंका तीव्र अनुभागबंध अनंतानुबंधी कषायके विसंयोजन करनेमें (अप्रत्याख्यानादिरूप परिणमावनेमें) तीन करण करता हुआ अनिवृत्तिकरणके अन्तसमयमें विशुद्ध देव वा नारकी असंयतसम्यग्दृष्टि करता है। और देवायुको अप्रमत्तगुणस्थान वाला तीव्र अनुभागसहित बांधता है। बाकी ३२ प्रकृतियोंका तीव्र अनुभागबंध क्षपकश्रेणीवाले जीवके होता है ॥ १६६ ॥

इन बाकीकी ३२ प्रकृतियोंके नाम गिनाते हैं:—

उवघादहीणतीसे अपुव्वकरणस्स उच्चजससादे ।
संमेलिदे हवंति हु खवगस्सऽवसेसबत्तीसा ॥ १६७ ॥

उपघातहीनत्रिंशत् अपूर्वकरणस्य उच्चयशःसातम् ।
संमेलिते भवन्ति हि क्षपकस्यावशेषद्वात्रिंशत् ॥ १६७ ॥

अर्थ—अपूर्वकरणके छट्ठे भागकी ३० व्युच्छित्ति प्रकृतियोंमेंसे एक उपघात प्रकृतिको छोड़ बाकी २९ प्रकृतियां, और उच्च गोत्र, यशस्कीर्ति, सातवेदनीय ये तीन प्रकृतियां, इसप्रकार सब ३२ प्रकृतियां क्षपकश्रेणीवालेके पूर्व गाथामें कहीं थीं सो जानना ॥ १६७ ॥

मिच्छस्संतिमणवयं णरतिरियाऊणि वामणरतिरिये ।
एइंदियआदावं थावरणामं च सुरमिच्छे ॥ १६८ ॥

मिथ्यात्वस्यान्तिमनवकं नरतिर्यगायुषी वामनरतिरश्चि ।
एकेन्द्रियमातापं स्थावरनाम च सुरमिथ्ये ॥ १६८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानकी व्युच्छित्ति प्रकृतियोंमेंसे अंतकी सूक्ष्मादि नव प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबंध संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य वा तिर्यंच करते हैं, और विशुद्ध (मंदकषाय) परिणामवाले मनुष्य वा तिर्यंच मनुष्यायु, तिर्यंचायुके उत्कृष्ट अनुभागको बांधते हैं। तथा मिथ्यादृष्टि देव संक्लेशपरिणामोंसे एकेन्द्री और स्थावर प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभाग बांधता है, और विशुद्धपरिणामोंसे अपनी आयुके छह महीने बाकी रहनेपर आताप प्रकृतिका तीव्र अनुभागबंध करता है ॥ १६८ ॥

उज्जोवो तमतमगे सुरणारयमिच्छगे असंपत्तं ।
तिरियदुगं सेसा पुण चदुगदिमिच्छे किलिट्ठे य ॥ १६९ ॥

उद्योतः तमस्तमके सुरनारकमिथ्यके असंप्राप्तम् ।
तिर्यग्द्विकं शेषाः पुनः चतुर्गतिमिथ्ये क्लिष्टे च ॥ १६९ ॥

अर्थ—सातवें तमस्तमक नामा नरकमें उपशमसम्यक्त्वके सन्मुख हुआ विशुद्ध मिथ्यादृष्टि नारकी जीव उद्योत प्रकृतिका, और देव व नारकी मिथ्यादृष्टि जीव असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, तिर्यंच गति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी इन तीनोंका उत्कृष्ट अनुभाग बांधते हैं। और बाकी रहीं ६८ प्रकृतियोंको चारोंगतिके संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट अनुभागसहित बांधते हैं ॥ १६९ ॥

अब जघन्य अनुभागबन्धके स्वामियोंको कहते हैं;—

वण्णचउक्कमसत्थं उवघादो खवगघादि पणवीसं ।
तीसाणमवरबंधो सगसगवोच्छेदठाणम्हि ॥ १७० ॥

वर्णचतुष्कमशस्तमुपघातः क्षपकघाति पञ्चविंशतिः ।
त्रिंशतामवरबन्धः स्वकस्वकव्युच्छेदस्थाने ॥ १७० ॥

अर्थ—अशुभ वर्णादि चार, तथा उपघात और क्षय होनेवाली घातियाकर्मोंकी पचीस अर्थात् ज्ञानवरण ५ अन्तराय ५ दर्शनावरण ४ निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, संज्वलन ४, इन सब ३० प्रकृतियोंका अपनी अपनी बंधव्युच्छित्तिके ठिकानेपर जघन्य अनुभागबंध होता है ॥ १७० ॥

अणथीणतियं मिच्छं मिच्छे अयदे हु बिदियकोधादी ।
देसे तदियकसाया संजमगुणपच्छिदे सोलं ॥ १७१ ॥
अन-स्त्यानत्रयं मिथ्यात्वं मिथ्ये अयते हि द्वितीयक्रोधादयः ।
देशे तृतीयकषायाः संयमगुणप्रस्थिते षोडश ॥ १७१ ॥

अर्थ—अनंतानुबंधी कषाय ४ स्त्यानगृद्ध्यादिक ३ और मिथ्यात्व ये आठ मिथ्यादृष्टिमें, और दूसरी अप्रत्याख्यानकषाय ४ असंयतमें, तीसरी प्रत्याख्यानकषाय ४ देशसंयत (पांचवें) गुणस्थानमें; इसप्रकार १६ प्रकृतियोंको इन गुणस्थानोंमें जो संयमगुणके धारनेको सन्मुख हुआ है ऐसा विशुद्ध परिणामवाला जीव जघन्य अनुभागसहित बांधता है ॥ १७१ ॥

आहारमप्पमत्ते पमत्तसुद्धे य अरदिसोगाणं ।
णरतिरिये सुहुमतियं वियलं वेगुव्वछक्काओ ॥ १७२ ॥
आहारमप्रमत्ते प्रमत्तशुद्धे च अरतिशोकयोः ।
नरतिरश्चि सूक्ष्मत्रयं विकलं वैगूर्वषट्कायुः ॥ १७२ ॥

अर्थ—आहारकशरीर और आहारक आंगोपांग ये दो प्रकृतियां शुभ होनेसे प्रमत्त गुणस्थानके सन्मुख हुए संक्लेशपरिणामवाले अप्रमत्तगुणस्थानवालेके, तथा अरति, शोक ये दो प्रकृतियां अशुभ होनेसे अप्रमत्तगुणस्थानके सन्मुख हुआ ऐसे विशुद्ध प्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीवके जघन्य अनुभागसहित बंधती हैं। और सूक्ष्मादि तीन, विकलेन्द्रिय तीन, देवगति आदि वैक्रियिक छहका समूह; और ४ आयु, ये सोलह प्रकृतियां मनुष्य अथवा तिर्यंचके जघन्य अनुभागसहित बंधती हैं ॥ १७२ ॥

सुरणिरये उज्जोवोरालदुगं तमतमम्हि तिरियदुगं ।
णीचं च तिगदिमज्झिमपरिणामे थावरेयक्खं ॥ १७३ ॥
सुरनिरये उद्योतौरालद्विकं तमस्तमसि तिर्यग्द्विकम् ।
नीचं च त्रिगतिमध्यमपरिणामे स्थावरैकाक्षम् ॥ १७३ ॥

अर्थ—उद्योत, औदारिक द्विक-ये तीन देव नारकीके, और सातवें तमस्तमकनरकमें विशुद्ध नारकीके तिर्यंगतिका जोड़ा, तथा नीचगोत्र ये तीन, और स्थावर, एकेन्द्री ये दो प्रकृतियां नारकीके विना तीनगतिवाले तीव्र विशुद्ध संक्लेश रहित मध्यमपरिणामी जीवोंके जघन्य अनुभागसहित बंधती हैं ॥ १७३ ॥

सोहम्मोत्ति य तावं तित्थयरं अविरदे मणुस्सम्हि ।
चदुगदिवामकिलिट्ठे पण्णरस दुवे विसोहीये ॥ १७४ ॥
सौधर्मे इति च आतपं तीर्थंकरमविरते मनुष्ये ।
चतुर्गतिवामक्लिष्टे पञ्चदश द्वे विशुद्धे ॥ १७४ ॥

अर्थ—भवनत्रिकसे लेकर सौधर्मद्विक तक अर्थात् सौधर्म ऐशाननामक पहले दूसरे स्वर्गतकके संक्लेशपरिणामी देवोंके आतप प्रकृति, तथा नरक जानेको संमुख हुए अविरतगुणस्थानवर्ती मनुष्यके ही तीर्थंकर प्रकृति, चारों गतिके संक्लेश परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवोंके १५ प्रकृतियां, और चारों गतिके विशुद्ध परिणामी जीवोंके दो प्रकृतियां, जघन्य अनुभागसहित बंधती हैं ॥ १४७ ॥

अब उन १५ तथा दो प्रकृतियोंके नाम कहते हुये उक्त गाथाके उत्तरार्धको स्पष्ट करते हैं;—

परघादहुगं तेजदु तसवण्णचउक्क णिमिणपंचिंदी ।
अगुरुलहुं च किलिट्ठे इत्थिणउंसं विसोहीये ॥ १७५ ॥

परघातद्विकं तेजद्वि त्रसवर्णचतुष्कं निर्माणपञ्चेन्द्रियम् ।
अगुरुलघु च क्लिष्टे स्त्रीनपुंसकं विशुद्धे ॥ १७५ ॥

अर्थ—परघात, उच्छ्वास ये दो, तैजसद्विक, त्रसादि चार, शुभ वर्णादि चार, निर्माण, पंचेंद्री और अगुरुलघु, ये १५ संक्लेशपरिणामी जीवकी, तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये दो विशुद्धपरिणामी जीवकी प्रकृतियां जानना ॥ १७५ ॥

सम्मो वा मिच्छो वा अट्ठ अपरियत्तमज्झिमो य जदि ।
परियत्तमाणमज्झिममिच्छाइट्ठी दु तेवीसं ॥ १७६ ॥

सम्यग्वा मिथ्यो वा अष्ट अपरिवर्तमध्यमश्च यदि ।
परिवर्तमानमध्यममिथ्यादृष्टिस्तु त्रयोविंशतिः ॥ १७६ ॥

अर्थ—आगेकी गाथामें जो ३१ प्रकृति कहेंगे, उनमेंसे पहिली आठ प्रकृतियोंको अपरिवर्तमान[1] मध्यमपरिणामवाला सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव जघन्य अनुभाग सहित बांधता है। और शेष (बाकी) २३ प्रकृतियोंको परिवर्तमानमध्यमपरिणामी मिथ्यादृष्टि जीव ही जघन्य अनुभागसहित बाँधता है ॥ १७६ ॥

अब उन ३१ प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

थिरसुहजससादहुगं उभये मिच्छेव उच्चसंठाणं ।
संहदिगमणं णरसुरसुभगादेज्जाण जुम्मं च ॥ १७७ ॥

स्थिरशुभयशस्सातद्विकमुभयस्मिन् मिथ्ये एव उच्चसंस्थानम् ।
संहतिगमनं नरसुरसुभगादेयानां युग्मं च ॥ १७७ ॥

---

१ जो समय समय बढ़ते ही जावें अथवा घटते ही जावें ऐसे परिणाम अपरिवर्तमान कहे जाते हैं। क्योंकि ये पलटकर उल्टे नहीं आते, बढ़ते ही जाते हैं या घटते ही जाते हैं। अतएव जो उलटे (पीछे) नहीं आते, उनमें मध्यम परिणामोंको अपरिवर्तमानमध्यम कहते हैं।

अर्थ—स्थिर, शुभ, यशस्कीर्ति, सातावेदनीय इन चारोंका जोड़ा अर्थात् स्थिर १ अस्थिरादि आठ प्रकृतियां सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दोनोंके जघन्य अनुभाग (कर्मोंका रस) सहित बंधती हैं। और उच्च गोत्र, ६ संस्थान, ६ संहनन, विहायोगतिका जोड़ा, तथा मनुष्यगति-देवगति-सुभग-आदेय इन चारोंका जोड़ा, सब मिलकर २३ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबंध मिथ्यादृष्टिके ही होता है ॥१७७॥

आगे मूलप्रकृतियोंके उत्कृष्ट आदि अनुभागके सादि आदिक भेद कहते हैं;—

घादीणं अजहण्णोऽणुक्कस्सो वेयणीयणामाणं ।
अजहण्णमणुक्कस्सो गोदे चदुधा दुधा सेसा ॥ १७८ ॥

घातीनामजघन्योऽनुत्कृष्टो वेदनीयनाम्नोः ।
अजघन्य अनुत्कृष्टो गोत्रे चतुर्धा द्विधा शेषाः ॥ १७८ ॥

अर्थ—चारों घातियाकर्मोंका अजघन्य अनुभागबंध, वेदनीय और नामकर्मका अनुत्कृष्ट अनुभागबंध, और गोत्रकर्मका अजघन्य तथा अनुत्कृष्ट अनुभागबंध, इन सबके सादि आदिक चार-चार भेद हैं। और बाकीके चारों घातिया कर्मोंके अजघन्यके विना तीन भेद, वेदनीयके तथा नामके अनुत्कृष्टके सिवाय तीन भेद, गोत्रकर्मके अजघन्य तथा अनुत्कृष्टके विना दो भेद, इन सबके सादि और अध्रुव दो ही भेद हैं ॥ १७८ ॥

अब प्रशस्तादि ध्रुवप्रकृतियोंके जघन्यादि संभव भेदोंके सादि आदिक भेद कहते हैं;—

सत्थाणं धुवियाणमणुक्कस्समसत्थगाण धुवियाणं ।
अजहण्णं च य चदुधा सेसा सेसाणयं च दुधा ॥ १७९ ॥

शस्तानां ध्रुवाणामनुत्कृष्ट अशस्तकानां ध्रुवाणाम् ।
अजघन्यश्च च चतुर्धा शेषा शेषाणां च द्विधा ॥ १७९ ॥

भी समझना । तथा दारुभागके अनंतवें भागतक शक्तिरूप स्पर्द्धक देशघाती हैं । और शेष बहुभागसे लेकर शैलभाग तकके स्पर्द्धक सर्वघाती हैं । अर्थात् इनके उदय होनेपर आत्माके गुण प्रगट नहीं होते ॥ १८० ॥

अब मिथ्यात्वप्रकृतिमें विशेषता दिखाते हैं;—

देसोत्ति हवे सम्मं तत्तो दारूअणंतिमे मिस्सं ।
सेसा अणंतभागा अट्ठिसिलाफड्डया मिच्छे ॥ १८१ ॥

देश इति भवेत् सम्यक्त्वं ततः दार्वनन्तिमे मिश्रम् ।
शेषा अनन्तभागा अस्थिशिलास्पर्द्धका मिथ्यात्वे ॥ १८१ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वप्रकृतिके लताभागसे दारु भागके अनन्तवें भागतक देशघाती स्पर्द्धक सम्यक्त्वप्रकृतिके हैं, तथा दारुभागके अनंत बहुभागके अनंतमें भागप्रमाण जुदीजातिके ही सर्वघातियास्पर्द्धक मिश्र प्रकृतिके जानना । और शेष अनंत बहुभाग तथा अस्थिभाग, शैलभागरूप स्पर्द्धक मिथ्यात्वप्रकृतिके जानना ॥ १८१ ॥

आवरणदेसघादंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं ।
चदुविधभावपरिणदा तिविधा भावा हु सेसाणं ॥ १८२ ॥

आवरणदेशघात्यन्तरायसंज्वलनपुरुषसप्तदश ।
चतुर्विधभावपरिणताः त्रिविधा भावा हि शेषाणाम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—आवरणोंमें देशघातिकी ७ प्रकृतियां (४ ज्ञानावरण ३ दर्शनावरण), अंतराय ५, संज्वलन ४, और पुरुषवेद, ये १७ प्रकृतियां शैल आदिक चारों तरहके भावरूप परिणमन करती हैं। और बाकी सब प्रकृतियोंके शैल आदि तीन तरहके परिणमन होते हैं, केवल लतारूप परिणमन नहीं होता ॥ १८२ ॥

आगे शेष अघातिया कर्मोंकी प्रकृतियोंको कहते हैं;—

अवसेसा पयडीओ अघादिया घादियाण पडिभागा ।
ता एव पुण्णपावा सेसा पावा मुणेयव्वा ॥ १८३ ॥

अवशेषाः प्रकृतयः अघातिका घातिकानां प्रतिभागाः ।
ता एव पुण्यपापाः शेषाः पापा मन्तव्याः ॥ १८३ ॥

अर्थ—शेष अघातिया कर्मोंकी प्रकृतियां घातियाकर्मोंकी तरह प्रतिभागसहित जाननी । अर्थात् तीन भावरूप परिणमती हैं । और वे ही पुण्यरूप तथा पापरूप होती हैं । तथा बाकी बची घातियाकर्मोंकी सब प्रकृतियां पापरूप ही हैं ॥ १८३ ॥

अब प्रशस्त तथा अप्रशस्तरूप अघातिया कर्मोंकी जो शक्तियां (स्पर्द्धक) हैं उनको दूसरे दूसरे नामसे कहते हैं—

गुडखंडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिंबकंजीरा ।
विसहालाहलसरिसाऽसत्था हु अघादिपडिभागा ॥ १८४ ॥

गुडखण्डशर्करामृतसदृशाः शस्ता हि निम्बकाञ्जीराः ।
विषहालाहल सदृशा अशस्ता हि अघातिप्रतिभागाः ॥ १८४ ॥

अर्थ—अघातियाकर्मोंमें प्रशस्तप्रकृतियोंके शक्तिभेद गुड, खांड, मिश्री और अमृतके समान जानने । और अप्रशस्त प्रकृतियोंके नींव, कांजीर, विष, हालाहलके समान शक्तिभेद (स्पर्द्धक) जानना । अर्थात् सांसारिक सुख-दुःखके कारण-दोनों ही-पुण्य पाप कर्मोंकी शक्तियोंको चार चार तरहका तरतमरूपसे समझना ॥ १८४ ॥ इसप्रकार **अनुभागवंध**का स्वरूप कहा ॥

अब प्रदेशवंधको ३३ गाथाओंमें कहते हैं;—

एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्गं ।
वंधदि सगहेदूहिं य अणादियं सादियं उभयं ॥ १८५ ॥

एकक्षेत्रावगाढं सर्वप्रदेशैः कर्मणो योग्यम् ।
वध्नाति स्वकहेतुभिश्च अनादिकं सादिकमुभयम् ॥ १८५ ॥

अर्थ—जघन्य अवगाहनारूप एक क्षेत्रमें स्थित और कर्मरूप परिणमनेके योग्य अनादि अथवा सादि अथवा दोनों स्वरूप जो पुद्गलद्रव्य है उसको यह जीव अपने सव प्रदेशोंसे मिथ्यात्वादिकके निमित्तसे वांधता है । अर्थात् कर्मरूप पुद्गलोंका आत्माके प्रदेशोंके साथ संवंध होना **प्रदेशवंध** है । यहांपर सूक्ष्मनिगोद जीवकी घनांगुलके असंख्यातवें भाग अवगाहना (जगह) को एक क्षेत्र जानना ॥ १८५ ॥

एयसरीरोगाहियमेयक्खेत्तं अणेयखेत्तं तु ।
अवसेसलोयखेत्तं खेत्तणुसारिट्ठियं रूवी ॥ १८६ ॥

एकशरीरावगाहितमेकक्षेत्रमनेकक्षेत्रं तु ।
अवशेषलोकक्षेत्रं क्षेत्रानुसारिस्थितं रूपि ॥ १८६ ॥

अर्थ—एक शरीरसे रुकी हुई जगहको एक क्षेत्र कहते हैं, और बाकी सव लोकके क्षेत्रको अनेक क्षेत्र कहते है । तथा अपने अपने क्षेत्र के अनुसार ठहरे हुए पुद्गलद्रव्यका प्रमाण त्रैराशिकसे समझ लेना । यहां पर एक शरीर शब्दसे जघन्यशरीर ही लेना, क्योंकि निगोदशरीरवाले जीव वहुत हैं । इसीकारण मुख्यतासे घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण एक क्षेत्र समझना ॥ १८६ ॥

एयाणेयक्खेत्तट्ठियरूविअणंतिमं हवे जोग्गं ।
अवसेसं तु अजोग्गं सादि अणादी हवे तत्थ ॥ १८७ ॥

एकानेकक्षेत्रस्थितरूप्यनन्तिमं भवेत् योग्यम् ।
अवशेषं तु अयोग्यं सादि अनादि भवेत् तत्र ॥ १८७ ॥

अर्थ—एक तथा अनेक क्षेत्रोंमें ठहरा हुआ जो पुद्गलद्रव्य उसके अनंतवें भाग पुद्गल-परमाणुओंका समूह कर्मरूप होने योग्य हैं, और बाकी अनंत बहुभाग प्रमाण कर्मरूप होनेके अयोग्य है। इसप्रकार एक क्षेत्रस्थित योग्य १ एक क्षेत्रस्थित अयोग्य २ अनेक क्षेत्रस्थित योग्य ३ अनेक क्षेत्रस्थित अयोग्य ४ ये चार भेद हुए। इन चारों में भी एक एकके सादि तथा अनादि भेद जानना ॥ १८७ ॥

अब सादिआदिके प्रमाण को कहते हैं;—

जेट्ठे समयपबद्धे अतीदकाले हदेण सव्वेण ।
जीवेण हदे सव्वं सादी होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥ १८८ ॥
ज्येष्ठे समयप्रवद्धे अतीतकालेन हतेन सर्वेण ।
जीवेन हते सर्वं सादि भवतीति निर्दिष्टम् ॥ १८८ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट योगोंके परिणमनसे उपार्जन (पैदा) किया जो उत्कृष्ट समयप्रबद्धका प्रमाण उसको अतीत कालके समयोंसे गुणा करे। फिर जो प्रमाण आवे उसे सब जीवराशिसे गुणा करने पर सब जीवोंके सादि द्रव्यका प्रमाण होता है ॥ १८८ ॥

आगे पूर्व कहे गये भेदोंमें सादिद्रव्यका प्रमाण कहते हैं;—

सगसगखेत्तगयस्स य अणंतिमं जोग्गदव्वगयसादी ।
सेसं अजोग्गसंगयसादी होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥ १८९ ॥
स्वकस्वकक्षेत्रगतस्य च अनन्तिमं योग्यद्रव्यगतसादि ।
शेषमयोग्यसगतसादि भवतीति निर्दिष्टम् ॥ १८९ ॥

अर्थ—अपने अपने एक तथा अनेक क्षेत्रमें रहनेवाले पुद्गल द्रव्यके अनंतवें भाग योग्य सादि द्रव्य हैं, और इससे बाकी अनंत बहुभाग अयोग्य सादि द्रव्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ १८९ ॥

अब अनादि द्रव्यका प्रमाण कहते हैं,—

सगसगसादिविहीणे जोग्गाजोग्गे य होदि णियमेण ।
जोग्गाजोग्गाणं पुण अणादिदव्वाण परिमाणं ॥ १९० ॥
स्वकस्वकसादिविहीने योग्यायोग्ये च भवति नियमेन ।
योग्यायोग्यानां पुनः अनादिद्रव्याणां परिमाणम् ॥ १९० ॥

अर्थ—एक क्षेत्रमें स्थित योग्य अयोग्य द्रव्य तथा अनेक क्षेत्रमें मौजूद योग्य वा अयोग्य द्रव्यका जो परिणाम है उनमें अपना अपना सादि द्रव्यका प्रमाण घटानेसे जो बचे वह क्रमसे

सुखदुःखनिमित्ताद् बहुनिर्जरक इति वेदनीयस्य ।
सर्वेभ्यः बहुकं द्रव्यं भवतीति निर्दिष्टम् १९३ ॥ १९३ ॥

अर्थ—वेदनीयकर्म सुखदुःखका कारण है, इसलिये इसकी निर्जरा भी बहुत होती है । इसी वास्ते सब कर्मोंसे बहुत द्रव्य इस वेदनीयका ही जिनेन्द्र भगवानने कहा है ॥ १९३ ॥

आगे अन्यकर्मोंका द्रव्यविभाग स्थितिके अनुसार दिखाते हैं;—

सेसाणं पयडीणं ठिदिपडिभागेण होदि दव्वं तु ।
आवलिअसंखभागो पडिभागो होदि णियमेण ॥ १९४ ॥

शेषाणां प्रकृतीनां स्थितिप्रतिभागेन भवति द्रव्यं तु ।
आवल्यसंख्यभागः प्रतिभागो भवति नियमेन ॥ १९४ ॥

अर्थ—वेदनीयके सिवाय बाकी सब मूलप्रकृतियोंके द्रव्यका स्थितिके अनुसार बटवारा होता है । जिसकी स्थिति अधिक है उसका अधिक, कमको कम, तथा समान स्थितिवालेको समान द्रव्य हिस्सामें आता है, ऐसा जानना । और इनके बांट करनेमें प्रतिभागहार नियमसे आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण समझना ॥ १९४ ॥

अब विभाग (हिस्सा) होनेका क्रम दिखाते हैं;—

बहुभागे समभागो अट्ठण्हं होदि एक्कभागम्हि ।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ १९५ ॥

बहुभागे समभागः अष्टानां भवति एकभागे ।
उक्तक्रमः तत्रापि बहुभागो बहुकस्य देयस्तु ॥ १९५ ॥

अर्थ—बहुभागका समान भाग करके आठ प्रकृतियोंको देना, और बचेहुये एक भागमें पहले कहेहुए क्रमसे आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देते जाना । उसमें भी जो बहुत द्रव्यवाला हो उसको बहुभाग देना । ऐसा अन्ततक प्रतिभाग (भागमेंसे भाग) करते जाना ॥ १९५ ॥

भावार्थः—कार्माण समय प्रबद्धके द्रव्य प्रमाणमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देना । उसमें एक भागको पृथक् रखकर, बहुभागके आठ समान भाग करना, और यह एक एक भाग आठ मूल प्रकृतियोंको देना । शेष एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देना । उसमें भी एक भागको जुदा रखकर शेष बहुभाग वेदनीयको देना । पुनः जुदे रक्खे हुए एक भागमें प्रतिभागका (आवलीके असंख्यातवें भागका) भाग देना और एक भागको जुदा रख बहुभाग मोहनीयको देना । पुनः एक भागमें प्रतिभागका भाग देना उसमें भी एक भागको जुदा रख बहुभागके तीन समान भाग करना और एक एक भाग ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तरायको देना । पुनः एक भागमें प्रतिभागका भाग दे एक भागको जुदा रख बहुभागके दो समान भाग

करना और एक एक भाग नाम गोत्रको देना, शेष एक भाग आयुकर्मको देना । इस क्रमसे "आउगभागो थोवो" इस गाथामें कहा हुआ क्रम सिद्ध होता है ।

अब उत्तर प्रकृतियोंमें बटवारा (हिस्सा) होनेका क्रम दिखाते हैं;—

उत्तरपयडीसु पुणो मोहावरणा हवंति हीणकमा ।
अहियकमा पुण णामाविग्घा य ण भंजणं सेसे ॥ १९६ ॥

उत्तरप्रकृतिषु पुनः मोहावरणा भवन्ति हीनक्रमाः ।
अधिकक्रमाः पुनः नामविघ्नाश्च न भञ्जनं शेषे ॥ १९६ ॥

अर्थ—उत्तर प्रकृतियोंमें मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरणके भेदोंमें क्रमसे हीन हीन द्रव्य है। और नामकर्म-अंतराय कर्मके भेदोंमें क्रमसे अधिक अधिक है । तथा बाकी बचे वेदनीय-गोत्र-आयुकर्म इन तीनोंके भेदोंमें बटवारा नहीं होता । क्योंकि इनकी एक एकही प्रकृति एक कालमें बंधती है । जैसे वेदनीयमें साताका बंध होवे या असाताका बंध होवे, परन्तु दोनोंका एक साथ बंध नहीं होता । इसकारण मूलप्रकृतिके द्रव्यके प्रमाण ही इन तीनोंमें द्रव्य जानना ॥ १९६ ॥

आगे घातिया कर्मोंमें सर्वघाती तथा देशघातीका बटवारा कहते हैं;—

सव्वावरणं दव्वं अणंतभागो दु मूलपयडीणं ।
सेसा अणतभागा देसावरणं हवे दव्वं ॥ १९७ ॥

सर्वावरणं द्रव्यमनन्तभागस्तु मूलप्रकृतीनाम् ।
शेषा अनन्तभागा देशावरणं भवेद् द्रव्यम् ॥ १९७ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय इन तीन मूल प्रकृतियोंके अपने अपने द्रव्यमें यथायोग्य अनन्तका भाग देनेसे एक भाग सर्वघातीका द्रव्य होता है, और बाकी अनंत बहुभागप्रमाण द्रव्य देशघाती प्रकृतियोंका कहा है ॥ १९७ ॥

अब सर्वघाती द्रव्यका प्रमाण निकालनेके लिये प्रतिभागहारका प्रमाण कहते हैं,—

देसावरणण्णोण्णब्भत्थं तु अणंतसंखमेत्तं खु ।
सव्वावरणधणट्ठं पडिभागो होदि घादीणं ॥ १९८ ॥

देशावरणान्योन्याभ्यस्तं तु अनन्तसंख्यामात्रं खलु ।
सर्वावरणधनार्थं प्रतिभागो भवति घातिनाम् ॥ १९८ ॥

अर्थ—चार ज्ञानावरणादि देशघाती प्रकृतियोंकी अन्योन्याभ्यस्तराशि अनंतसंख्या प्रमाण है । वही राशि सर्वघाती प्रकृतियोंके द्रव्य प्रमाणको निकालनेके लिये घातिया कर्मोंका प्रतिभाग जानना ॥ १९८ ॥

आगे सर्वघाती, देशघाती द्रव्यका विशेष विभाग (हिस्सा) दिखाते हैं;—

सव्वावरणं दव्वं विभंजणिज्जं तु उभयपयडीसु ।
देसावरणं दव्वं देसावरणेसु णेविदरे ॥ १९९ ॥

सर्वावरणं द्रव्यं विभजनीयं तु उभयप्रकृतिषु ।
देशावरणं द्रव्यं देशावरणेषु नैवेतरस्मिन् ॥ १९९ ॥

अर्थ—सर्वघाती द्रव्यका सर्वघाती देशघाती दोनों प्रकृतियोंमें विभाग कर देना । और देशघाती द्रव्यका विभाग देशघातीमें ही देना । केवलज्ञानावरणादि सर्वघातीया प्रकृतियोंमें नहीं देना ॥ १९९ ॥

आगे उत्तर प्रकृतियोंमें विभाग दिखाते हैं;—

बहुभागे समभागो बंधाणं होदि एक्कभागम्हि ।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ २०० ॥

बहुभागे समभागो बन्धानां भवति एकभागे ।
उक्तक्रमः तत्रापि बहुभागः बहुकस्य देयस्तु ॥ २०० ॥

अर्थ—जिनका एक समयमें बंध हो उन प्रकृतियोंमें अपने अपने पिंड-द्रव्यको आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर पूर्वोक्त रीतिसे बहुभागका तो बराबर बांटकर अपनी अपनी उत्तर प्रकृतियोंमें समान द्रव्य देना । और शेष एक भागमें भी पूर्व कहे क्रमसे ही भाग कर कर के बहुभाग बहुत द्रव्यवालेको देना ॥ २०० ॥

यही बात दिखाते हैं:—

घादितियाणं सगसगसव्वावरणीयसव्वदव्वं तु ।
उत्तकमेण य देयं विवरीयं णामविग्घाणं ॥ २०१ ॥

घातित्रयाणां स्वकस्वकसर्वावरणीयसर्वद्रव्यं तु ।
उक्तक्रमेण च देयं विपरीतं नामविघ्नानाम् ॥ २०१ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय इन घातिया कर्मोंका क्रमसे—आदि प्रकृतिसे लगाय अंतकी प्रकृति पर्यंत अपना अपना सर्वघाती द्रव्य घटता घटता देना । और नाम तथा अन्तराय इनकी प्रकृतियोंका द्रव्य विपरीत अर्थात् बढ़ता बढ़ता अथवा अन्तसे लेकर आदि प्रकृति पर्यन्त घटता घटता देना ॥ २०१ ॥

आगे मोहनीयकर्ममें विशेषता दिखाते हैं,—

मोहे मिच्छत्तादीसत्तरसण्हं तु दिज्जदे हीणं ।
संजलणाणं भागेव होदि पणणोकसायाणं ॥ २०२ ॥

मोहे मिथ्यात्वादिसप्तदशानां तु दीयते हीनम् ।
संज्वलनानां भाग इव भवति पञ्चनोकषायाणाम् ॥ २०२ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्ममें मिथ्यात्वादिक (मिथ्यात्व और चारों तरहका लोभ माया क्रोध मान) सत्रह प्रकृतियोंको क्रमसे हीन हीन (कम कम) द्रव्य देना। और पांच[1] नोकषायका भाग संज्वलन कषायके भागके समान जानना ॥ २०२ ॥

आगे इनके विभाग होनेके क्रमको दिखाते हैं;—

संजलणभागबहुभागद्धं अकसायसंगयं दव्वं ।
इगिभागसहियबहुभागद्ध संजलणपडिबद्धं ॥२०३॥

संज्वलनभागबहुभागार्द्धमकषायसंगतं द्रव्यम् ।
एकभागसहितबहुभागार्द्धं संज्वलनप्रतिबद्धम् ॥ २०३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके सम्पूर्ण द्रव्य का प्रमाण पहले बता चुके हैं। उसमें अनन्तैक भाग सर्वघाती और बहुभाग देशघातीका है। देशघातीके द्रव्यमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देना और एक भागको जुदा रखना। उस बहुभागका आधा नोकषायका द्रव्य जानना। और शेष एक भाग सहित आधा बहुभाग संज्वलन कषायका देशघाती संबंधी द्रव्य होता है ॥ २०३ ॥

आगे नोकषायरूप प्रकृतियोंमें विशेषता दिखाते हैं;—

तण्णोकसायभागो सबंधपणणोकसायपयडीसु ।
हीणकमो होदि तहा देसे देसावरणदव्वं ॥२०४॥

तन्नोकषायभागः सबन्धपञ्चनोकषायप्रकृतिषु ।
हीनक्रमो भवति तथा देशे देशावरणद्रव्यम् ॥ २०४ ॥

अर्थ—वह नोकषायके हिस्सामें आया हुआ द्रव्य एकसाथ बंधनेवाली पांच नोकषाय प्रकृतियोंमें क्रमसे हीन हीन देना। और इसी प्रकार देशघाती संज्वलनकषायका देशघाती संबंधी जो द्रव्य है वह युगपत् (एक कालमें) जितनी प्रकृति बँधें उनको हीनक्रमसे देना ॥ २०४ ॥

आगे नोकषायका बंध निरंतर (हमेशा) होय तो कितने कालतक हो, यह बताते हैं;—

पुंबंधऽद्धा अंतोमुहुत्त इत्थिम्हि हस्सजुगले य ।
अरदिदुगे संखगुणा णपुंसकऽद्धा विसेसहिया ॥२०५॥

---

१. यद्यपि नोकषाय ९ हैं; किन्तु एक कालमें बंध पांचका ही होता है। क्योंकि ३ वेदमेंसे, और रति अरतिमेंसे, तथा हास्य शोकमेंसे एक एक का ही युगपत् बंध संभव है। अतएव यहांपर पांच ही नोकषायका ग्रहण किया है।

११

पुंबन्धाद्धा अन्तर्मुहूर्तः स्त्रियां हास्ययुगले च ।
अरतिद्वये संख्यगुणा नपुंसकाद्धा विशेषाधिकः ॥ २०५ ॥

अर्थ—पुरुषवेदके निरन्तर बंध होनेका काल अन्तर्मुहूर्त है । यह अन्तर्मुहूर्त सबसे छोटा समझना । स्त्रीवेदका उससे संख्यात गुणा हास्य और रतिका काल उससे भी संख्यात गुणा, अरति और शोकका उससे भी संख्यात गुणा; किंतु अन्तर्मुहूर्त ही है । और नपुंसकवेदका काल उससे भी कुछ अधिक जानना ॥ २०५ ॥

आगे अन्तरायकी पांच प्रकृतियोंमें तथा नामके बंधस्थानोंमें जो क्रम है उसको कहते हैं;—

पणविग्घे विवरीयं सबंधपिंडिदरणामठाणेवि ।
पिंडं दव्वं च पुणो सबंधसगपिंडपयडीसु ॥२०६॥

पञ्चविघ्ने विपरीतं सबन्धपिण्डेतरनामस्थानेपि ।
पिण्डं द्रव्यं च पुनः सबन्धस्वकपिण्डप्रकृतिषु ॥ २०६ ॥

अर्थ—दानान्तराय आदिक पांच प्रकृतियोंमें उलटा, अर्थात् अंतसे लेकर आदि तक क्रम जानना । और नामकर्मके स्थानोंमें जो एकही कालमें बंधको प्राप्त होनेवालीं गत्यादि पिंडरूप और अगुरुलघु आदि अपिंडरूप प्रकृतियां हैं उनमें भी उल्टा ही क्रम जानना । इसप्रकार प्रदेश जो परमाणु हैं उनके बंधका विधान कहा ॥ २०६ ॥

अब उत्कृष्टादि प्रदेशबंधके सादि आदि भेद मूल प्रकृतियोंमें कहते हैं;—

छण्हंपि अणुक्कसो पदेसबंधो दु चदुवियप्पो दु ।
सेसतिये दुवियप्पो मोहाऊणं च दुवियप्पो ॥२०७॥

षण्णामपि अनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धस्तु चतुर्विकल्पस्तु ।
शेषत्रये द्विविकल्पः मोहायुषोश्च द्विविकल्पः ॥ २०७ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि छह कर्मोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध सादि आदिके भेदसे चार तरहका है, बाकी उत्कृष्टादि तीन बंध सादि अध्रुवके भेदसे दो तरहके है । और मोहनीय तथा आयुकर्मके उत्कृष्टादि चारों भेद भी सादि आदि दो तरहके हैं ॥ २०७ ॥

आगे उत्तर प्रकृतियोंमें भेद दिखाते हैं;

तीसण्हमणुक्कस्सो उत्तरपयडीसु चउविहो बंधो ।
सेसतिये दुवियप्पो सेसचउक्केवि दुवियप्पो ॥२०८॥

त्रिंशतामनुत्कृष्टः उत्तरप्रकृतिषु चतुर्विधो बन्धः ।
शेषत्रये द्विविकल्पः शेषचतुष्केपि द्विविकल्पः ॥ २०८ ॥

अर्थ—उत्तर प्रकृतियोंमें तीस प्रकृतियोंका अनुत्कृष्टबंध सादि आदिक चार प्रकारका है । शेष उत्कृष्टादि तीनके सादि अध्रुव ये दो ही भेद हैं । और शेष बचीं ९० प्रकृतियोंका उत्कृष्टादि चारों तरहका भी बंध सादिआदिक दो तरहका है ॥ २०८ ॥

अब उन तीस प्रकृतियोंको गिनाते हैं,—

णाणंतरायदसयं दसणछक्कं च मोहचोद्दसयं ।
तीसण्हमणुक्कस्सो पदेसबंधो चदुवियप्पो ॥२०९॥

ज्ञानान्तरायदशकं दर्शनषट्कं च मोहचतुर्दशकम् ।
त्रिंशतामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः चतुर्विकल्पः ॥ २०९ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण और अन्तरायकी १०, दर्शनावरणकी ६, मोहनीयकी अप्रत्याख्यानादि (अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन कषाय और भय जुगुप्सा) १४, इन सब मिलकर ३० प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध चार प्रकारका है ॥ २०९ ॥

आगे उत्कृष्ट प्रदेशबंध होनेकी सामग्री दिखाते हैं,—

उक्कडजोगो सण्णी पज्जत्तो पयडिबंधमप्पदरो ।
कुणदि पदेसुक्कस्सं जहण्णये जाण विवरीयं ॥२१०॥

उत्कृष्टयोगः संज्ञी पर्याप्तः प्रकृतिबन्धाल्पतरः ।
करोति प्रदेशोत्कृष्टं जघन्यके जानीहि विपरीतम् ॥ २१० ॥

अर्थ—जो जीव उत्कृष्ट योगोंकर सहित, संज्ञी, पर्याप्त, और थोड़ी प्रकृतियोंका बंध करनेवाला होता है, वही जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंधको करता है । तथा जघन्य प्रदेशबंधमें इससे उलटा जानना ॥ २१० ॥

आगे मूलप्रकृतियोंके उत्कृष्टबंधका स्वामीपना गुणस्थानोंमें कहते हैं,—

आउक्कस्स पदेसं छक्कं मोहस्स णव दु ठाणाणि ।
सेसाण तणुकसाओ बंधदि उक्कस्सजोगेण ॥२११॥

आयुष्कस्य प्रदेशं षट्कं मोहस्य नव तु स्थानानि ।
शेषाणां तनुकषायो बध्नाति उत्कृष्टयोगेन ॥ २११ ॥

अब उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट प्रदेश बंधके स्वामित्वको दिखाते हैं,—

सत्तर सुहुमसरागे पंचऽणियट्टिम्हि देसगे तदियं ।
अयदे बिदियकसायं होदि हु उक्कस्सदव्वं तु ॥२१२॥
छण्णोकसायणिद्दापयलातित्थं च सम्मगो य जदी ।
सम्मो वामो तेरं णरसुरआऊ असादं तु ॥२१३॥
देवचउक्कं वज्जं समचउरं सत्थगमणसुभगतियं ।
आहारमप्पमत्तो सेसपदेसुक्कडो मिच्छो ॥ २१४ ॥ विसेसयं ।

सप्तदश सूक्ष्मसरागे पञ्चानिवृत्तौ देशके तृतीयम् ।
अयते द्वितीयकषायं भवति हि उत्कृष्टद्रव्यं तु ॥ २१२ ॥
षट्नोकषायनिद्राप्रचलातीर्थं च सम्यक् च यदि ।
सम्यग्वामः त्रयोदश नरसुरायुरसातं तु ॥ २१३ ॥
देवचतुष्कं वज्रं समचतुरस्रं शस्तगमनसुभगत्रयम् ।
आहारमप्रमत्तः शेषप्रदेशोत्कटो मिथ्यः ॥ २१४ ॥ विशेषकम् ।

अर्थ—मतिज्ञानावरणादि ५ दर्शनावरण ४ अंतराय ५ यशस्कीर्ति, ऊंचा गोत्र, और सातावेदनीय, इन सत्रह प्रकृतियोंका सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है । नवमें गुणस्थानमें पुरुषवेदादि पांचका, तीसरी प्रत्याख्यानकी चौकड़ीका देशविरति नामा पांचवें गुणस्थानमें दूसरी अप्रत्याख्यान चार कषायोंका चौथे असंयत गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है ॥ २१२ ॥ छः नोकषाय, निद्रा, प्रचला, और तीर्थंकर, इन नौका उत्कृष्ट प्रदेशबंध सम्यग्दृष्टि करता है । तथा मनुष्यायु, देवायु, असातावेदनीय, देवगति आदि देवचतुष्क, वज्रर्षभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, प्रशस्तविहायोगति, सुभगादि तीन, इन तेरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबंध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि दोनों ही करते है । और आहारकद्विकका उत्कृष्ट प्रदेशबंध अप्रमत्त गुणस्थानवाला करता है । इन चौवनके विना अवशेष ६६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबंध मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट योगोंसे करता है ॥ २१३ ॥ २१४ ॥

आगे जघन्य प्रदेशबंधका स्वामीपना मूलप्रकृतियोंमें कहते हैं,—

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स पढमे जहण्णये जोगे ।
सत्तण्हं तु जहण्णं आउगबंधेवि आउस्स ॥२१५॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य प्रथमे जघन्यके योगे ।
सप्तानां तु जघन्यमायुष्कबन्धेपि आयुषः ॥ २१५ ॥

अर्थ—सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अपने पर्यायके पहले समयमें जघन्य योगोंसे

आयुके सिवाय सात मूलप्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशवंध होता है। आयुका वंध होनेपर उसी जीवके आयुका भी जघन्य प्रदेशवंध होता है ॥ २१५ ॥

अब उत्तरप्रकृतियोंमें दिखाते हैं;—

घोडणजोगोऽसण्णी णिरयदुसुरणिरयआउगजहण्णं ।
अपमत्तो आहारं अयदो तित्थं च देवचऊ ॥२१६॥

घोटमानयोगः असंज्ञी निरयद्विसुरनिरयायुष्कजघन्यम् ।
अप्रमत्तः आहारमयतः तीर्थं च देवचतुः ॥ २१६ ॥

अर्थ—घोटमान[1] योगोंका धारी असैनी जीव नरकद्वय, देवायु तथा नरकायुका जघन्य प्रदेशवंध करता है। और आहारकद्वयका अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती, तथा चौथे असंयत गुणस्थानवाला तीर्थंकर प्रकृति और देवचतुष्क, इस तरह पांच प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशवंध करता है ॥ २१६ ॥

आगे ११ प्रकृतियोसे वचीहुई प्रकृतियोंमें विशेषपना वताते हैं;—

चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्मि ठिओ ।
सुहमणिगोदो वंधदि सेसाणं अवरवंधं तु ॥ २१७ ॥

चरमापूर्णभवस्थः त्रिविग्रहे प्रथमविग्रहे स्थितः ।
सूक्ष्मनिगोदो बध्नाति शेषाणामवरबन्धं तु ॥ २१७ ॥

अर्थ-- छहहजार बारह अपर्याप्त (क्षुद्र) भवोंमेंसे अंतके भवमें स्थित (मौजूद); और विग्रहगतिके तीन मोड़ाओंमेंसे पहली वक्रगतिमें ठहरा हुआ जो सूक्ष्मनिगोदिया जीव है वह पूर्वोक्त ११ से शेषरहीं १०९ प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशवंध करता है ॥ २१७ ॥

आगे प्रकृति और प्रदेशवंधके कारण जो योगस्थान हैं उनके स्वरूप, संख्या तथा स्वामियोंको ४३ गाथाओंसे कहते हैं;—

जोगट्ठाणा तिविहा उववादेयंतवड्ढिपरिणामा ।
भेदा एक्केक्कंपि चोद्दसभेदा पुणो तिविहा ॥ २१८ ॥

योगस्थानानि त्रिविधानि उपपादैकान्तवृद्धिपरिणामानि ।
भेदात् एकैकमपि चतुर्दशभेदाः पुनः त्रिविधाः ॥ २१८ ॥

अर्थ— उपपाद[2] योगस्थान १, एकांतवृद्धि योगस्थान २, परिणाम योगस्थान ३, इस प्रकार योगस्थान तीन प्रकारके हैं। और एक एक भेदके भी १४ जीव समासकी अपेक्षा

---

१. जिन योगस्थानोंकी वृद्धि भी हो, हानि भी हो, अथवा जैसेके तैसे भी रहैं, उन योगस्थानोंको घोटमानयोग कहते हैं। इसका दूसरा नाम परिमाणयोगस्थान भी है। २. पर्यायके प्रथम समयमें प्राप्त उपपाद योगका धारक।

चौदह चौदह भेद हैं । तथा ये १४ भी सामान्य, जघन्य और उत्कृष्टकी अपेक्षा तीन तीन प्रकारके हैं । उनमेंसे सामान्यकी अपेक्षा १४ भेद, सामान्य और जघन्यकी अपेक्षा २८ भेद, तथा सामान्य जघन्य और उत्कृष्टकी अपेक्षा ४२ भेद होते हैं ॥ २१८ ॥

अब उपपाद योगस्थानका स्वरूप कहते हैं;—

उववादजोगठाणा भवादिसमयट्ठियस्स अवरवरा ।
विग्गहइजुगइगमणे जीवसमासे मुणेयव्वा ॥ २१९ ॥

उपपादयोगस्थानानि भवादिसमयस्थितस्यावरवराणि ।
विग्रहर्जुगतिगमने जीवसमासे मन्तव्यानि ॥ २१९ ॥

अर्थ—पर्याय धारण करनेके पहले समयमें तिष्ठते हुये जीवके **उपपाद योगस्थान** होते हैं । क्योंकि "उपपद्यते"—जीवके द्वारा जो पर्यायके पहिले समयमें प्राप्त हो "इति उपपादः" वह उपपाद है । ऐसा व्याकरणसे शब्दार्थ होता है । उनमेंसे जघन्य उपपाद स्थान उस जीवके होते हैं जोकि वक्रगतिसे (बीच में मुड़कर) नवीन पर्यायको प्राप्त हो, और जो जीव ऋजुगति (अर्थात् बीचमें नहीं मुड़े ऐसी गति) से नवीन पर्याय धारण करे उसके उत्कृष्ट उपपाद योगस्थान होते हैं । ये सब उपपाद योगस्थान चौदह जीवसमासों (भेदों) में जानलेना ॥ २१९ ॥

आगे परिणामयोगस्थानका स्वरूप दिखलाते हैं;—

परिणामजोगठाणा सरीरपज्जत्तगादु चरिमोत्ति ।
लद्धिअपज्जत्ताणं चरिमतिभागम्हि बोधव्वा ॥ २२० ॥

परिणामयोगस्थानानि शरीरपर्याप्तकात् तु चरम इति ।
लब्ध्यपर्याप्तकानां चरमत्रिभागे बोद्धव्यानि ॥ २२० ॥

अर्थ—शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होनेके समयसे लेकर आयुके अन्ततक परिणामयोगस्थान कहे जाते हैं । और जिसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती ऐसे लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अपनी आयु (श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण) के अन्तके त्रिभागके प्रथम समयसे लेकर अन्तके समय तक स्थितिके सब भेदोंमें उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारके परिणाम योगस्थान जानना ॥ २२० ॥

सगपज्जत्तीपुण्णे उवरिं सव्वत्थ जोगमुक्कस्सं ।
सव्वत्थ होदि अवरं लद्धिअपुण्णस्स जेट्ठंपि ॥ २२१ ॥

स्वकपर्याप्तिपूर्णे उपरि सर्वत्र योगोत्कृष्टम् ।
सर्वत्र भवत्यवरं लब्ध्यपर्याप्तस्य ज्येष्ठमपि ॥ २२१ ॥

अर्थ—अपनी अपनी शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होनेके समयसे लेकर अपनी अपनी आयुके अन्त

समयतक सम्पूर्ण समयोंमें परिणामयोगस्थान उत्कृष्ट भी होते हैं, और जघन्य भी संभवित हैं। और इसीतरह लब्ध्यपर्याप्तके भी अपनी स्थितिके सब भेदोंमें दोनों परिणामयोगस्थान संभव हैं। सो ये सब परिणामयोगस्थान घोटमानयोग समझना चाहिये। क्योंकि ये घटते भी हैं, बढ़ते भी हैं, और जैसेके तैसे भी रहते हैं ॥ २२१ ॥

आगे एकान्तानुवृद्धि योगस्थानका स्वरूप कहते हैं;—

एयंतवड्ढिठाणा उभयट्ठाणाणमंतरे होंति ।
अवरवरट्ठाणाओ सगकालादिम्हि अंतम्हि ॥ २२२ ॥
एकान्तवृद्धिस्थानानि उभयस्थानानामन्तरे भवन्ति ।
अवरवरस्थानानि स्वककालादौ अन्ते ॥ २२२ ॥

अर्थ—एकान्तानुवृद्धि योगस्थान, उपपाद आदि दोनों स्थानोंके बीचमें, अर्थात् पर्यायधारण करनेके दूसरे समयसे लेकर एक समय कम शरीर पर्याप्तिके अन्तर्मुहूर्तके अन्त समयतक होते हैं। उनमें जघन्यस्थान तो अपने कालके पहले समयमें और उत्कृष्टस्थान अन्तके समयमें होता है। इसीलिये एकान्त अर्थात् नियमकर अपने समयोंमें समय समय प्रति असंख्यात गुणी अविभाग प्रतिच्छेदोंकी वृद्धि जिसमें हो वह एकान्तानुवृद्धिस्थान, ऐसा नाम कहा गया है ॥ २२२ ॥

अब योगस्थानोंके अवयव (अंग) कहते हैं,—

अविभागपडिच्छेदो वग्गो पुण वग्गणा य फड्डयगं ।
गुणहाणीवि य जाणे ठाणं पडि होदि णियमेण ॥ २२३ ॥
अविभागप्रतिच्छेदो वर्गः पुनः वर्गणा च स्पर्धकम् ।
गुणहानिरपि च जानीहि स्थानं प्रति भवति नियमेन ॥ २२३ ॥

अर्थ—सब योगस्थान जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। उनमें एक एक स्थानके प्रति अविभाग प्रतिच्छेद १, वर्ग २, वर्गणा ३, स्पर्धक ४, गुणहानि ५, ये पांच भेद होते हैं, ऐसा नियमसे जानना चाहिये ॥ २२३ ॥

आगे इनका स्वरूप कहते हैं;—

पल्लासंखेज्जदिमा गुणहाणिसला हवंति इगिठाणे ।
गुणहाणिफड्डयाओ असंखभागं तु सेढीये ॥ २२४ ॥
पल्यासंख्येयिमा गुणहानिशला भवन्ति एकस्थाने ।
गुणहानिस्पर्धकानि असंख्यभागं तु श्रेण्याः ॥ २२४ ॥

अर्थ—एक योगस्थानमें गुणहानिकी शलाकायें (संख्यायें) पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। यह नाना गुणहानिका प्रमाण है। और एक गुणहानिमें स्पर्द्धक जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं ॥ २२४ ॥

फड्ढयगे एक्केक्के वग्गणसंखा हु तत्तियालावा ।
एक्केक्कवग्गणाए असखपदरा हु वग्गाओ ॥ २२५ ॥

स्पर्धके एकैके वर्गणासंख्या हि तावदालापा ।
एकैकवर्गणायामसंख्यप्रतरा हि वर्गाः ॥ २२५ ॥

अर्थ—एक एक स्पर्धकमें वर्गणाओंकी संख्या उतनी ही अर्थात् जगच्छ्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण है । और एक एक वर्गणामें असंख्यात जगत्प्रतर प्रमाण वर्ग हैं ॥ २२५ ॥

एक्केक्के पुण वग्गे असंखलोगा हवंति अविभागा ।
अविभागस्स पमाणं जहण्णउड्ढी पदेसाणं ॥ २२६ ॥

एकैके पुनः वर्गे असंख्यलोका भवन्ति अविभागाः ।
अविभागस्य प्रमाणं जघन्यवृद्धिः प्रदेशानाम् ॥ २२६ ॥

अर्थ—एक एक वर्गमें असंख्यातलोक प्रमाण अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं । और अविभाग प्रतिच्छेदका प्रमाण प्रदेशोंमें जघन्य वृद्धिस्वरूप जानना ॥ **भावार्थ**—जिसका दूसरा भाग न हो ऐसे शक्तिके अंशको **अविभागप्रतिच्छेद** कहते हैं । सो यहांपर उलटे क्रमसे कहा है, इसकारण सीधा क्रम ऐसा जानना कि अविभागप्रतिच्छेदका समूह वर्ग, वर्गका समूह वर्गणा, वर्गणाका समूह स्पर्द्धक, स्पर्द्धकका समूह गुणहानि, गुणहानिका समूह स्थान ॥ २२६ ॥

आगे एक योगस्थानमें सब स्पर्द्धकादिकोंका प्रमाण कहते हैं;—

इगिठाणफड्ढयाओ वग्गणसंखा पदेसगुणहाणी ।
सेढिअसंखेज्जदिमा असंखलोगा हु अविभागा ॥ २२७ ॥

एकस्थानस्पर्धकानि वर्गणासंख्या प्रदेशगुणहानिः ।
श्रेण्यसंख्यातिमा असंख्यलोका हि अविभागाः ॥ २२७ ॥

अर्थ—एक योगस्थानमें सब स्पर्धक, सब वर्गणाओंकी संख्या, और असंख्यात प्रदेशोंमें गुणहानिका आयाम (काल) इनका प्रमाण सामान्यपनेसे जगच्छ्रेणीके असंख्यातवें भाग मात्र है। क्योंकि असंख्यातके बहुत भेद हैं, इसलिये इन सबका प्रमाण भी सामान्यसे पूर्वोक्त—श्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र ही कहा है । एक योगस्थानमें अविभागप्रतिच्छेद असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं ॥ २२७ ॥

सव्वे जीवपदेसे दिवड्ढगुणहाणिभाजिदे पढमा ।
उवरिं उत्तरहीणं गुणहाणिं पडि तदद्धकमं ॥ २२८ ॥

सर्वस्मिन् जीवप्रदेशे द्व्यर्धगुणहानिभाजिते प्रथमा ।
उपरि उत्तरहीनं गुणहानिं प्रति तदर्द्धक्रमः ॥ २२८ ॥

इसी तरह समान आयामके धारक दूसरे योगस्थानके ऊपर भी श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थानतक उत्तरोत्तर क्रमसे चयवृद्धि होनेपर दूसरा अपूर्व स्पर्धक उत्पन्न होता है । इसी क्रमसे एक गुणहानिके स्पर्धकोंका जितना प्रमाण कहा है उतने अपूर्व स्पर्धकोंके उत्पन्न हो जानेपर जघन्य योगस्थानका प्रमाण दूना हो जाता है । इसी क्रमसे योगस्थानोंका प्रमाण भी दूना दूना होता जाता है. और अंतमें चलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तजीवका सर्वोत्कृष्ट योगस्थान उत्पन्न होता है ॥ २३१ ॥

आगे इसी विषयमें और भी विशेष जो कथन करेंगे उसकी प्रतिज्ञा आचार्य करते हैं;—

एदेसिं ठाणाणं जीवसमासाण अवरवरविसयं ।
चउरासीदिपदेहिं अप्पाबहुगं परूवेमो ॥ २३२ ॥

एतेषां स्थानानां जीवसमासानामवरवरविषयं ।
चतुरशीतिपदैः अल्पबहुकं प्ररूपयामः ॥ २३२ ॥

अर्थ—ये जो योगस्थान कहे हैं उनमें चौदह जीवसमासोंके जघन्य और उत्कृष्टकी अपेक्षा तथा उपपादादिक तीन प्रकारके योगोंकी अपेक्षा चौरासीस्थानोंमें अब अल्पबहुत्व-थोड़े बहुतपनेका कथन करते हैं ॥ २३२ ॥

अब उसीको दिखाते हैं,—

सुहुमगलद्धिजहण्णं तण्णिव्वत्तीजहण्णयं तत्तो ।
लद्धिअपुण्णुक्कस्सं बादरलद्धिस्स अवरमदो ॥ २३३ ॥

सूक्ष्मकलब्धिजघन्यं तन्निर्वृत्तिजघन्यकं ततः ।
लब्ध्यपूर्णोत्कृष्टं बादरलब्धेरवरमतः ॥ २३३ ॥

अर्थ—सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवका जघन्य उपपादस्थान सबसे थोड़ा है । उससे सूक्ष्मनिगोदिया निर्वृत्त्यपर्याप्तक जीवका जघन्य उपपादस्थान पल्यके असंख्यातवें भाग गुणा है । उससे अधिक सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तका उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान और उससे अधिक बादरलब्ध्यपर्याप्तका जघन्य उपपादयोगस्थान जानना ॥ २३३ ॥

णिव्वत्तिसुहुमजेट्ठं बादरणिव्वत्तियस्स अवरं तु ।
बादरलद्धिस्स वरं बीइंदियलद्धिगजहण्णं ॥ २३४ ॥

निर्वृत्तिसूक्ष्मज्येष्ठं बादरनिर्वृत्तिकस्यावरं तु ।
बादरलब्धेः वरं द्वीन्द्रियलब्धिकजघन्यम् ॥ २३४ ॥

अर्थ—फिर उससे अधिक सूक्ष्म निर्वृत्त्यपर्याप्तकका उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान है । उससे अधिक बादरनिर्वृत्त्यपर्याप्तकका जघन्य योगस्थान है, उससे बादरलब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्ट योगस्थान अधिक है, उससे अधिक दो इंद्री लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य योगस्थान है ॥ २३४ ॥

वादरणिव्वत्तिवरं णिव्वत्तिविइंदियस्स अवरमदो ।
एवं वितिवितितिचतिच चउविमणो होदि चउविमणो ॥ २३५ ॥
वादरनिर्वृत्तिवरं निर्वृत्तिद्वीन्द्रियस्यावरमतः ।
एवं द्वित्रिद्वित्रित्रिचत्रिच चतुःत्रिमनो भवति चतुःविमनः ॥ २३५ ॥

अर्थ—इसके वाद उससे भी अधिक वादर एकेंद्रीनिर्वृ त्यपर्याप्तकका उत्कृष्ट योगस्थान है, उससे अधिक दोइंद्री निर्वृ त्यपर्याप्तकका जघन्ययोगस्थान जानना। और इसी तरह दो इन्द्री लब्धिअपर्याप्तका उत्कृष्ट तथा तेइन्द्री लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य उपपादस्थान, दो इन्द्री निर्वृ त्यपर्याप्तका उत्कृष्ट, ते इन्द्री निर्वृ त्यपर्याप्तका जघन्य, ते इन्द्री लब्धिअपर्याप्तकका उत्कृष्ट, चौ इन्द्री लब्धि अपर्याप्तका जघन्य, निर्वृ त्यपर्याप्तक तेइन्द्रीका उत्कृष्ट, निर्वृ त्तिअपर्याप्तक चौइन्द्रीका जघन्य, लब्धि अपर्याप्तक चौइन्द्रीका उत्कृष्ट, लब्ध्यपर्याप्तक असंज्ञी (मनरहित) पंचेन्द्रीका जघन्य, निर्वृ त्ति-अपर्याप्तक चौइन्द्रीका उत्कृष्ट और निर्वृ त्यपर्याप्तक मनरहित (असंज्ञी) पंचेन्द्रीका जघन्य उपपाद योगस्थान क्रमसे अधिक अधिक जानना ॥ २३५ ॥

तह य असण्णीसण्णी असण्णिसण्णिस्स सण्णिउववादं ।
सुहुमेइंदियलद्धिगअवरं एयंतवड्ढिस्स ॥ २३६ ॥
तथा च असंज्ञीसंज्ञी असंज्ञीसंज्ञिनः संज्ञ्युपपादम् ।
सूक्ष्मैकेन्द्रियलब्धिकावरं एकान्तवृद्धेः ॥ २३६ ॥

अर्थ—और इसीप्रकार उससे अधिक असंज्ञीलब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्टस्थान, और संज्ञी-लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्यस्थान, उससे अधिक असंज्ञी निर्वृ त्यपर्याप्तकका उत्कृष्ट और संज्ञीनिर्वृ त्य-पर्याप्तकका जघन्यस्थान, उससे संज्ञी पंचेंद्री लब्ध्यपर्याप्तकका उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पल्यके असंख्यातवेंभाग गुणा है। और उससे अधिकगुणा सूक्ष्म एकेन्द्री लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य एकांता-नुवृद्धियोगस्थान जानना ॥ २३६ ॥

सण्णिस्सुववादवरं णिव्वत्तिगदस्स सुहुमजीवस्स ।
एयंतवड्ढिअवरं लद्धिदरे थूलथूले य ॥ २३७ ॥
संज्ञिन उपपादवरं निर्वृत्तिगतस्य सूक्ष्मजीवस्य ।
एकान्तवृद्ध्यवरं लब्धीतरस्मिन् स्थूलस्थूले च ॥ २३७ ॥

अर्थ—उससे अधिक संज्ञीपंचेंद्री निर्वृ त्यपर्याप्तकका उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान, उससे अधिक सूक्ष्म एकेंद्री निर्वृ त्यपर्याप्तकका जघन्य एकांतानुवृद्धि योगस्थान है, उससे अधिक वादर एकेंद्री लब्धिअपर्याप्तका और वादर (स्थूल) एकेन्द्री निर्वृ त्यपर्याप्तकका जघन्य एकांतानुवृद्धि योगस्थान क्रमसे पल्यके असंख्यातवें भागकर गुणा है ॥ २३७ ॥

तह सुहुमसुहुमजेट्ठं तो बादरबादरे वरं होदि ।
अंतरमवरं लद्धिगसुहुमिदरवरंपि परिणामे ॥ २३८ ॥

तथा सूक्ष्मसूक्ष्मज्येष्ठं ततो बादरबादरे वरं भवति ।
अन्तरमवरं लब्धिकसूक्ष्मेतरवरमपि परिणामे ॥ २३८ ॥

अर्थ—इसीप्रकार उससे सूक्ष्म एकेंद्रीलब्ध्यपर्याप्तक और सूक्ष्म एकेन्द्री निर्वृत्त्यपर्याप्तक इन दोनोंके उत्कृष्ट योगस्थान क्रमसे अधिक हैं । उससे अधिक बादर एकेन्द्री लब्ध्यपर्याप्तक और बादर एकेन्द्री निर्वृत्ति अपर्याप्तक इन दोनोंके उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धि योगस्थान हैं । उसके बाद अंतर है । अर्थात् बादर एकेन्द्री निर्वृत्त्यपर्याप्तका उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धियोगस्थान और सूक्ष्म एकेन्द्री लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य परिणामयोगस्थान इन दोनोंके बीचमें जगच्छ्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण स्थानोंका पहला अन्तर है । इस अन्तरके स्थानोंका कोई स्वामी नहीं है । अर्थात् ये स्थान किसी जीवके नहीं होते, इसी कारण यह अन्तर पड़ता है । इन स्थानोंको उलंघकर (छोड़कर) सूक्ष्म एकेन्द्री और बादर एकेन्द्री लब्ध्यपर्याप्तक इन दोनोंके जघन्य और उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान क्रमसे पल्यके असंख्यातवें भागकर गुणे जानने ॥ २३८ ॥

अंतरमुवरीवि पुणो तप्पुण्णाणं च उवरि अंतरियं ।
एयंतवड्ढिठाणा तसपणलद्धिस्स अवरवरा ॥ २३९ ॥

अन्तरमुपर्यपि पुनः तत्पूर्णानां च उपर्यन्तरितम् ।
एकान्तवृद्धिस्थानानि त्रसपञ्चलब्धेरवरवराः ॥ २३९ ॥

अर्थ—इसके ऊपर दूसरा अन्तर है । अर्थात् बादर एकेन्द्री लब्ध्यपर्याप्तके उत्कृष्ट परिणामयोगस्थानके आगे जगच्छ्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान स्वामी रहित हैं । इनको छोड़कर सूक्ष्म एकेन्द्री और बादर एकेन्द्री पर्याप्तकोंके जघन्य और उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान क्रमसे पल्यके असंख्यातवें भागसे गुणे हैं । फिर इस बादर एकेन्द्री पर्याप्तके उत्कृष्ट योगस्थानके आगे तीसरा अन्तर है । उसको छोड़कर पाँच त्रसोंके अर्थात् दो इन्द्री लब्धि अपर्याप्तक आदि पांचके जघन्य और उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धि योगस्थान क्रमसे पल्यके असंख्यातवें भागसे गुणे हैं ॥ २३९ ॥

लद्धीणिव्वत्तीणं परिणामेयंतवड्ढिठाणाओ ।
परिणामट्ठाणाओ अंतरअंतरिय उवरुवरिं ॥ २४० ॥

लब्धिनिर्वृत्तीनां परिणामैकान्तवृद्धिस्थानानि ।
परिणामस्थानानि अन्तरान्तरितान्युपर्युपरि ॥ २४० ॥

अर्थ—इसके आगे चौथा अन्तर है । इसके बाद लब्धि अपर्याप्तक और निर्वृत्ति अपर्याप्तक पांच त्रसजीवोंके परिणामयोगस्थान, एकांतानुवृद्धियोगस्थान और परिणामयोगस्थान तथा इनके

ऊपर बीच बीचमें अन्तर सहित स्थान हैं। ये तीनों स्थान उत्कृष्ट और जघन्यपनेको लिए हुए पहली रीतिसे क्रमपूर्वक पल्यके असंख्यातवें भागसे गुणित जानने। इस तरह ८४ स्थान (ठिकाने) योगोंके कहे हैं। सारांश यह है कि इन स्थानोंमें अविभाग प्रतिच्छेद एकके बाद दूसरेमें आगे आगे पल्यके असंख्यातवें भाग गुणे हैं। ऐसा क्रम जानना ॥ २४० ॥

आगे इस कहे हुए गुणाकारको ग्रन्थकर्ता स्वयं कहते हैं;—

एदेसिं ठाणाओ पल्लासंखेज्जभागगुणिदकमा।
हेट्ठिमगुणहाणिसला अण्णोण्णब्भत्थमेत्तं तु ॥ २४१ ॥

एतेषां स्थानानि पल्यासंख्येयभागगुणितक्रमाणि।
अधस्तनगुणहानिशला अन्योन्याभ्यस्तमात्रं तु ॥ २४१ ॥

अर्थ—ये ८४ स्थान क्रमसे पल्यके असंख्यातवें भागकर गुणाकार किये गये हैं। और जघन्य तथा उत्कृष्ट योगस्थानोंके बीचकी जो अधस्तन गुणहानि नामकी शलाकायें (बीचके भेद) हैं, वे असंख्यातरूप कम पल्यकी वर्गशलाका प्रमाण हैं। इसी संख्याको अन्योन्याभ्यस्तराशिकी "गुणाकार शलाका" कहते हैं ॥ १४१ ॥

आगे इन जघन्य और उत्कृष्ट उपपादादि तीनों स्थानोंके निरन्तर—एक योगस्थानके बीचमें अन्य योगस्थान न हो इसतरहसे प्रवर्तनेका काल कितना है सो बताते हैं;—

अवरुक्कस्सेण हवे उववादेयंतवड्ढिठाणाणं।
एक्कसमयं हवे पुण इदरेसिं जाव अट्ठोत्ति ॥ २४२ ॥

अवरोत्कृष्टेन भवेत् उपपादैकान्तवृद्धिस्थानानाम्।
एकसमयो भवेत् पुनः इतरेषां यावदष्ट इति ॥ २४२ ॥

अर्थ—उपपाद योगस्थान और एकांतानुवृद्धियोगस्थानोंके प्रवर्तनेका काल जघन्य और उत्कृष्ट एकसमय ही है। क्योंकि उपपादस्थान जन्मके प्रथम समयमें ही होता है, और एकांतानुवृद्धिस्थान भी समय समय प्रति वृद्धिरूप अन्य अन्य (जुदा जुदा) ही होता है। और इन दोनोंसे भिन्न जो परिणाम योगस्थान हैं उनके निरन्तर प्रवर्तनेका काल दो समयसे लेकर आठ समय तक है ॥ २४२ ॥

अट्ठसमयस्स थोवा उभयदिसासुवि असंखसंगुणिदा।
चउसमयोत्ति तहेव य उवरिं तिदुसमयजोग्गाओ ॥ २४३ ॥

अष्टसमयस्य स्तोका उभयदिशयोरपि असंख्यसंगुणिताः।
चतुःसमय इति तथैव च उपरि त्रिद्विसमययोग्याः ॥ २४३ ॥

अर्थ—आठ समय निरन्तर प्रवर्तनेवाले योगस्थान सबसे थोड़े हैं। और सातको आदि लेकर चार समयतक प्रवर्तनेवाले ऊपर-नीचेके दोनों जगह स्थान असंख्यातगुणे हैं। किन्तु तीन समय और दो समयतक प्रवर्तनेवाले योगस्थान एक जगह ऊपर ही की तरफ रहते हैं।

और उनका प्रमाण क्रमसे असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा है । इन परिणामोंकी रचना करनेपर जोका आकार बन जाता है ॥ २४३ ॥

मज्झे जीवा बहुगा उभयत्थ विसेसहीणकमजुत्ता ।
हेट्ठिमगुणहाणिसलादुवरि सलागा विसेसऽहिया ॥ २४४ ॥

मध्ये जीवा बहुका उभयत्र विशेषहीनक्रमयुक्ताः ।
अधस्तनगुणहानिशलाया उपरि शलाका विशेषाधिकाः ॥ २४४ ॥

अर्थ—पर्याप्त त्रसजीवोंके प्रमाणरूप जौकी रचनाके मध्यभागमें जोव बहुत हैं । अर्थात् यव रचनाके मध्यवर्ती परिणामोंके धारक जीवोंको संख्या सबसे अधिक है । और ऊपर नीचे दोनों तरफ क्रमसे विशेषकर—यथायोग्य प्रमाणसे हीन हीन होते हैं । परन्तु नीचेकी गुणहानि शलाकासे ऊपरकी गुणहानि शलाका कुछ अधिक हैं ॥ २४४ ॥

यही बात स्पष्ट करते हैं । परन्तु सबसे पहले इस यवाकार जीव-संख्या की रचनामें अंकोंकी सहनानी बतानेवाला कथन करते हैं—

दव्वतियं हेट्ठुवरिमदलवारा दुगुणमुभयमण्णोण्णं ।
जीवजवे चोद्दससयबावीसं होदि बत्तीसं ॥ २४५ ॥
चत्तारि तिण्णि कमसो पण अड अट्ठं तदो य बत्तीसं ।
किंचूणतिगुणहाणिविभजिदे दव्वे दु जवमज्झं ॥२४६॥ जुम्मं ।

द्रव्यत्रयमधउपरिमदलवारा द्विगुणमुभयमन्योन्यम् ।
जीवयवे चतुर्दशशतद्वाविंशतिः भवति द्वात्रिंशत् ॥ २४५ ॥
चत्वारि त्रीणि क्रमशः पञ्च अष्ट अष्ट ततश्च द्वात्रिंशत् ।
किञ्चिदूनत्रिगुणहानिविभजिते द्रव्ये तु यवमध्यम् ॥ २४६ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—कल्पना कीजिये कि द्रव्यादि तीनका अर्थात् द्रव्यका, स्थितिका तथा गुणहानि-आयाम (काल) का प्रमाण क्रमसे १४२२, ३२ तथा ४ है । और नीचे तथा ऊपरकी नाना गुणहानिका प्रमाण क्रमसे ३ तथा ५ है । सब मिलकर द्विगुण अर्थात् दोनों गुणहानिका प्रमाण ८ हुआ । तथा नानागुणहानिप्रमाण दूवे (दो दोके अंक) लिखकर आपसमें गुणा करनेसे उभय अर्थात् नीचे और ऊपरकी दोनों अन्योन्याभ्यस्तराशियोंका प्रमाण क्रमसे ८ तथा ३२ होता है । यहांपर कुछ (एक भाग के ६४ भागमेंसे ५९ भाग) कम तिगुनी गुणहानि (१२) का—७११ के ६४ वें भागका भाग द्रव्य (१४२२) में देनेसे यवाकारके मध्यकी जीवसंख्या १२८ निकलती है ऐसा जानना ॥ २४५ । २४६ ॥

अब यथार्थसंख्याको दिखाते हैं;—

पुण्णतसजोगठाणं छेदाऽसंखस्सऽसंखबहुभागे ।
दलमिगिभागं च दलं दव्वदुगं उभयदलवारा ॥ २४७ ॥

पूर्णत्रसयोगस्थानं छेदासंख्यस्यासंख्यबहुभागे ।
दलमेकभागं च दलं द्रव्यद्विकमुभयदलवाराः ॥ २४७ ॥

अर्थ—द्रव्यद्विक अर्थात् द्रव्य और स्थितिका प्रमाण क्रमसे पर्याप्तत्रसजीवराशिके प्रमाण तथा पर्याप्तत्रससंबंधी परिणामयोगस्थानोंके प्रमाण जानना । और पल्यके अर्द्धच्छेदोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण नानागुणहानियोंमें असंख्यातका भाग देनेसे असंख्यातबहुभागका जो प्रमाण हो उसका आधा तो नीचेकी गुणहानिका और बाकीका आधा तथा अवशिष्ट असंख्यातवां एक भाग मिलकर ऊपरकी नानागुणहानिका प्रमाण होता है। इस तरह दोनों नानागुणहानियोंका प्रमाण समझना ॥२४७॥

णाणागुणहाणिसला छेदासंखेज्जभागमेत्ताओ ।
गुणहाणीणद्धाणं सव्वत्थवि होदि सरिसं तु ॥ २४८ ॥

नानागुणहानिशलाः छेदासंख्येयभागमात्राः ।
गुणहानीनामद्धानां सर्वत्रापि भवति सदृशं तु ॥ २४८ ॥

अर्थ—ऊपर नीचेकी सब गुणहानियोंके मिलानेपर नानागुणहानियोंकी संख्या पल्यके अर्द्धच्छेदोंके असंख्यातवें भाग मात्र है । पूर्वोक्त स्थितिके प्रमाणमें नानागुणहानिका भाग देनेसे एक गुणहानिके आयामका प्रमाण होता है । सो गुणहानिके आयाम–अद्धा अर्थात् कालका प्रमाण सब जगह-ऊपर या नीचेकी गुणहानिमें समान है । गुणहानिआयामका दूना दोगुणहानिका प्रमाण होता है ॥ २४८ ॥

अण्णोण्णगुणिदरासी पल्लासंखेज्जभागमेत्तं तु ।
हेट्ठिमरासीदो पुण उवरिल्लमसंखसंगुणिदं ॥ २४९ ॥

अन्योन्यगुणितराशिः पल्यासंख्येयभागमात्रं तु ।
अधस्तनराशितः पुनः उपरिममसंख्यातसंगुणितम् ॥ २४९ ॥

अर्थ—अन्योन्याभ्यस्तराशि पल्यके असख्यातवें भागप्रमाण है । परन्तु उसमें नीचेकी राशिसे ऊपरकी राशि असंख्यातगुणी है ॥ २४९ ॥

आगे उन परिणाम योगस्थानोंके धारक जीव कितना कितना प्रदेश बंध करते हैं ? इसके उत्तरमें आचार्यमहाराज समयप्रबद्धकी वृद्धि का प्रमाण त्रैराशिकसे कहते हैं;—

इगिठाणफड्ढयाओ समयपबद्धं च जोगवड्ढी य ।
समयपबद्धचयट्ठं एदे हु पमाणफलइच्छा ॥ २५० ॥

एकस्थानस्पर्द्धकानि समयप्रबद्धं च योगवृद्धिश्च ।
समयप्रबद्धचयार्थमेते हि प्रमाणफलेच्छाः ॥ २५० ॥

अर्थ—दोइन्द्रीपर्याप्तका पहला जघन्यपरिणामयोगस्थानका स्पर्द्धक, समयप्रबद्ध और योगोंकी वृद्धि ये तीनों समयप्रबद्धके बढनेका प्रमाण लानेकेलिये क्रमसे त्रैराशिक सम्बन्धी प्रमाणराशि, फलराशि और इच्छाराशि हैं ऐसा समझना ॥ २५० ॥

आगे इसी कथनका खुलासा पांच गाथाओंसे करते हैं;—

बीइंदियपज्जत्तजहण्णट्ठाणादु सण्णिपुण्णस्स ।
उक्कस्सट्ठाणोत्ति य जोगट्ठाणा कमे उड्ढा ॥ २५१ ॥

द्वीन्द्रियपर्याप्तजघन्यस्थानात् संज्ञिपूर्णस्य ।
उत्कृष्टस्थानमिति च योगस्थानानि क्रमेण वृद्धानि ॥ २५१ ॥

अर्थ-दोइन्द्रीपर्याप्तके जघन्य परिणामयोगस्थानसे लेकर संज्ञीपर्याप्तके उत्कृष्ट परिणामयोगस्थानतक परिणामयोगस्थान क्रमसे एक एक स्थानमें समानवृद्धि प्रमाणकर वढ़ते हुए जाने ॥२५१॥

इस तरह वढ़नेपर जो हुआ उसे कहते हैं;—

सेढियसंखेज्जदिमा तस्स जहण्णस्स फड्ढया होंति ।
अंगुलअसंखभागा ठाणं पडि फड्ढया उड्ढा ॥ २५२ ॥

श्रेण्यसंख्येयिमानि तस्य जघन्यस्य स्पर्द्धकानि भवन्ति ।
अङ्गुलासंख्यभागानि स्थानं प्रति स्पर्द्धकानि वृद्धानि ॥ २५२ ॥

अर्थ—दोइन्द्रियपर्याप्तका जघन्यपरिणामयोगस्थान जगच्छ्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण स्पर्धकोंके समूह रूप है। और इसके बाद हर एक स्थानके प्रति सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्यस्पर्धक वढ़ते हैं। जघन्यस्पर्धकके जितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं उनका सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने उतने अविभाग प्रतिच्छेद एक एक योगस्थानमें वढ़ते हैं ॥ २५२ ॥

धुववड्ढीवड्ढंतो दुगुणं दुगुणं कमेण जायंते ।
चरिमे पल्लच्छेदाऽसंखेज्जदिमो गुणो होदि ॥ २५३ ॥

ध्रुववृद्धिवर्धमानानि द्विगुणं द्विगुणं क्रमेण जायन्ते ।
चरमे पल्यच्छेदासंख्येयिमो गुणो भवति ॥ २५३ ॥

अर्थ—इस तरह स्थान स्थान प्रति ध्रुव अर्थात् एकसी वृद्धिकर वढ़ता वढ़ता हुआ जघन्य योगस्थान क्रम क्रम से दूना दूना होता जाता है। और अन्तमें संज्ञीपर्याप्तजीवके उत्कृष्ट परिणामयोगस्थानमें गुणाकारका प्रमाण पल्यके अर्द्धच्छेदके असंख्यातवें भागप्रमाण हो जाता है। अर्थात् जघन्य योगस्थानके अविभागप्रतिच्छेदोंके प्रमाणका पल्यके अर्धच्छेदोंके असंख्यातवें भागसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने सर्वोत्कृष्ट योगस्थानके अविभागप्रतिच्छेद होते हैं ॥ २५३ ॥

वे भेद कितने हैं ? सो बताते हैं;—

आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणा ।
सेढिअसंखेज्जदिमा जोगट्ठाणा णिरंतरगा ॥ २५४ ॥

आदौ अन्ते शुद्धे वृद्धिहिते रूपसंयुते स्थानानि ।
श्रेण्यसंख्येयिमानि योगस्थानानि निरन्तरकाणि ॥ २५४ ॥

अर्थ—आदि–जघन्यस्थानको अन्त–उत्कृष्ट स्थानमेंसे घटानेपर बाकी जो प्रमाण हो उसको वृद्धिसे–सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्यस्पर्धकोंके अविभागप्रतिच्छेदोंसे भाजितकर तथा एक स्थान और मिलाके जो प्रमाण हो उतने सब अंतररहित योगस्थान जानने । सो ये स्थान जगच्छ्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ॥ २५४ ॥

अंतरगा तदसंखेज्जदिमा सेढीअसंखभागा हु ।
सांतरणिरंतराणिवि सव्वाणिवि जोगठाणाणि ॥ २५५ ॥

अन्तरगाणि तदसंख्येयिमानि श्रेण्यसंख्येयभागानि हि ।
सान्तरनिरन्तराण्यपि सर्वाण्यपि योगस्थानानि ॥ २५५ ॥

अर्थ—अन्तरवाले योगस्थान उन निरंतरयोगस्थानोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं । ये भी जगच्छ्रेणीके छोटे असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । और सांतर तथा निरन्तर मिश्ररूप योगस्थान अंतरगतयोगस्थानोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, तो भी वे जगच्छ्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही हैं । इस तरह सब योगस्थान मिलकर भी श्रेणीके यथायोग्य असंख्यातवें भाग प्रमाण ही कहे हैं ॥ २५५ ॥

अब इन योगस्थानोंके आदि-अंतस्थानको बताते हैं;—

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स पढमे जहण्णओ जोगो ।
पज्जत्तसण्णिपंचिंदियस्स उक्कस्सओ होदि ॥ २५६ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य प्रथमे जघन्यको योगः ।
पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टको भवति ॥ २५६ ॥

अर्थ—इन सब योगस्थानोंमें सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तकके अंतके क्षुद्र भवके पहले समयमें जघन्य उपपादयोगस्थान होता है । वह तो आदि जानना । और सैनी पंचेंद्री पर्याप्तजीवके उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान होता है । वह अंतस्थान है, ऐसा जानना ॥ २५६ ॥

आगे कहेहुए चार प्रकारके बंधोंके कारण दिखाते हैं,—

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥ २५७ ॥

योगात्प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवतः ।
अपरिणतोच्छिन्नेषु च बन्धः स्थितिकारण नास्ति ॥ २५७ ॥

अर्थ—प्रकृति और प्रदेशबंध ये दोनोंही, योगोंके निमित्तसे होते हैं। स्थिति और अनुभागबंध कषायके निमित्तसे होते हैं। जिसके जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्तकालप्रमाण कषायस्थान अपरिणत अर्थात् उदयरूप नहीं होते ऐसे उपशांतकषाय, तथा जिसके कषायस्थान क्षीण हो गये हैं ऐसे क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके तत्काल (एक समयका) बंध स्थितिबंधका कारण नहीं है। "च" शब्दसे अयोगकेवलीके चारोंबंधके कारण-योग और कषाय ये दोनोंही नहीं हैं ॥ २५७ ॥

आगे योगस्थान, प्रकृतिसंग्रह, स्थितिभेद और स्थितिबंधाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान और कर्मोंके प्रदेशोंका अल्पबहुत्व तीन गाथाओंसे दिखाते हैं;—

सेढिअसंखेज्जदिमा जोगट्ठाणाणि होंति सव्वाणि ।
तेहिं असंखेज्जगुणो पयडीणं संगहो सव्वो ॥ २५८ ॥

श्रेण्यसंख्येयिमानि योगस्थानानि भवन्ति सर्वाणि ।
तैरसंख्येयगुणः प्रकृतीनां संग्रहः सर्वः ॥ २५८ ॥

अर्थ—निरंतर वा सांतर वा दोनोंही तरहके मिलकर कुल योगस्थान जगच्छ्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। और उनसे असंख्यातलोकगुणा सब मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियोंका समुदाय है॥२५८॥

तेहिं असंखेज्जगुणा ठिदिअवसेसा हवंति पयडीणं ।
ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणा तत्तो असंखगुणा ॥ २५९ ॥

तैरसंख्येयगुणा स्थित्यवशेषा भवन्ति प्रकृतीनाम् ।
स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि तत असंख्यगुणानि ॥ २५९ ॥

अर्थ—उन प्रकृतिसंग्रहोंसे प्रकृतियोंकी स्थितिके भेद असंख्यातगुणे हैं। उन स्थितिके भेदोंसे असंख्यातगुणे स्थितिबंधाध्यवसायस्थान जानना। जिन परिणामोंसे स्थितिबंध हो उन परिणामोंको **स्थितिबंधाध्यवसाय** कहते है ॥ २५९ ॥

अणुभागाणं बंधज्झवसाणमसंखलोगगुणिदमदो ।
एत्तो अणतगुणिदा कम्मपदेसा मुणेयव्वा ॥ २६० ॥

अनुभागाना बन्धाध्यवसायमसंख्यलोकगुणितमेतः ।
एतस्मादनन्तगुणिताः कर्मप्रदेशा मन्तव्याः ॥ २६० ॥

अर्थ—इन स्थितिबंधाध्यवसायस्थानोसे असंख्यातलोकगुणे अनुभागबंधाध्यवसाय (परिणाम) स्थान हैं। इनसे अनन्तगुणे कर्मोंके परमाणु जानने॥ इसका विस्तार बड़ी टीकासे समझलेना ॥२६०॥ ऐसे प्रदेशबंध समाप्त हुआ ॥ इति बंधाधिकारः ॥

आगे कर्मोंके उदयका कथन आरम्भ करते हैं;—

आहारं तु पमत्ते तित्थं केवलिणि मिस्सयं मिस्से ।
सम्मं वेदगसम्मे मिच्छदुगयदेव आणुदओ ॥ २६१ ॥

आहारं तु प्रमत्ते तीर्थं केवलिनि मिश्रकं मिश्रे ।
सम्यक् वेदकसम्ये मिथ्यद्विकायते एव आनूदयः ॥ २६१ ॥

अर्थ—आहारक शरीर व उसके आंगोपांग इन दोनों कर्मोंका उदय छठे प्रमत्त गुणस्थानमें ही होता हैं। तीर्थंकर प्रकृतिका उदय सयोगी तथा अयोगी केवलीके ही होता है, मिश्र दर्शन-मोहनीयका उदय तीसरे मिश्रगुणस्थानमें, तथा सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिके चार गुणस्थानोंमें होता है। और आनुपूर्वीकर्मका उदय मिथ्यात्व, सासादन ये दो तथा चौथा असंयत-गुणस्थान इन तीनोंमें ही होता है ॥ २६१ ॥

अब फिरभी आनुपूर्वीकर्मके उदयमें कुछ विशेषता है सो दिखाते हैं;—

णिरयं सासणसम्मो ण गच्छदित्ति य ण तस्स णिरयाणू ।
मिच्छादिसु सेसुदओ सगसगचरिमोत्ति णायव्वो ॥ २६२ ॥

निरयं सासादनसम्यो न गच्छतीति च न तस्य निरयानुः ।
मिथ्यादिषु शेषोदयः स्वकस्वकचरम इति ज्ञातव्यः ॥ २६२ ॥

अर्थ—सासादनसम्यग्दृष्टि नामके दूसरे गुणस्थानवाला नरकगतिको नहीं जाता है, इसकारण उसके नरकगत्यानुपूर्वीकर्मका उदय नहीं है। और वाकी वचों सब प्रकृतियोंका उदय मिथ्यात्वादि गुणस्थानोंमें अपने अपने उदयस्थानके अन्त समयतक जानना ॥ २६२ ॥

आगे गुणस्थानोंमें उदयव्युच्छित्ति यतिवृषभाचार्यके पक्षको लेकर क्रमसे कहते हैं,—

दस चउरिगि सत्तरसं अट्ठ य तह पंच चेव चउरो य ।
छच्छक्कएक्कदुगदुग चोद्दस उगुत्तीस तेरसुदयविधि ॥ २६३ ॥

दश चतुरेकं सप्तदश अष्ट च तथा पञ्च चैव चतस्रश्च ।
षट् षट्कैकद्विकद्विकं चतुर्दशैकोनत्रिंशत् त्रयोदशोदयविधिः ॥ २६३ ॥

अर्थ—अभेदविवक्षासे मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंको उदयविधि अर्थात् उदयव्युच्छित्ति (कहे हुए गुणस्थानसे ऊपर उदय न होना) क्रमसे १०, ४, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, २, १४, २९, और १३ इसप्रकार जानना ॥ २६३ ॥

अब भूतवलि आचार्यके उपदेशकी परंपरासे दूसरी पक्ष लेकर व्युच्छित्ति कहते हैं;—

पण णव इगि सत्तरसं अड पंच च चउर छक्क छच्चेव ।
इगिदुग सोलस तीसं वारस उदये अजोगंता ॥ २६४ ॥

पञ्च नवैकं सप्तदशाष्ट पञ्च च चतस्रः षट्कं षट् चैव ।
एकं द्विकं षोडश त्रिंशत् द्वादश उदये अयोगान्ताः ॥ २६४ ॥

अर्थ—सब प्रकृतियोंके उदयकी व्युच्छित्ति क्रमसे १४ गुणस्थानोंमें ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३० और १२, अयोगकेवली तक जानना ॥ २६४ ॥

आगे इन्हीं प्रकृतियोंके नाम आठ गाथाओंमें दिखाते हैं,—

मिच्छे मिच्छादावं सुहुमतियं सासणे अणेइंदी ।
थावरवियलं मिस्से मिस्सं च य उदयवोच्छिण्णा ॥ २६५ ॥

मिथ्ये मिथ्यातपं सूक्ष्मत्रयं सासादने अनैकेन्द्रियम् ।
स्थावरविकलं मिश्रे मिश्रं च च उदयव्युच्छिन्नाः ॥ २६५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्मादि तीन, इन पांच प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है । दूसरे सासादनगुणस्थानमें अन अर्थात् अनन्तानुबंधीकी चार, एकेन्द्रिय, स्थावर, दोइन्द्रीआदि तीन विकलेन्द्रिय ये ९ प्रकृतियां उदयसे व्युच्छिन्न होतीं हैं । तीसरे मिश्रगुणस्थानमें एक सम्यग्मिथ्यात्वकी ही उदयव्युच्छित्ति होती है, ऐसा जानना ॥ २६५ ॥

अयदे विदियकसाया वेगुव्वियछक्क णिरयदेवाऊ ।
मणुयतिरियाणुपुव्वी दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं ॥ २६६ ॥

अयते द्वितीयकषाया वैगूर्विकषट्कं निरयदेवायुः ।
मनुजतिर्यगानुपूर्व्यं दुर्भगानादेयमयशस्कम् ॥ २६६ ॥

अर्थ—चौथे असंयतगुणस्थानमें दूसरी अप्रत्याख्यानावरणकषायकी चौकड़ी, वैक्रियिकशरीरादि छह, नरकायु, देवआयु, मनुष्यगतिआनुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय और अयशस्कीर्ति, इस प्रकार १७ प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है ॥ २६६ ॥

देसे तदियकसाया तिरियाउज्जोवणीचतिरियगदी ।
छट्ठे आहारदुगं थीणतियं उदयवोच्छिण्णा ॥ २६७ ॥

देशे तृतीयकषाया तिर्यगायुरुद्योतनीचतिर्यग्गतिः ।
षष्ठे आहारद्विकं स्त्यानत्रयमुदयव्युच्छिन्नाः ॥ २६७ ॥

अर्थ—पांचवें देशसंयतगुणस्थानमें तीसरी प्रत्याख्यानावरणकषायके चार भेद, तिर्यंच आयु, उद्योत, नीचगोत्र, तिर्यंचगति, इन आठ प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है । छठे गुणस्थानमें आहारकशरीरादि दो, स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्रा, ये पांच प्रकृतियां उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥२६७॥

अपमत्ते सम्मत्तं अंतिमतियसंहदी यऽपुव्वम्हि ।
छच्चेव णोकसाया अणियट्टीभागभागेसु ॥ २६८ ॥
अप्रमत्ते सम्यक्त्वमन्तिमत्रयसंहतिश्चापूर्वे ।
षट् चैव नोकषाया अनिवृत्तिभागभागयोः ॥ २६८ ॥

अर्थ—सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें सम्यक्त्वप्रकृति, अन्तके अर्धनाराच आदि तीन संहनन, इसतरह चार प्रकृतियां उदयव्युच्छिन्न होती हैं। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानमें हास्य आदि ६ नोकषाय उदयव्युच्छिन्न होती हैं। नववें अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके सवेदभाग और अवेदभाग इन दोनोंमेंसे ॥ २६८ ॥

वेदतिय कोहमाणं मायासंजलणमेव सुहुमंते ।
सुहुमो लोहो संते वज्जंणारायणारायं ॥ २६९ ॥
वेदत्रयं क्रोधमानं मायासंज्वलनमेव सूक्ष्मान्ते ।
सूक्ष्मो लोभः शान्ते वज्रनाराचनाराचम् ॥ २६९ ॥

अर्थ—सवेदभागमें तो पुरुषवेदादि तीन वेद, तथा अवेदभागमें संज्वलन क्रोध, मान और माया ये तीन, इसतरह दोनों भागोंकी मिलकर ६ प्रकृतियां उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं। बादरलोभ भी यहींपर उदयव्युच्छिन्न जानना। किंतु सूक्ष्म संज्वलन लोभकी उदयव्युच्छित्ति सूक्ष्मसांपरायनामके दशवें गुणस्थानके अंतसमयमें होती है। ग्यारहवें उपशान्तमोहगुणस्थानमें वज्रनाराच और नाराच-संहनन इन दोनोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है ॥ २६९ ॥

खीणकसायदुचरिमे णिद्दा पयला य उदयवोच्छिण्णा ।
णाणंतरायदसयं दंसणचत्तारि चरिमम्हि ॥ २७० ॥
क्षीणकषायद्विचरिमे निद्रा प्रचला च उदयव्युच्छिन्नाः ।
ज्ञानान्तरायदशकं दर्शनचत्वारि चरिमे ॥ २७० ॥

अर्थ—बारहवें क्षीणकषायके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंकी तथा अन्तके समयमें ज्ञानावरण ५ और अंतराय ५ इस तरह १० तथा चक्षुर्दर्शनादि ४ दर्शनकी, इसप्रकार १४ प्रकृतियोंकी, तथा उपान्त्य और अन्त्य समयकी सब २+१४ मिलकर १६ प्रकृतियोंकी बारहवें गुणस्थानमें उदयसे व्युच्छित्ति होती है ॥ २७० ॥

तदियेक्कवज्जणिमिणं थिरसुहसरगदिउरालतेजदुगं ।
संठाणं वण्णागुरुचउक्क पत्तेय जोगिम्हि ॥ २७१ ॥
तृतीयैकवज्रनिर्माणं स्थिरशुभस्वरगतिऔरालतेजोद्विकम् ।
संस्थानं वर्णागुरुचतुष्कं प्रत्येकं योगिनि ॥ २७१ ॥

अर्थ—तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानमें तीसरे वेदनीयकर्मके साता असाता दो भेदोंमेंसे कोई

एक, और वज्रर्षभनाराचसंहनन, निर्माण, स्थिर-शुभ-स्वरविहायोगति-औदारिक और तैजस इन सबका जोड़ा (स्थिर अस्थिर इत्यादि), समचतुरस्र संस्थान आदि ६ संस्थान, वर्णादि चार, अगुरु-लघुआदि चार, और प्रत्येक शरीर सब मिलकर ३० प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है ॥ २७१ ॥

तदियेक्कं मणुवगदी पंचिंदियसुभगतसतिगादेज्जं ।
जसतित्थं मणुवाऊ उच्चं च अजोगिचरिमम्हि ॥ २७२ ॥

तृतीयैकं मानवगतिः पञ्चेन्द्रियसुभगत्रसत्रिकादेयम् ।
यशस्तीर्थं मानवायुरुच्चं चायोगिचरिमे ॥ २७२ ॥

अर्थ—चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानके अंतसमयमें तीसरे वेदनीयकर्मकी कोई एक प्रकृति, मनुष्यगति, पंचेंद्रियजाति, सुभग, त्रसादि तीन, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर प्रकृति, मनुष्यायु और ऊंचगोत्र—इस प्रकार १२ प्रकृतियां उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥ २७२ ॥

आगे अन्य गुणस्थानोंमें जैसे साता तथा असाताके उदयसे इन्द्रियजन्य सुख तथा दुःख होता है वैसे केवली भगवानके भी होना चाहिये ? इसका उत्तर आचार्यमहाराज देते हैं;—

णट्ठा य रायदोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो ।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥ २७३ ॥

नष्टौ च रागद्वेषौ इन्द्रियज्ञानं च केवलिनि यतः ।
तेन तु सातासातजसुखदुःखं नास्ति इन्द्रियजम् ॥ २७३ ॥

अर्थ—केवली भगवानके घातियाकर्मका नाश हो जानेसे मोहनीयके भेद जो राग तथा द्वेष वे नष्ट हो गये । और ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जन्य इंद्रियज्ञान भी नष्ट हो गया । इसकारण केवलीके साता तथा असाताजन्य इन्द्रियविषयक सुख-दुःख लेशमात्र भी नहीं होते । क्योंकि सातादि **वेदनीयकर्म** मोहनीयकर्मकी सहायतासे ही सुःख देता हुआ जीवके गुणको घातता है, यह बात पहले भी कह आये हैं । अतः उस सहायकका अभाव हो जानेसे वह जली जेवड़ीवत् अपना कुछ कार्य नहीं कर सकता ॥ २७३ ॥

अब वेदनीयकर्म केवलीके इन्द्रियजन्य सुखदुःखका कारण नहीं है, इसी बातको सिद्ध करनेके लिये युक्ति कहते हैं;—

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स ।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥ २७४ ॥

समयस्थितिको बन्धः सातस्योदयात्मको यतः तस्य ।
तेनासातस्योदयः सातस्वरूपेण परिणमति ॥ २७४ ॥

अर्थ—जिस कारण केवली भगवानके एक सातावेदनीयका ही बंध सो भी एक समयकी स्थितिवाला ही होता है, इसकारण वह उदयस्वरूप ही है। और इसी कारण असाताका उदय भी सातास्वरूपसे ही परिणमता है। क्योंकि असातावेदनीय सहायरहित होनेसे तथा बहुत हीन होनेसे मिष्ट जलमें खारे जलकी एक बूंदकी तरह अपना कुछ कार्य नहीं कर सकता ॥ २७४॥

एदेण कारणेन दु सादस्सेव दु णिरंतरो उदओ।
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥ २७५ ॥

एतेन कारणेन तु सातस्यैव तु निरन्तर उदयः।
तेनासातनिमित्ताः परीषहा जिनवरे न संति ॥ २७५ ॥

अर्थ—इस पूर्वगाथा कथित कारणसे केवलीके हमेशा सातावेदनीयका ही उदय रहता है। इसीकारण असाताके निमित्तसे होनेवाली क्षुधा आदिक जो ११ परीषह हैं वे जिनवरदेवके कार्यरूप नहीं हुआ करतीं हैं ॥ २७५ ॥

अब गुणस्थानोंमें क्रमसे उदयरूप होनेवालीं प्रकृतियोंकी संख्या दिखाते हैं;—

सत्तरसेक्कारखचदुसहियसयं सगिगिसीदि छदुसदरी।
छावट्ठि सट्ठि णवसगवण्णास दुदालबारुदया ॥ २७६ ॥

सप्तदशैकादशखचतुःसहितशतं सप्तैकाशीतिः षट्द्विसप्ततिः।
षट्षष्टिः षष्टिः नवसप्तपञ्चाशत् द्विचत्वारिंशद्द्वादशोदयाः ॥ २७६ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानोंमें क्रमसे ११७, १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२, १२ प्रकृतियोंका उदय होता है ॥ २७६ ॥

अब अनुदयरूप प्रकृतियोंको कहते हैं;—

पंचेक्कारसबावीसट्ठारसपंचतीस इगिछादालं।
पण्णं छप्पण्णं वितिपणसट्ठि असीदि दुगुणपणवण्णं ॥ २७७ ॥

पञ्चैकादशद्वाविंशत्यष्टादशपञ्चत्रिंशदेकषट्चत्वारिंशत्।
पञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् द्वित्रिपञ्चषष्टिरशीतिः द्विगुणपञ्चपञ्चाशत् ॥ २७७ ॥

अर्थ—उन मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें क्रमसे ५, ११, २२, १८, ३५, ४१, ४६, ५०, ५६, ६२, ६३, ६५, ८०, ११० प्रकृतियां अनुदयरूप है, अर्थात् इनका उदय नहीं होता ॥ २७७ ॥

आगे उदय और उदीरणाकी प्रकृतियोंमें जो कुछ विशेषता है उसको बताते हैं;—

उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो।
मोत्तूण तिण्णिठाणं पमत्त जोगी अजोगी य ॥ २७८ ॥

उदयस्योदीरणायाश्च स्वामित्वात् न विद्यते विशेषः ।
मुक्त्वा त्रिस्थानं प्रमत्तः योगी अयोगी च ॥ २७८ ॥

अर्थ—उदय और उदीरणामें स्वामीपनेकी अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं है । परन्तु प्रमत्त-नामा छठा गुणस्थान, और तेरहवाँ सयोगी, तथा चादहवां अयोगी इन तीनों गुणस्थानोंको छोड़ देना । अर्थात् इन तीन गुणस्थानोंमें ही विशेषता है और सब जगह समानपना है ॥ २७८ ॥

अब उसी विशेषताको दो गाथाओंसे दिखाते हैं;—

तीसं बारस उदयुच्छेदं केवलिणमेकदं किच्चा ।
सादमसादं च तहिं मणुवाउगमवणिदं किच्चा ॥ २७९ ॥

त्रिंशत् द्वादश उदयोच्छेदं केवलिनोरेकत्र कृत्वा ।
सातमसातं च तत्र मानवायुष्कमपनीतं कृत्वा ॥ २७९ ॥

अर्थ—सयोगी और अयोगी केवलीकी ३० और १२ उदयव्युच्छित्ति प्रकृतियोंको मिलाना; और उन ४२ में से साता १ असाता २ और मनुष्यायु ३ इन तीन प्रकृतियोंको घटाना चाहिये ॥२७९॥

अवणिदतिप्पयडीणं पमत्तविरदे उदीरणा होदि ।
णत्थित्ति अजोगिजिणे उदीरणा उदयपयडीणं ॥ २८० ॥

अपनीतत्रिप्रकृतीनां प्रमत्तविरते उदीरणा भवति ।
नास्तीति अयोगिजिने उदीरणा उदयप्रकृतीनाम् ॥ २८० ॥

अर्थ—घटाई हुई साता आदि तीन प्रकृतियोंकी उदीरणा प्रमत्तविरत नामा छठे गुणस्थानमें ही होती है[1] बाकी ३९ प्रकृतियोंकी उदीरणा सयोगकेवलीके होती है । तथा वहां ही उदीरणाकी व्युच्छित्ति भी होती है। और अयोगकेवलीके उदीरणा होती ही नहीं। यही विशेषता है ॥ २८० ॥

अब उदीरणाकी व्युच्छित्ति गुणस्थानोंमें क्रमसे कहते हैं:—

पण णव इगि सत्तरसं अट्ठट्ठ य चदुर छक्क छच्चेव ।
इगि दुग सोलुगदालं उदीरणा होंति जोगंता ॥ २८१ ॥

पञ्च नवैकं सप्तदश अष्टाष्ट च चत्वारि षट्कं षट् चैव ।
एकं द्विकं षोडशैकोनचत्वारिंशत् उदीरणा भवन्ति योग्यन्ताः ॥ २८१ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवलीपर्यंत क्रमसे ५, ९, १, १७, ८, ८; ४, ६, ६; १, २, १६, ३९ प्रकृतियोंकी उदीरणाव्युच्छित्ति होती है ॥ २८१ ॥

---

१. संक्लेशपरिणामोंसे ही इन तीनोंकी उदीरणा होती है इसकारण अप्रमत्तादिके इन तीनोंकी उदीरणा-का होना असंभव है ।

अब पहले कही हुई उदीरणा और अनुदीरणारूप प्रकृतियोंकी संख्या दो गाथाओंसे कहते हैं;—

सत्तरसेक्कारखचदुसहियसयं सगिगिसीदि तियसदरी ।
णवतिण्णिसट्ठि सगछक्कवण्ण चउवण्णमुगुदालं ॥२८२॥
पंचेक्कारसबावीसट्ठारस पंचतीस इगिणवदालं ।
तेवण्णेक्कुणसट्ठी पणछक्कडसट्ठि तेसीदी ॥ २८३ ॥ जुम्मं ॥

सप्तदशैकादशखचतुःसहितशतं सप्तैकाशीतिः त्रिसप्ततिः ।
नवत्रिषष्टिः सप्तषट्कपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् एकोनचत्वारिंशत् ॥ २८२ ॥
पञ्चैकादशद्वाविंशत्यष्टादश पञ्चत्रिंशत् एकनवचत्वारिंशत् ।
त्रिपञ्चाशदेकोनषष्टिः पञ्चषट्काष्टषष्टिः त्र्यशीतिः ॥ २८३ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि तेरह गुणस्थानोंमें क्रमसे ११७, १११; १००, १०४, ८७, ८१, ७३, ६९, ६३, ५७, ५६, ५४, ३९, प्रकृतियां उदीरणारूप हैं। और ५, ११, २२, १८, ३५, ४१, ४९, ५३, ५९, ६५, ६६, ६८, ८३, अनुदीरणारूप प्रकृतियां जानना। अर्थात् इन २ गुणस्थानोंमें इतनी इतनी प्रकृतियोंकी उदीरणा नहीं होती ॥ २८२ ॥ २८३ ॥

इस प्रकार गुणस्थानोंमें उदय और उदीरणाकी त्रिभंगी[1] (तीन भेद) कही।

अब गत्यादिक १४ मार्गणाओंमें उदयत्रिभंगी कहते हुए उदयका क्रम दिखाते हैं;—

गदियादिसु जोग्गाणं पयडिप्पहुदीणमोघसिद्धाणं ।
सामित्तं णेदव्वं कमसो उदयं समासेज्ज ॥ २८४ ॥

गत्यादिषु योग्यानां प्रकृतिप्रभृतीनामोघसिद्धानाम् ।
स्वामित्वं नेतव्यं क्रमश उदयं समासाद्य ॥ २८४ ॥

अर्थ—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशबंध गुणस्थानोंमें सिद्ध किये जा चुके हैं। अब उनका स्वामीपना गत्यादिमार्गणाओंमें क्रमसे उदयकी अपेक्षाकर घटित करना चाहिये ॥ २८४ ॥

आगे इस विषयमें सबसे पहले कुछ परिभाषाओं (नियमों) को पाँच गाथाओंद्वारा बताते हैं;—

गदिआणुआउउदओ सपदे भूपुण्णबादरे ताओ ।
उच्चुदओ णरदेवे थीणतिगुदओ णरे तिरिये ॥ २८५ ॥

---

१. उदय अनुदय उदयव्युच्छित्ति। इसी प्रकार उदीरणा अनुदीरणा और उदीरणाकी व्युच्छित्ति।

गत्यान्वायुरुदयः सपदे भूपूर्णबादरे आतपः ।
उच्चोदयो नरदेवे स्त्यानत्रिकोदयो नरे तिरश्चि ॥ २८५ ॥

अर्थ—किसी भी विवक्षितभवके पहले समयमें ही उस विवक्षित भवके योग्य गति, आनुपूर्वी और आयुका उदय होता है। और सपदे कहनेसे एक जीवके एकही गति आनुपूर्वी तथा आयुका उदय युगपत् हुआ करता है। आतपनाम कर्मका उदय बादर पर्याप्त पृथिवीकायिक जीवके ही होता है। उच्चगोत्रका उदय मनुष्य और देवोंके ही होता है, और स्त्यानगृद्धिआदि तीन निद्रा प्रकृतियोंका उदय मनुष्य और तिर्यंचोंके ही होता है ॥ २८५ ॥

संखाउगणरतिरिए इंदियपज्जत्तगादु थीणतियं ।
जोग्गमुदेदुं वज्जिय आहारविगुव्वणुट्ठवगे ॥ २८६ ॥

संख्यायुष्कनरतिरश्चि इन्द्रियपर्याप्तकात् स्त्यानत्रयम् ।
योग्यमुदेतुं वर्जयित्वा आहारविगूर्वणोत्थापके ॥ २८६ ॥

अर्थ—संख्यात वर्षकी आयुवाले कर्मभूमिया मनुष्य और तिर्यंचोंकेही इन्द्रिय पर्याप्तिके पूर्ण होनेके बाद स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओंका उदय हुआ करता है। परन्तु आहारक ऋद्धि और वैक्रियक ऋद्धिके धारक मनुष्योंके इनका उदय नहीं होता। अतएव ऋद्धि-वाले मनुष्योंको छोड़कर सब कर्मभूमिया मनुष्योंमें इनके उदयकी योग्यता समझना ॥ २८६ ॥

अयदापुण्णे ण हि थी संढोवि य घम्मणारयं मुच्चा ।
थीसंढयदे कमसो णाणुचऊ चरिमतिण्णाणू ॥ २८७ ॥

अयतापूर्णे न हि स्त्री षण्ढोपि च घर्मनारकं मुक्त्वा ।
स्त्रीषण्ढायते क्रमशो नानुचत्वारि चरमत्रयानुः ॥ २८७ ॥

अर्थ—निर्वृत्यपर्याप्तक असंयत गुणस्थानमें स्त्रीवेदका उदय नहीं है। क्योंकि असंयत-सम्यग्दृष्टि मरण करके स्त्री नहीं होता। इसीप्रकार पहले घर्मा नामक नरकके सिवाय अन्य तीन गतियोंकी चतुर्थगुणस्थानवर्ती निर्वृत्यपर्याप्त अवस्थामें नपुंसक वेदका भी उदय नहीं होता। इसीकारणसे स्त्रीवेदवाले असंयतके तथा नपुंसकवेदवाले असंयतके क्रमसे चारों आनुपूर्वी तथा नरकके विना अंतकी तीन आनुपूर्वी प्रकृतियोंका उदय नहीं होता ॥ २८७ ॥

इगिविगलथावरचऊ तिरिए अपुण्णो णरेवि संघडणं ।
ओरालदु णरतिरिए वेगुव्वदु देवणेरयिए ॥ २८८ ॥

एकविकलस्थावरचत्वारि तिरश्चि अपूर्णो नरेपि संहननम् ।
औरालद्वि नरतिरश्चि वैक्रियिकद्वि देवनैरयिके ॥ २८८ ॥

अर्थ—एकेन्द्री, तथा दोइन्द्री आदि विकलत्रय और स्थावर आदि चार प्रकृतियोंका

उदय तिर्यंचके होने योग्य है । अपर्याप्तप्रकृति तिर्यंच व मनुष्यके भी उदय होने योग्य कही है । वज्रर्षभनाराचादि छह संहनन, और औदारिक शरीरनामकर्मका जोड़ा मनुष्य तथा तिर्यंचके उदय होने योग्य है। एवं वैक्रियिक शरीर व उसके आंगोपांग ये दो प्रकृतियां देव और नारकियोंके ही उदय होने योग्य कही हैं ॥ २८८ ॥

तेउतिगूणतिरिक्खेसुज्जोवो बादरेसु पुण्णेसु ।
सेसाणं पयडीणं ओघं वा होदि उदओ दु ॥ २८९ ॥

तेजस्त्रिकोनतिर्यक्षु उद्योतो बादरेषु पूर्णेषु ।
शेषाणां प्रकृतीनामोघवत् भवति उदयस्तु ॥२८९॥

अर्थ—तेजः कायिक, वायुकायिक और साधारणवनस्पतिकायिक इन तीनोंको छोड़कर अन्य वादर पर्याप्तक तिर्यंचोंके उद्योत प्रकृतिका उदय होता है। और शेष वचीं प्रकृतियोंका उदय गुणस्थानके क्रमसे जानना ॥ २८९ ॥

इस प्रकार पांच परिभाषासूत्रोंसे उदयका नियम कहकर चारगतियोंमें उदयप्रकृतियोंको कहते हुए पहले नरकगतिमें कहते हैं;—

थीणतिथीपुरिसूणा घादी णिरयाउणीचवेयणियं ।
णामे सगवचिठाणं णिरयाणू णारयेसुदया ॥ २९० ॥

स्त्यानत्रिस्त्रीपुरुषोना घातिनो निरयायुर्नीचवेदनीयम् ।
नाम्नि स्वकवचःस्थानं निरयानुः नारकेषूदयाः ॥२९०॥

अर्थ—स्त्यानगृद्धि आदिक तीन, स्त्रीवेद और पुरुषवेद इन पाँचके सिवाय घातीकर्मोंकी ४२ प्रकृतियां, नरकायु, नीचगोत्र और साता-असातावेदनी तथा नामकर्ममेंसे नारकियोंके भाषापर्याप्तिके स्थानमें होनेवालीं २९ प्रकृतियां और नरकगत्यानुपूर्वी ये सब ७६ प्रकृतियां नरकगतिमें उदय होने योग्य हैं ॥ २९० ॥

अब उन २९ प्रकृतियोंको दिखाते हैं,—

वेगुव्वतेजथिरसुहदुग दुग्गदिहुंडणिमिणपंचिंदी ।
णिरयगदि दुब्भगागुरुलसवण्णचऊ य वचिठाणं ॥ २९१ ॥

वैगूर्वतेजःस्थिरशुभद्विकं दुर्गतिहुण्डनिर्माणपञ्चेन्द्रियम् ।
निरयगतिदुर्भगागुरुत्रसवर्णचत्वारि च वचःस्थानम् ॥२९१॥

अर्थ—वैक्रियिक, तैजस, स्थिर, शुभ इनका जोड़ा, और अप्रशस्तविहायोगति, हुंडसंस्थान, निर्माण, पंचेंद्री, नरकगति, तथा दुर्भग-अगुरुलघु-त्रस-वर्ण इन ४ की चौकड़ी, इसप्रकार ये सब उनतीस प्रकृतियां नारकी जीवोंके वचनपर्याप्तिके ठिकानेपर उदयरूप होती हैं ॥ २९१ ॥

आगे घर्मा नामके पहले नरकमें प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति बताते हैं;—

मिच्छमणंतं मिस्सं मिच्छादितिए कमा छिदी अयदे ।
बिदियकसाया दुब्भगणादेज्जदुगाउणिरयचऊ ॥ २९२ ॥

मिथ्यमनन्तं मिश्रं मिथ्यात्वादित्रये क्रमात् छित्तिरयते ।
द्वितीयकषाया दुर्भगानादेयद्विकायुर्निरयचत्वारि ॥२९२॥

अर्थ—प्रथमनरकके मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानोंमें क्रमसे मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी चार, और सम्यग्मिथ्यात्व ये उदयसे व्युच्छिन्न होते हैं। उसी घर्मा नरकके असंयत नामक चौथे गुणस्थानमें दूसरी अप्रत्याख्यान कषायकी चौकड़ी, दुर्भग-दुःस्वर ये दो तथा अनादेय-अयशस्कीर्ति ये दो, नरकायु; और नरकगति आदि चार-अर्थात् नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर तथा वैक्रियिक आंगोपांग ये चार-सब मिलकर १३ प्रकृतियोंकी उदयसे व्युच्छित्ति होती है ॥ २९२ ॥

आगे दूसरे आदि नरकोंमें व्युच्छित्ति कहते हैं;—

बिदियादिसु छसु पुढविसु एवं णवरि य असंजदट्ठाणे ।
णत्थि णिरयाणुपुव्वी तिस्से मिच्छेव वोच्छेदो ॥ २९३ ॥

द्वितीयादिषु षट्सु पृथिवीषु एवं नवरि च असंयतस्थाने ।
नास्ति निरयानुपूर्वी तस्मात् मिथ्ये एव व्युच्छेदः ॥२९३॥

अर्थ—दूसरी वंशा आदि छह नरककी पृथिवियोंमें घर्मा नरककी तरह ही उदयादि समझना। किन्तु विशेषता इतनी है कि असंयत गुणस्थानमें नरकगत्यानुपूर्वीका उदय नहीं है। इसकारण मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही मिथ्यात्व प्रकृतिके साथ साथ नरकगत्यानुपूर्वीकी भी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है ॥ २९३ ॥

अब तिर्यंचगतिमें कहते हैं;—

तिरिये ओघो सुरणरणिरयाऊउच्च मणुदुहारदुगं ।
वेगुव्वछक्कतित्थं णत्थि हु एमेव सामण्णे ॥ २९४ ॥

तिरश्चि ओघः सुरनरनिरयायुरुच्चं मनुद्विआहारद्विकम् ।
वैगूर्वषट्कतीर्थं नास्ति हि एवमेव सामान्ये ॥२९४॥

अर्थ—तिर्यंचगतिमें गुणस्थानकी तरहसेही उदयादि जानना। परन्तु उनमेंसे देवआयु, मनुष्यायु, नरकायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति आदि २, आहारादि २, और वैक्रियिक शरीर आदि ६, तथा तीर्थंकर-ये सब १५ प्रकृति उदय होनेके योग्य नहीं हैं। इसकारण १०७ प्रकृतियोंका ही उदय हुआ करता है। इसीप्रकार तिर्यंचके पांच भेदोंमेंसे सामान्यतिर्यंचोंमें भी जानना ॥ २९४ ॥

आगे पंचेन्द्रीतिर्यंच और पर्याप्तिकतिर्यंचोंमें उदयादि कहते हैं;—

थावरदुगसाहारणताविगिविगलूण ताणि पंचक्खे ।
इत्थिअपज्जत्तूणा ते पुण्णे उदयपयडीओ ॥ २९५ ॥

स्थावरद्विकसाधारणतपैकविकलोनाः ताः पञ्चाक्षे ।
स्त्र्यपर्याप्तोनास्ताःपूर्णे उदयप्रकृतयः ॥२९५॥

अर्थ—उक्त सामान्यतिर्यंचकी १०७ प्रकृतियोंमेंसे स्थावर आदि २, साधारण; आतप एकेंद्रीय, विकलत्रय, इन आठ प्रकृतियोंको घटा देनेसे बाकीबचीं ९९ प्रकृतियां पंचेन्द्रियतिर्यंचके उदय योग्य हैं। और इन ९९ प्रकृतियोंमेंसे भी स्त्रीवेद तथा अपर्याप्त ये दो कम करनेसे बची हुई ९७ प्रकृतियां पर्याप्ततिर्यंचके उदय योग्य कही गई हैं ॥२९५॥

आगे स्त्रीतिर्यंच और लब्ध्यपर्याप्ततिर्यंचोंमें उदयादि कहते हैं;—

पुंसंढूणित्थिजुदा जोणिणिये अविरदे ण तिरियाणू ।
पुण्णिदरे थी थीणति परघाददु पुण्णउज्जोवं ॥ २९६ ॥
सरगदिदु जसादेज्जं आदीसंठाणसंहदीपणगं ।
सुभगं सम्मं मिस्सं हीणा तेऽपुण्णसंढजुदा ॥ २९७ ॥ जुम्मं ।

पुंषण्ढोनस्त्रीयुता योनिमति अविरते न तिर्यगानुः ।
पूर्णेतरे स्त्री स्त्यानत्रि परघातद्वि पूर्णोद्योतम् ॥२९६॥
स्वरगतिद्वि यशआदेयमादिसंस्थानसंहतिपञ्चकम् ।
सुभगं सम्यक्त्वं मिश्रं हीनाः ता अपूर्णषण्ढयुताः ॥२९७॥ युग्मम् ।

अर्थ—योनिमत् अर्थात् तिर्यंचिनीके उपर्युक्त ९७ प्रकृतियोंमेसे पुरुषवेद और नपुंसकवेदको घटाकर तथा स्त्रीवेद मिलानेसे ९६ प्रकृतियां उदययोग्य हैं। उसमें भी अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें तिर्यंचगत्यानुपूर्वीका उदय नहीं है; और लब्ध्यपर्याप्तक पंचेंद्रीतिर्यंचके उन ९६ प्रकृतियोंमें स्त्रीवेद, स्त्यानगृद्धि आदि ३, परघातादि दो, पर्याप्त, उद्योत; स्वरका जोड़ा, विहायोगतिका युगल, यशस्कीर्ति, आदेय; आदिके समचतुरस्रआदि पांच संस्थान, वज्रर्षभनाराच आदि पांच संहनन, सुभग, सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व ये २७ कम करके तथा अपर्याप्त और नपुंसक वेद ये दो प्रकृतियां मिलानेसे कुल ७१ प्रकृतियां उदय योग्य हैं ॥ २९६ ॥ २९७ ॥

आगे मनुष्यगतिमें उदयादिको कहते हैं;—

मणुवे ओघो थावरतिरियादावदुगएयवियलिंदि ।
साहरणिदराउतियं वेगुव्वियछक्क परिहीणो ॥ २९८ ॥

मानवे ओघः स्थावरतिर्यगातपद्विकैकविकलेन्द्रियम् ।
साधारणेतरायुस्त्रयं वैगूर्विकषट्कं परिहीनः ॥२९८॥

अर्थ—चार प्रकारके मनुष्योंमेंसे सामान्य मनुष्यके, गुणस्थानोंमें कहीं हुई १२२ प्रकृतियोंमें से स्थावर-तिर्यंचगति-आतप इन तीनोंका युगल (जोड़ा), और एकेन्द्री, विकलेन्द्री ३, साधारण, मनुष्यायुसे अन्य तीन आयु, और वक्रियिक शरीरादि ६ कम करनेसे बाकी उदय योग्य १०२ प्रकृतियां हैं ॥२९८॥

उनमें गुणस्थानकी अपेक्षासे उदयव्युच्छित्ति दिखाते हैं,—

मिच्छमपुण्णं छेदो अणमिस्सं मिच्छगादितिसु अयदे ।
विदियकसायणराणू दुब्भगऽणादेज्जअज्जसयं ॥ २९९ ॥

मिथ्यात्वमपूर्णं छेद अनमिश्रं मिथ्यकादित्रिषु अयते ।
द्वितीयकषायनरानुः दुर्भगानादेयायशस्कम् ॥२९९॥

अर्थ—मिथ्यात्वआदि तीन गुणस्थानोंमेंसे क्रमसे पहलेमें मिथ्यात्व १ अपर्याप्त २, दूसरेमें अनंतानुबंधी चार, तीसरेमें मिश्र दर्शनमोहनीय, तथा असंयत गुणस्थानमें दूसरी अप्रत्याख्यानकी चौकड़ी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, और अयशस्कीर्ति इन ८ प्रकृतियों की उदयसे व्युच्छित्ति होती है ॥२९९॥

देसे तदियकसाया णीचं एमेव मणुससामण्णे ।
पज्जत्तेवि य इत्थीवेदाऽपज्जत्तिपरिहीणो ॥ ३०० ॥

देशे तृतीयकषाया नीचमेवमेव मनुष्यसामान्ये ।
पर्याप्तेपि च स्त्रीवेदापर्याप्तिपरिहीना ॥३००॥

अर्थ—पांचवें देशसंयतगुणस्थानमें तीसरी प्रत्याख्यानकषाय चार और नीचगोत्रकी उदयव्युच्छित्ति होती है। उसके ऊपर छट्ठे आदि गुणस्थानोंमें जैसी कि पहले गुणस्थानके क्रमसे उदयव्युच्छित्ति बताई है वैसीही जानना पर्याप्तमनुष्यमें सामान्य मनुष्यकी १०२ प्रकृतियोंमेंसे स्त्रीवेद और अपर्याप्ति ये दो कम करनेसे १०० प्रकृतियां उदय योग्य हैं ॥३००॥

मणुसिणिएत्थीसहिदा तित्थयराहारपुरिससंढूणा ।
पुण्णिदरेव अपुण्णे सगाणुगदिआउगं णेयं ॥ ३०१ ॥

मनुष्यिण्यां स्त्रीसहिताः तीर्थंकराहारपुरुषषण्ढोनाः ।
पूर्णेतर इवापूर्णे स्वकानुगत्यायुष्कं ज्ञेयम् ॥३०१॥

अर्थ—उक्त १०० प्रकृतियोंमें स्त्रीवेद प्रकृति मिलाने और तीर्थंकर, आहारकयुगल, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये ५ प्रकृतियाँ कमकरनेसे ९६ प्रकृतियां मनुष्यिणीके उदय योग्य हैं। और लब्धिअपर्याप्तक मनुष्यके तिर्यंचलब्ध्यपर्याप्तककी तरह ७१ प्रकृतियाँ उदय योग्य समझना। परंतु आनुपूर्वी, गति और आयु-ये तीन प्रकृतियां तिर्यंचकी छोड़कर अपनी (मनुष्यसंबंधी) ही जानना ॥३०१॥

अब भोगभूमिया मनुष्य और तिर्यंचमें उदयादिको दो गाथाओंसे कहते हैं:—

मणुसोघं वा भोगे दुब्भगचउणीचसंढथीणतियं।
दुग्गदितित्थमपुण्णं संहदिसंठाणचरिमपणं ॥ ३०२ ॥
हारदुहीणा एवं तिरिये मणुदुच्चगोदमणुवाउं।
अवणिय पक्खिव णीचं तिरियदुतिरियाउउज्जोवं ॥३०३॥ जुम्मं।

मनुष्यौघ इव भोगे दुर्भगचतुर्नीचपण्ढस्त्यानत्रयम्।
दुर्गतितीर्थमपूर्णं संहतिसंस्थानचरमपञ्च ॥३०२॥
आहारद्विहीना एवं तिरश्चि मनुद्विउच्चगोत्रमानवायुः।
अपनीय प्रक्षिप्य नीचं तिर्यग्द्वितिर्यगायुरुद्योतम् ॥३०३॥ युग्मम्।

अर्थ—भोगभूमिया मनुष्योंमें सामान्यमनुष्यकी १०२ प्रकृतियोंमेंसे दुर्भग आदि ४, नीचगोत्र, नपुंसकवेद, स्त्यानगृद्धि आदि तीन, अप्रशस्तविहायोगति, तीर्थंकर प्रकृति, अपर्याप्ति, अंतके वज्रनाराच आदि पांच संहनन तथा न्यग्रोधपरिमंडल आदि पांच संस्थान और आहारक शरीर युगल-इन २४ प्रकृतियोंको घटा देनेसे बचीं हुईं ७८ प्रकृतियां उदय योग्य हैं। और इसी तरह भोगभूमिया तिर्यंचमें भोगभूमिया मनुष्योंकी तरह ७८ प्रकृतियोंमें मनुष्यगति आदि दो, उच्चगोत्र और मनुष्यायु, इन चार प्रकृतियोंको घटाकर तथा नीच गोत्र, तिर्यंगति आदि दो, तिर्यंचायु और उद्योत, इन पांचको मिलानेसे ७९ प्रकृतियां उदय योग्य है ॥ ३०२ ॥ ३०३ ॥

अब देवगतिमें उदयादिको दिखाते हैं,—

भोगं व सुरे णरचउणराउवज्जूण सुरचउसुराउं।
खिव देवे णेवित्थी इत्थिम्मि ण पुरिसवेदो य ॥ ३०४ ॥

भोग इव सुरे नरचतुर्नरायुर्वज्रोनित्वा सुरचतुः सुरायुः।
क्षिप्त्वा देवे नैव स्त्री स्त्रियां न पुरुषवेदश्च ॥३०४॥

अर्थ—सामान्यपनेसे देवोमें भोगभूमिया मनुष्योंकी तरह ७८ प्रकृतियोंमें मनुष्यगति आदि चार, मनुष्यायु, वज्रर्षभनाराच संहनन, इन ६ प्रकृतियोंको घटाकर और देवगतिआदि चार, देवायु, इन पाँचको मिलानेसे ७७ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं। परंतु देवोंमें स्त्रीवेदका उदय और देवाँगनाओंमें पुरुषवेदका उदय नहीं होता, इसकारण केवल देव तथा देवाँगनाओंमें ७६ ही उदय योग्य समझना ॥३०४॥

अब नव अनुदिशादिमें कुछ विशेषता बतलाते हैं,—

अविरदठाणं एक्कं अणुद्दिसादिसु सुरोघमेव हवे।
भवणतिकप्पित्थीणं असंजदे णत्थि देवाणू ॥ ३०५ ॥

अविरतस्थानमेकमनुदिशादिषु सुरौघमेव भवेत् ।
भवनत्रिकल्पस्त्रीणामसंयते नास्ति देवानुः ॥३०५।

अर्थ—नव अनुदिशादि १४ विमानोंमें एक असंयत गुणस्थान हो है। इसकारण देवोंके अविरत गुणस्थानकी तरह उदययोग्य ७० प्रकृतियां जानना। और भवनत्रिक (भवनवासी १ व्यंतर २ ज्योतिषी ३) देव और देवी तथा कल्पवासिनी स्त्रियोंके सामान्य देवोंकी तरह ७७ प्रकृतियोंमें स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद विना ७६ ही प्रकृतियां उदय योग्य है। परंतु असंयतगुणस्थानमें देवगत्यानुपूर्वीका उदय नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरण कर भवनत्रयादिमें उत्पन्न नहीं होता। भावार्थ—भवनत्रिक और कल्पवासिनी देवियोंके चतुर्थ गुणस्थानमें तथा तीसरेमें भी उदययोग्य ६९ प्रकृतियाँही हैं ॥३०५॥

आगे इंद्रियमार्गणामें उदयादिको तीन गाथाओंसे दिखाते हैं,—

तिरियअपुण्णं वेगे परघादचउक्कपुण्णसाहरणं ।
एइंदियजसथीणतिथावरजुगलं च मिलिदव्वं ॥ ३०६ ॥
रिणमंगोवंगतसं संहदिपचक्खमेवमिह वियले ।
अवणिय थावरजुगलं साहरणेयक्खमादावं ॥ ३०७ ॥
खिव तसदुग्गदिदुस्सरमंगोवंगं सजादिसेवट्टं ।
ओघं सयले साहरणिगिविगलादावथावरदुगूणं ॥३०८। विसेसयं ।

तिर्यगपूर्णमिवैके परघातचतुष्कपूर्णसाधारणम् ।
एकेन्द्रिययशःस्त्यानत्रिस्थावरयुगलं च मेलितव्यम् ॥३०६॥
ऋणमङ्गोपाङ्गत्रसं संहविपञ्चाक्षमेवमिह विकले ।
अपनीय स्थावरयुगलं साधारणैकाक्षमातापम् ॥३०७॥
क्षिप्त्वा त्रसदुर्गतिदुःस्वरमङ्गोपाङ्गं स्वजातिसृपाटिकम् ।
ओघः सकले साधारणैकविकलातापस्थावरद्विकोनम् ॥३०८॥ विशेषकम् ।

अर्थ—एकेन्द्रियमार्गणामें तिर्यंचलब्धिअपर्याप्तककी ७१ प्रकृतियोंमें परघातादि चार, पर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रीय जाति, यशस्कीर्ति, स्त्यानगृद्धि आदि तीन, स्थावर और सूक्ष्म दो=ये सब १३ प्रकृतियां मिलाकर, और अंगोपांग, त्रस, सृपाटिका संहनन, पचेन्द्री, इन चारको घटाके जो ८० प्रकृतियां रहती हैं उनका उदय जानना। इसीप्रकार विकलत्रयके एकेन्द्रियके समान ८० में स्थावरका युगल, साधारण, एकेंद्री, आतप इन ५ को घटाकर तथा त्रस, अप्रशस्तविहायोगति, दुःस्वर, अंगोपांग, अपनी अपनी जाति, सृपाटिका संहनन, ये छह मिलानेसे उदय योग्य ८१ प्रकृतियां हैं। सकलेन्द्रीमें गुणस्थानकी तरह १२२ में से साधारण, एकेन्द्री, विकलत्रय, आतप, स्थावरका जोड़ा ये ८ प्रकृतियां कमकरनेपर शेष ११४ प्रकृतियां उदय योग्य हैं॥ ३०६॥ ३०७॥ ३०८॥

आगे कायमार्गणामें उदयको कहते हैं;—

एयं वा पणकाये ण हि साहारणमिणं च आदावं ।
दुसु तद्दुगमुज्जोवं कमेण चरिमम्हि आदावं ॥ ३०९ ॥

एकं वा पञ्चकाये न हि साधारणमिदं चातापम् ।
द्वयोस्तद्द्विकमुद्योतः क्रमेण चरमे आतपः ॥ ३०९ ॥

अर्थ—पृथिवीकायादि पांच कायोमें एकेन्द्रीकी तरह ८० प्रकृतियोंमेंसे एक साधारण प्रकृतिके घटानेपर पृथिवीकायमें उदय योग्य ७९ और साधारण तथा आतप प्रकृतिके घटानेपर जलकायमें उदययोग्य ७८ प्रकृतियां जानना । और तेजःकायिक-वायुकायिक इन दोनोंमें साधारण-आतप ये दोनों और उद्योत, ऐसी तीन प्रकृतियां घटानेसे ७७ प्रकृतियां उदय योग्य हैं । तथा अन्तके वनस्पति कायमें केवल आतप प्रकृति घटानेपर ७९ प्रकृतियां उदय योग्य हैं ॥ ३०९ ॥

अब त्रसकायमें उदयको दिखाते हैं;—

ओघं तसे ण थावरदुगसाहरणेयतावमथ ओघं ।
मणवयणसत्तगे ण हि ताविगिविगलं च थावराणुचओ ॥३१०॥

ओघस्त्रसे न स्थावरद्विकसाधारणैकातापमथ ओघः ।
मनोवचनसप्तके न हि आतापैकविकलं च स्थावरानुचतुष्कम् ॥ ३१० ॥

अर्थ—त्रसकायवालोंके गुणस्थान सामान्यकी १२२ मेंसे स्थावरादि दो, और साधारण, एकेन्द्री, आतप, ये तीन कुल पांच प्रकृतियां नहीं होतीं अतः ११७ प्रकृतियां उदय होने योग्य हैं । इसके बाद मनोयोग ४ वचनयोग ३ मिलकर सब सात योगोंमें आताप, एकेन्द्री, विकलत्रय, स्थावर आदि ४, आनुपूर्वी ४, ये १३ प्रकृतियाँ नहीं होतीं, अतः १०९ प्रकृतियां उदय योग्य हैं ॥ ३१० ॥

आगे अनुभय वचनयोग और औदारिक काययोगमें उदयको कहते हैं;—

अणुभयवचि वियलजुदा ओघमुराले ण हारदेवाऊ ।
वेगुव्वछक्कणरतिरियाणु अपज्जत्तणिरयाऊ ॥ ३११ ॥

अनुभयवचसि विकलयुता ओघ औराले नाहारदेवायुः ।
वैगूर्वषट्कनरतिरियानुः अपर्याप्तनिरयायुः ॥ ३११ ॥

अर्थ—अनुभयवचन योगमें १०९ प्रकृतियोंमें विकलत्रय मिलाकर ११२ प्रकृतियां उदय होने योग्य हैं । औदारिक योगमें १२२ मेंसे आहारक शरीरका युगल, देवायु, वैक्रियिक शरीर आदि ६, मनुष्यगति आनुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, अपर्याप्त, नरकायु, ये १३ न होनेसे १०९ प्रकृतियां उदय योग्य हैं ॥ ३११ ॥

अब औदारिक मिश्रयोगमें उदयादि दो गाथाओंसे कहते हैं;—

तम्मिस्से पुण्णजुदा ण मिस्सथीणतियसरविहायदुगं ।
परघादचओ अयदे णादेज्जदुदुब्भगं ण संढिच्छी ॥ ३१२ ॥
साणे तेसिं छेदो वामे चत्तारि चोद्दसा साणे ।
चउदालं वोछेदो अयदे जोगिम्हि छत्तीसं ॥ ३१३ ॥ जुम्मं ।

तन्मिश्रे पूर्णयुता न मिश्रस्त्यानत्रयस्वरविहायोद्विकम् ।
परघातचत्वार्ययतेऽनादेयद्विदुर्भगं न षण्ढस्त्री ॥ ३१२ ॥
साने तेषां छेदो वामे चत्वारि चतुर्दश साने ।
चतुश्चत्वारिंशत् व्युच्छेद अयते योगिनि षट्त्रिंशत् ॥ ३१३ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—औदारिक मिश्रकाय योगमें पूर्वकी १०९ में पर्याप्ति मिलती है और मिश्रप्रकृति, स्त्यानगृद्धि आदि ३, दो स्वर, विहायोगतिका जोड़ा, परघातादि चार, ये १२ प्रकृतियां नहीं हैं; इस कारण ९८ उदय होनेके योग्य हैं । चौथे असंयतगुणस्थानमें अनादेय दो, दुर्भग, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, इनका उदय नहीं है; इसकारण इन प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति सासादनगुणस्थानमें ही जानना। इसके मिथ्यात्व गुणस्थानमें मिथ्यात्व, सूक्ष्मत्रय ये चार व्युच्छिन्न होती हैं । सासादनमें अनंतानुबंधी आदि १४, असंयतमें अप्रत्याख्यानादि ४४ तथा सयोग केवलीके ३६ प्रकृतियोंकी उदय व्युच्छित्ति जानना ॥ ३१२ ॥ ३१३ ॥

आगे वैक्रियिक काययोगमें उदयादिको दिखाते हैं;—

देवोघं वेगुव्वे ण सुराणू पक्खिवेज्ज णिरयाऊ ।
णिरयगदिहुंडसंढं दुग्गदि दुब्भगचओ णीचं ॥ ३१४ ॥

देवौघः वैगूर्वे न सुरानुः प्रक्षिप्य निरयायुः ।
निरयगतिहुण्डषण्ढं दुर्गतिः दुर्भगत्वारि नीचम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ—वैक्रियिक काययोगमें देवगतिवत् ७७ में देवानुपूर्वीके घटाने और नरकायु, नरकगति, हुण्डसंस्थान, नपुंसकवेद, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भगादि चार, नीच गोत्र ये १० मिलानेसे ८६ प्रकृतियां उदय योग्य हैं ॥ ३१४ ॥

आगे वैक्रियिकमिश्र काययोगमें उदय डेढ़ गाथासे कहते हैं;—

वेगुव्वं वा मिस्से ण मिस्स परघादसरविहायदुगं ।
साणे ण हुंडसंढं दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं ॥ ३१५ ॥
णिरयगदिआउणीचं ते खित्तयदेऽवणिज्ज थीवेदं ।
छट्ठगुणं वाहारे ण थीणतियसंढथीवेदं ॥ ३१६ ॥ जुम्मं ।

वैगूर्वं वा मिश्रे न मिश्रं परघातस्वरविहायोद्विकम् ।
साने न हुण्डषण्ढं दुर्भगानादेयमयशस्कम् ॥ ३१५ ॥
निरयगतिआयुर्नीचं ताः क्षिपायतेऽपनीय स्त्रीवेदम् ।
षष्ठगुणं वाऽहारे न स्त्यानत्रयषण्ढस्त्रीवेदम् ॥ ३१६ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—वैक्रियिकमिश्रयोगमें वैक्रियिककी ८६ प्रकृतियोंमेंसे मिश्रमोहनोय, परघात–स्वरविहायोगति इनका जोड़ा, ये प्रकृतियां उदयरूप नहीं हैं, इसकारण ७९ उदय योग्य जानना। उनमें भी सासादन गुणस्थानमें हुण्डसंस्थान, नपुंसकवेद, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति, नरकगति, नरकायु, नीचगोत्र–इनका उदय नहीं है। क्योंकि सासादन गुणस्थानवाला मरकर नरकको नहीं जाता। किन्तु असंयतमें इन प्रकृतियोंका उदय रहता है। सासादनमें स्त्रीवेद, और अनंतानुबंधी चार इन पांचकी व्युच्छित्ति है। असंयतमें अप्रत्याख्यान कषाय ४, वैक्रियिक २, देवगति नरकगति देवायु नरकायु और दुर्भगादि ३, ऐसे १३ प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है॥

आहारक काययोगमें, छठे गुणस्थानकी ८१ प्रकृतियोंमेंसे स्त्यानगृद्धि आदि ३, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद ॥ ३१५ ॥ ३१६ ॥ और:—

दुग्गदिदुस्सरसंहदि ओरालदु चरिमपंचसंठाणं ।
ते तम्मिस्से सुस्सर परघाददुसत्थगदि होणा ॥ ३१७ ॥

दुर्गतिदुःस्वरसंहतिः औरालद्वे चरमपञ्चसंस्थानम् ।
ताः तन्मिश्रे सुस्वरं परघातद्विशस्तगतिः हीनाः ॥ ३१७ ॥

अर्थ—अप्रशस्तविहायोगति, दुःस्वर, संस्थान ६, औदारिक शरीर दो; अन्तके पांच संस्थान, इन २० प्रकृतियोंका उदय नहीं है। और आहारकमिश्र काययोगमें इन ६१ मेंसे सुस्वर, परघातादि दो, प्रशस्तविहायोगति, इन चारको घटानेसे उदय योग्य ५७ हैं, ऐसा जानना ॥ ३१७ ॥

आगे कार्माणकाययोगमें उदयादिको दो गाथाओंसे कहते हैं;—

ओघं कम्मे सरगदिपत्तेयाहारुरालदुग मिस्सं ।
उवघादपणविगुव्वदुथीणतिसंठाणसंहदी णत्थि ॥ ३१८ ॥

ओघः कर्मणि स्वरगतिप्रत्येकाहारौराळद्विकं मिश्रम् ।
उपघातपञ्चवैगूर्वद्विस्त्यानत्रिसंस्थानसंहतिर्नास्ति ॥ ३१८ ॥

अर्थ—कार्मणकाययोगमें सामान्यगुणस्थानकी १२२ प्रकृतियोंमेंसे स्वर-विहायोगति-प्रत्येक-आहारकशरीर-औदारिकशरीर इन सबका युगल (जोड़ा), मिश्रमोहनीय, उपघातादि पांच, वैक्रियिकका जोड़ा, स्त्यानगृद्धि आदि तीन, संस्थान ६, संहनन ६ ये सब नहीं होनेसे उदय योग्य ८९ प्रकृतियां हैं ॥ ३१८ ॥

साणे थीवेदछिदी णिरयदुणिरयाउगं ण तियदसयं ।
इगिवण्णं पणवीसं मिच्छादिसु चउसु वोच्छेदो ॥ ३१९ ॥
साने[1] स्त्रीवेदछित्तिः निरयद्विनिरयायुष्कं न त्रिकदशकम् ।
एकपञ्चाशव् पञ्चविंशतिः मिथ्यादिषु चतुर्षु व्युच्छेदः ॥ ३१९ ॥

अर्थ—उसमें भी सासादन गुणस्थानमें स्त्रीवेदकी व्युच्छित्ति होती है। और नरकगत्यादि २,नरकायु इन तीनका उदय नहीं होता। तथा मिथ्यात्वादि (मिथ्यात्व १ सासादन २ असंयत ३ सयोगकेवली ४) चार गुणस्थानोंमें क्रमसे ३, १०, ५१, २५, इतनी प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है ॥ ३१९ ॥

अब वेदमार्गणामें उदयादिको कहते हैं;—

मूलोघं पुंवेदे थावरचउणिरयजुगलतित्थयरं ।
इगिविगलं थीसंढं तावं णिरयाउगं णत्थि ॥ ३२० ॥
मूलौघः पुंवेदे स्थावरचतुर्निरययुगलतीर्थंकरम् ।
एकविकलं स्त्रीषण्ढमातपं निरयायुष्कं नास्ति ॥ ३२० ॥

अर्थ—पुरुषवेदमें मूलवत् १२२ प्रकृतियोंमेंसे स्थावर आदि चार, नरकगतिद्विक, तीर्थंकर प्रकृति, एकेन्द्रिय, विकल तीन, स्त्रीवेद, नपुन्सकवेद, आतप प्रकृति, नरकायु ये १५ नहीं हैं। इसकारण उदय योग्य १०७ प्रकृतियाँ हुईं ॥ ३२० ॥

आगे स्त्रीवेद और नपुन्सक वेदमें उदयादि दिखाते हैं;—

इत्थीवेदेवि तहा हारदुपुरिसूणमित्थिसंजुत्तं ।
ओघं संढे ण हि सुरहारदुथीपुंसुराउतित्थयरं ॥ ३२१ ॥
स्त्रीवेदेपि तथाऽऽहारद्विपुरुषोनं स्त्रीसंयुक्तम् ।
ओघः पण्ढे न हि सुराहारद्विस्त्रीपुंसुरायुस्तीर्थंकरम् ॥ ३२१ ॥

अर्थ—स्त्रीवेदमें भी उसीप्रकार १०७ प्रकृतियोंमें आहारक शरीर युगल, पुरुषवेद ये तीन कम करके तथा स्त्रीवेद मिलाके १०५ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं। नपुन्सकवेदमें सामान्यवत् १२२ मेंसे देवगति युगल, आहारकद्विक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, देवायु और तीर्थंकर प्रकृति इन ८ के सिवाय ११४ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं ॥ ३२१ ॥

अब कषायमार्गणामें कहते हैं;—

तित्थयरमाणमायालोहचउक्कूणमोघमिह कोहे ।
अणरहिदे णिगिविगलं तावऽणकोहाणुथावरचउक्कं ॥ ३२२ ॥

---

१. 'सान' शब्दसे सासादन लेना, क्योंकि अन अर्थात् अनन्तानुबंधी कषायके उदयके स-अर्थात् साथही रहे उसको सान कहते। उपशम सम्यक्त्वसे गिर जानेपर और मिथ्यात्वमें न पहुंचनेतक जीव अनंतानुबंधीके उदयके साथही रहता है। जीवकांडमें इस शब्दका खुलासा कर चुके हैं।

तीर्थंकरमानमायालोभचतुष्कोनमोघ इह क्रोधे ।
अनरहिते नैकविकलमातापानक्रोधानुस्थावरचतुष्कम् ॥ ३२२ ॥

अर्थ—क्रोध कषायमार्गणामें सामान्य १२२ मेंसे तीर्थंकर प्रकृति १, तथा चार तरहके क्रोधको छोड़ बाकी मानमायालोभचतुष्क (तीन चोकड़ीं) संबंधी १२ कषाय-इन १३ के विना १०९ प्रकृतियां उदय योग्य हैं। तथा अनंतानुबंधी रहित क्रोधमें एकेन्द्री, विकल तीन, आतप, अनंतानुबंधी क्रोध, आनुपूर्वी ४, स्थावर आदि ४, इस प्रकार १०९ मेंसे १४ प्रकृतियोंके सिवाय तथा अनंतानुबंधी मानादि ३ और मिथ्यात्व इन चारको और मिलाकर कुल १८ को छोड़कर उदय योग्य ९१ प्रकृतियां हैं ॥ ३२२ ॥

एवं माणादितिए मदिसुदअण्णाणगे दु सगुणोघं ।
वेभंगेवि ण ताविगिविगलिंदी थावराणुचऊ ॥ ३२३ ॥

एवं मानादित्रये मतिश्रुताज्ञानके तु स्वगुणौघः ।
वैभङ्गेपि नातापैकविकलेन्द्रियं स्थावरानुचत्वारि ॥ ३२३ ॥

अर्थ—इसीप्रकार मानादि तीन कषायोंमें भी अपनेसे अन्य १२ कषाय तथा तीर्थंकर प्रकृति, इन १३ के न होनेसे १०९ एकसौ नौ सब जगह उदय योग्य समझना। तथा ज्ञानमार्गणामेंसे कुमति और कुश्रुतज्ञानमें सामान्य गुणस्थानवत् १२२ मेंसे आहारकादि ५ के सिवाय ११७ प्रकृतियां उदय योग्य हैं। विभंग (कुअवधि) ज्ञानमें भी इन ११७ मेंसे आताप, एकेन्द्री, विकलेन्द्री ३, स्थावरादि चार, आनुपूर्वी ४ सब मिलकर १३ प्रकृतियां उदय न होनेके कारण १०४ प्रकृतियां उदय होने योग्य हैं ॥ ३२३ ॥

सण्णाणपंचयादी दंसणमग्गणपदोत्ति सगुणोघं ।
मणपज्जवपरिहारे णवरि ण संढित्थ हारदुगं ॥ ३२४ ॥

सद्ज्ञानपञ्चकादि दर्शनमार्गणापदमिति स्वगुणौघः ।
मनःपर्ययपरिहारे नवरि न षण्ढस्त्री आहारद्वयम् ॥ ३२४ ॥

अर्थ—पांच सम्यग्ज्ञानसे लेकर दर्शन मार्गणास्थानपर्यंत अपने अपने गुणस्थान सरीखी रचना समझना। लेकिन मनःपर्ययज्ञानको छोड़ देना। क्योंकि इसमें विशेषता यह है कि नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और आहारकका जोड़ा ये चार उदय योग्य नहीं हैं ॥ ३२४ ॥

अब दूसरी मार्गणाओंमेंकी विशेषता दिखाते हैं;—

चक्खुम्मि ण साहारणताविगिबितिजाइ थावरं सुहुमं ।
किण्हदुगे सगुणोघं मिच्छे णिरयाणुवोच्छेदो ॥ २२५ ॥

चक्षुषि न साधारणातापैकद्वित्रिजातिः स्थावरं सूक्ष्मम् ।
कृष्णद्विके स्वगुणौघो मिथ्ये निरयानुव्युच्छेदः ॥ ३२५ ॥

अर्थ—दर्शनमार्गणाके चक्षुर्दर्शनमें १२२ मेंसे साधारण, आतप, एकेन्द्री, दो इन्द्री, तेइन्द्री जाति, स्थावर, सूक्ष्म, तीर्थंकर प्रकृति, इन ८ का उदय न होनेके कारण ११४ प्रकृतियां उदय योग्य हैं। और लेश्यामार्गणामें कृष्ण, नील इन दो लेश्याओंमें अपने अपने गुणस्थानवत् तीर्थंकरादि तीन प्रकृतियोंके सिवाय ११९ प्रकृतियां उदय योग्य हैं। लेकिन मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नरकगत्यानुपूर्वीकी भी व्युच्छित्ति समझना ॥ ३२५ ॥

साणे सुराउसुरगदिदेवतिरिक्खाणुवोच्छिदी एवं ।
काओदे अयदगुणे णिरयतिरिक्खाणुवोछेदो ॥ ३२६ ॥

सानने सुरायुःसुरगतिदेवतिर्यगानुव्युच्छित्तिरेवम् ।
कापोते अयतगुणे निरयतिर्यगानुव्युच्छेदः ॥ ३२६ ॥

अर्थ—सासादन गुणस्थानमें देवायु, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी इन चारकी व्युच्छित्ति जाननी। इसीप्रकार ११९ प्रकृतियाँ कपोत लेश्यामें भी हैं, परंतु असंयतगुणस्थानमें नरकगतिआनुपूर्वी और तिर्यंचगत्यानुपूर्वी इन दो प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति है ॥ ३२६ ॥

आगे तीन शुभलेश्याओंमें कहते हैं—

तेउतिये सगुणोघं णादाविगिविगलथावरचउक्कं ।
णिरयदुतदाउतिरियाणुगं णराणू ण मिच्छदुगे ॥ ३२७ ॥

तेजस्त्रये स्वगुणौघः नातापैकविकलस्थावरचतुष्कम् ।
निरयद्वितदायुस्तिर्यगानुकं नरानु न मिथ्यद्विके ॥ ३२७ ॥

अर्थ—तेजोलेश्यादि तीन शुभलेश्याओंमें अपने अपने गुणस्थानवत् १२२ मेंसे आतपादि दो, एकेन्द्री, विकलेन्द्री तीन, स्थावर आदि ४, नरकगत्यादि दो, नरकायु, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी इन १३ का उदय न होनेके कारण १०९ उदय योग्य हैं। उसमें भी मिथ्यादृष्टि आदि दो गुणस्थानोंमें मनुष्यगत्यानुपूर्वीका भी उदय नहीं है ॥ ३२७ ॥

अब भव्यमार्गणा और सम्यक्त्वमार्गणामें कहते हैं;—

भविदरुवसमवेदगखइये सगुणोघमुवसमे खयिये ।
ण हि सम्ममुवसमे पुण णादितियाणू य हारदुगं ॥ ३२८ ॥

भव्येतरोपशमवेदकक्षायिके स्वगुणौघ उपशमे क्षायिके ।
न हि सम्यगुपशमे पुनः नादित्रयानु चहारद्विकम् ॥ ३२८ ॥

अर्थ—भव्य, अभव्य, उपशमसम्यक्त्व, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व मार्गणाओंमें अपने अपने गुणस्थानके कथनकी तरह जानना। विशेष बात यह है कि उपशम सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्वमें सम्यक्त्वमोहनी प्रकृति उदययोग्य नहीं है। तथा

उपशम सम्यक्त्वमें आदिकी नरकगत्यानुपूर्वी आदि तीन आनुपूर्वी प्रकृतियां और आहारकका जोड़ा ये प्रकृतियां उदय योग्य नहीं हैं ॥ ३२८ ॥

किस तरहसे ? सो दो क्षेपक गाथाओंसे कहते हैं;—

मिस्साहारस्सयया खवगा चडमाणपढमपुव्वा य ।
पढमुवसमया तमतमगुणपडिवण्णा य ण मरंति ॥ १ ॥
अणसंजोगे मिच्छे मुहुत्तअंतोत्ति णत्थि मरणं तु ।
कदकरणिज्जं जाव दु सव्वपरट्ठाण अट्ठपदा ॥ २ ॥

मिश्राहाराश्रयकाः क्षपकाः चटमानप्रथमापूर्वाश्च ।
प्रथमोपशमकाः तमस्तमोगुणप्रतिपन्नाश्च न मरन्ति ॥ १ ॥
अनसंयोगे मिथ्ये मुहूर्तान्तरिति नास्ति मरणं तु ।
कृतकरणीयं यावत्तु सर्वपरस्थानानि अष्टपदानि ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

अर्थ[१]—निवृत्त्यपर्याप्तक अवस्थाका धारक १ आहारक मिश्रयोगका धारण करनेवाला २ क्षपक श्रेणीवाला ३ उपशमश्रेणी चढ़नेमें अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानके पहले भागवाला ४ और तमस्तमक नामकी सातवीं नरकभूमिमें सम्यक्त्वगुणसहित ५ प्रथमोपशमसम्यक्त्ववाला ६ इन अवस्थाओंवाले जीव मरते नहीं हैं । और अनन्तानुबंधी कषायको विसंयोजन (जुदा) करके अन्य कषायरूप परिणमानेवाला जो द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टी ७ वह यदि मिथ्यात्वगुणस्थानको प्राप्त हुआ हो तो उसका अंतर्मुहूर्ततक मरण नहीं होता । और दर्शनमोहके क्षय करनेवाले जीवके ८ जबतक कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टीपना है तबतक मरण नहीं होता है । इस प्रकार सब परस्थान आठ हुए । इनमें मरण नहीं है ॥ १ ॥ २ ॥

खाइयसम्मो देसो णर एव जदो तहिं ण तिरियाऊ ।
उज्जोवं तिरियगदी तेसिं अयदम्हि वोच्छेदो ॥ ३२९ ॥

क्षायिकसम्यग् देशो नर एव यतस्तस्मिन् न तिर्यगायुः ।
उद्योतः तिर्यग्गतिस्तेषामयते व्युच्छेदः ॥ ३२९ ॥

अर्थ—देशसंयत नामक पांचवें गुणस्थानमें रहनेवाला क्षायिक सम्यग्दृष्टी मनुष्य ही होता है, इसकारण उसके तिर्यंचआयु १ उद्योत २ और तिर्यंचगति ३ इन तीनोंका उदय नहीं है । इसीलिये इन तीनोंकी उदयव्युच्छित्ति असंयतगुणस्थानमें हो जाती है ॥ ३२९ ॥

सेसाणं सगुणोघं सण्णिस्सवि णत्थि तावसाहरणं ।
थावरसुहुमिगिविगलं असण्णिणोवि य ण मणुदुच्चं ॥ ३३० ॥

---

१ ये दो गाथायें क्षेपक हैं, प्रकरणवश यहां रक्खी गयी हैं ।

वेगुव्वछ पणसंहदिसंठाण सुगमण सुभगआउतियं ।
आहारे सगुणोघं णवरि ण सव्वाणुपुव्वीओ ॥ ३३१ ॥ जुम्मं ॥

शेषाणां स्वगुणौघः संज्ञिन अपि नास्ति आतपसाधारणम् ।
स्थावरसूक्ष्मैकविकलमसंज्ञिनोपि च न मनुद्विउच्चम् ॥ ३३० ॥
वैगूर्वषट्पञ्चसंहतिसंस्थानं सुगमनं सुभगायुस्त्रयम् ।
आहारे स्वगुणौघः नवरि न सर्वानुपूर्व्यः ॥ ३३१ ॥ युग्मम् ॥

अर्थ—शेष मिथ्यात्व १ सासादन २ मिश्रसम्यक्त्व ३ इन तीनोंमें अपने अपने गुणस्थानकी तरह उदयादि जानना । अर्थात् मिथ्यारुचिमें उदय योग्य ११७ प्रकृतियां हैं इत्यादि जानना चाहिये । और संज्ञीमार्गणामें संज्ञोके भी सामान्य १२२ मेंसे आतप, साधारण, स्थावर, सूक्ष्म, एकेन्द्री, विकलेन्द्री तीन, तथा पूर्वोक्त तीर्थंकर[1] प्रकृति इसप्रकार ९ प्रकृतियां उदय योग्य नहीं हैं । असंज्ञीके मनुष्यगति आदि दो, ऊंच गोत्र, वैक्रियिक शरीरादि छह, पहले पांच संहनन, आदिके पांच संस्थान, प्रशस्त विहायोगति, सुभगादि तीन, नरकादि आयु तीन-ये छव्वीस प्रकृतियाँ उदय योग्य नहीं हैं, इसकारण मिथ्यादृष्टिकी ११७ मेंसे २६ घटानेपर ९१ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं । और आहारमार्गणामें आहारक अवस्थामें सामान्य गुणस्थानवत् उदयादि समझना, परंतु सब (चारों) आनुपूर्वी प्रकृतियोंका उदय नहीं होता, इसकारण उदय योग्य ११८ प्रकृतियां हैं ॥ ३३० ॥ ३३१ ॥

आगे अनाहारअवस्थामें उदयादि कहते हुए उदयके प्रकरणको समाप्त करते हैं;—

कम्मे व अणाहारे पयडीणं उदयमेवमादेसे ।
कहियमिणं बलमाहवचंदच्चियणेमिचंदेण ॥ ३३२ ॥

कार्मे इवानाहारे प्रकृतीनामुदय एवमादेशे ।
कथितोऽयं बलमाधवचन्द्रार्चितनेमिचन्द्रेण ॥ ३३२ ॥

अर्थ—अनाहारक अवस्थामें कार्माण काययोगकी तरह ८९ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं । इसप्रकार मार्गणादि स्थानोंमें ये प्रकृतियोंका उदय बलभद्र और नारायण द्वारा पूजित ऐसे नेमिनाथतीर्थंकर देवने, अथवा अपने भाई बलदेव और माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव द्वारा पूजित ऐसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने कहा है, ऐसा जानना ॥ ३३२ ॥ इति **उदयप्रकरणम्** ॥

आगे प्रकृतियोंके सत्त्वका निरूपण करते हुए पहले गुणस्थानोंमें सत्त्व कहते हैं,—

तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए ।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि ॥ ३३३ ॥

---

१. केवली तीर्थंकरके भावमन नहीं है इस कारण उनको संज्ञी नहीं कह सकते । और तिर्यंचोंके [illegible] जगह असंज्ञीपना नहीं होता इससे असंज्ञी भी नहीं कह सकते हैं ।

तीर्थाहारा युगपत् सर्वं तीर्थं न मिथ्यकादित्रये ।
तत्सत्त्वकर्मकाणां तद्गुणस्थानं न संभवति ॥ ३३३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र इन तीनों गुणस्थानोंमेंसे क्रमसे पहलेमें तीर्थंकर और आहारकद्वय एककालमें नहीं होते, तथा दूसरेमें सब (तीनों) ही किसी कालमें नहीं होते, और मिश्रमें तीर्थंकर प्रकृति नहीं होती। अर्थात् मिथ्यात्वमें नानाजीवोंकी अपेक्षा सब-१४८ प्रकृतियोंकी सत्ता है। सासादनमें तीनोंहीके किसी कालमें न होनेसे १४५ की सत्ता है। और मिश्रगुणस्थानमें एक तीर्थंकर प्रकृतिके न होनेसे १४७ प्रकृतियोंकी सत्ता है। क्योंकि इन सत्त्वप्रकृतियोंवाले जीवोंके वे मिथ्यात्वादि गुणस्थानही संभव नहीं हैं। भावार्थ—जिनके तीर्थंकर और आहारकद्वयकी युगपत् सत्ता है वे मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकते, और तीनोंमेंसे किसी भी प्रकृतिकी सत्ता रखनेवाला सासादन गुणस्थानवाला नहीं हो सकता, तथा तीर्थंकरकी सत्तावाला मिश्र गुणस्थानवर्ती नहीं हो सकता ॥३३३॥

चत्तारिवि खेत्ताइं आउगबंधेण होइ सम्मत्तं ।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥ ३३४ ॥

चतुर्णामपि क्षेत्राणामायुष्कबन्धेन भवति सम्यक्त्वम् ।
अणुव्रतमहाव्रतानि न लभते देवायुष्कं मुक्त्वा ॥ ३३४ ॥

अर्थ—चारों ही गतियोंमें किसी भी आयुके बंध होनेपर सम्यक्त्व होता है, परन्तु देवायुके बंधके सिवाय अन्य तीन आयुके बन्धवाला अणुव्रत तथा महाव्रत नहीं धारण कर सकता है, क्योंकि वहां व्रतके कारणभूत विशुद्ध परिणाम नहीं हैं ॥ ३३४ ॥

णिरयतिरिक्खसुराउगसत्ते ण हि देससयलवदखवगा ।
अयदचउक्कं तु अणं अणियट्टीकरणचरिमम्हि ॥ ३३५ ॥
जुगवं संजोगित्ता पुणोवि अणियट्टिकरणबहुभागं ।
वोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवेदि कमे ॥३३६॥ जुम्मं ।

निरयतिर्यक्सुरायुष्कसत्त्वे न हि देशसकलव्रतक्षपकाः ।
अयतचतुष्कस्तु अनमनिवृत्तिकरणचरमे ॥ ३३५ ॥
युगपत् विसंयोज्य पुनरपि अनिवृत्तिकरणबहुभागम् ।
व्यतीत्य क्रमशो मिथ्यं मिश्रं सम्यक् क्षपयति क्रमेण ॥ ३३६ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—नरक, तिर्यंच तथा देवायुके सत्त्व होनेपर क्रमसे देशव्रत, सर्वव्रत (महाव्रत) और क्षपक श्रेणी नहीं होती। और असंयतादि चार गुणस्थानवाले अनंतानुबंधी आदि सात प्रकृतियोंका क्रमसे क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। उन सातोंमेंसे पहले अनंतानुबंधी चारका अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंके अंतर्मुहूर्त कालके अंतसमयमें एकही बार विसंयोजन अर्थात् अनंतानुबंधीकी चौकड़ीको

अप्रत्याख्यानादि बारह कषायरूप परिणमन करा देता है । तथा अनिवृत्तिकरणकालके बहुभागको छोड़के शेष संख्यातवें एक भागमें पहले समयसे लेकर क्रमसे मिथ्यात्व, मिश्र तथा सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय करते हैं। इसप्रकार सात प्रकृतियोंके क्षयका क्रम है। यहांपर तीन गुणस्थानोंका प्रकृतिसत्त्व पूर्वोक्त ही समझना । तथा असंयतसे लेकर सातवें गुणस्थानतक उपशम सम्यग्दृष्टि तथा क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि इन दोनोंके चौथे गुणस्थानमें अनंतानुबंधी आदिकी उपशमरूप सत्ता होनेसे १४८ प्रकृतियोंका सत्त्व है। पांचवें गुणस्थानमें नरकायु न होनेसे १४७ का, प्रमत्तगुणस्थानमें नरक तथा तिर्यंचायु इन दोनोंका सत्त्व न होनेसे १४६ का, तथा अप्रमत्तमें भी १४६ ही का सत्त्व है । और क्षायिक सम्यग्दृष्टीके अनंतानुबंधी चार तथा दर्शनमोहनीय ३ इन सात प्रकृतियोंके क्षय होनेसे सात सात कम समझना। और अपूर्वकरण गुणस्थानमें दो श्रेणी हैं । उनमेंसे क्षपकश्रेणीमें तो १३८ प्रकृतियोंका सत्त्व है। क्योंकि अनंतानुबंधी आदि ७ प्रकृतियोंका तो पहले ही क्षय किया था, और नरक, तिर्यंच तथा देवायु इन तीनोंकी सत्ता ही नहीं है। इस प्रकार ७+३=१० प्रकृतियां कम होती हैं ॥३३५॥३३६॥

अब अनिवृत्तिकरणनामक नवमें गुणस्थानादिकमें क्षययोग्य प्रकृतियोंका क्रम कहते हैं;—

सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदुसेक्कं बादरे अदो एक्कं ।
खीणे सोलसऽजोगे बायत्तरि तेरुवत्तंते ॥ ३३७ ॥

षोडशाष्टैकैकषट्कं चतुर्ष्वेकं बादरे अत एकम् ।
क्षीणे षोडशायोगे द्वासप्ततिस्त्रयोदश उपान्त्यान्त्ययोः ॥ ३३७ ॥

अर्थ—बादर अर्थात् अनिवृत्तिकरणके ९ भागोंमेंसे पांच भागोंमें क्रमसे १६, ८, १, १, ६, प्रकृतियां उपशाम करती हैं,- अर्थात् क्षय अथवा सत्तासे व्युच्छिन्न होती है। तथा चार भागोंमें एक एक ही की सत्तासे व्युच्छित्ति है । इसके बाद सूक्ष्म सांपरायनामा दशवें गुणस्थानमें एकही की व्युच्छित्ति है। ग्यारहवेंमें योग्यताही नहीं । बारहवें क्षीणकषायगुणस्थानके अन्तसमयमें १६ प्रकृतियोंकी सत्त्वसे व्युच्छित्ति होती है । सयोगीमें किसीभी प्रकृतिको व्युच्छित्ति नहीं है । अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थानके अन्तके दो समयोंमेंसे पहले समयमें ७२ की तथा दूसरे समयमें १३ प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है ॥ ३३७ ॥

आगे उन १६ आदि प्रकृतियोंके नाम गिनाते हैं, जिनकी कि गुणस्थानोंमें व्युच्छित्ति कही है;—

णिरयतिरिक्खदु वियलंथीणतिगुज्जोवतावएइंदी ।
साहरणसुहुमथावर सोलं मज्झिमकसायट्ठं ॥ ३३८ ॥
संढित्थि छक्कसाया पुरिसो कोहो य माण मायं च ।
थूले सुहुमे लोहो उदयं वा होदि खीणम्हि ॥ ३३९ ॥जुम्मं ।

निरयतिर्यग्द्वि विकलस्त्यानत्रिकमुद्योतातपैकेन्द्रियम् ।
साधारणसूक्ष्मस्थावरं षोडश मध्यमकषायाष्टौ ॥ ३३८ ॥

षण्डस्त्री षट्कषायाः पुरुषः क्रोधश्च मानं माया च ।
स्थूले सूक्ष्मे लोभ उदयो वा भवति क्षीणे ॥ ३३९ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—अनिवृत्तिकरणके पहले भागकी नरकगति आदि २, तिर्यंचगति आदि २, विकलेंद्री तीन, स्त्यानगृद्धि आदि तीन, उद्योत, आतप, एकेन्द्री, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर—ये १६ व्युच्छिन्न प्रकृतियां हैं। दूसरे भागको अप्रत्याख्यान चार तथा प्रत्याख्यान चार कषाय मिलकर आठ प्रकृतियां हैं। तीसरे भागको नपुन्सकवेद, चौथे भागको स्त्रीवेद, पांचवेंकी हास्यादि ६ नोकषाय; और छठे, सातवें, आठवें, नवमें भागमें क्रमसे पुरुषवेद, संज्वलनक्रोध, मान, तथा माया है। इसप्रकार स्थूल अर्थात् बादरकषाय—नवमे गुणस्थानमें ३६ प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं। और सूक्ष्मकषायनामा दशवेंकी लोभसंज्वलन प्रकृति है। तथा क्षीणकषायनामा बारहवेंकी उदयकी तरह ज्ञानावरण ५ दर्शनावरण ४ अन्तराय ५ और निद्रा १ प्रचला १ इसप्रकार १६ प्रकृतियां हैं ॥ ३३८ ॥ ३३९ ॥

अब अयोगीकी व्युच्छिन्न प्रकृतियोंको कहते हैं;—

देहादीफस्संता थिरसुहसरसुरविहायदुग दुभगं ।
णिमिणाजसऽणादेज्जं पत्तेयापुण्ण अगुरुचऊ ॥ ३४० ॥
अणुदयतदियं णीचमजोगिदुचरिमम्मि सत्तवोच्छिण्णा ।
उदयगबार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा ।३४१॥जुम्मं ।

देहादिस्पर्शान्ताः स्थिरशुभस्वरसुरविहायोद्विकं दुर्भगम् ।
निर्माणायशअनादेयं प्रत्येकापूर्णमगुरुचत्वारि ॥ ३४० ॥
अनुदयतृतीयं नीचमयोगिद्विचरिमे सत्त्वव्युच्छिन्नाः ।
उदयगद्वादश नरानुः त्रयोदश चरमे व्युच्छिन्नाः ॥ ३४१ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—पांच शरीरसे लेकर आठ स्पर्शतक ५०, स्थिर-शुभ-स्वर-देवगति-विहायोगति इनका इनका जोड़ा, दुर्भग, निर्माण, अयशस्कीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघुआदि ४, तीसरे वेदनीयकर्मकी दोनोंमेंसे अनुदयरूप १, नीचगोत्र—ये ७२ प्रकृतियां अयोगकेवलीके अन्तके समीपके दूसरे—उपान्त्य समयमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती हैं। तथा जिनका उदय अयोगी गुणस्थानमें है ऐसी उदयगत १२ प्रकृतियां और एक मनुष्यगत्यानुपूर्वी इसप्रकार १३ प्रकृतियां अयोगीके अन्तके समयमें अपनी सत्तासे छूटती हैं ॥ ३४० ॥ ३४१ ॥

अब सत्त्व और असत्त्व प्रकृतियोंकी संख्या गुणस्थानोंमें क्रमसे दिखाते हैं;—

अब गत्यादि मार्गणाओंमें सत्त्वको दिखानेके लिये परिभाषा (नियम) सूत्र कहते हैं;—

तिरिए ण तित्थसत्तं णिरयादिसु तिय चउक्क चउ तिण्णि ।
आऊणि होंति सत्ता सेसं ओघादु जाणेज्जो ॥ ३४५ ॥

तिरश्चि न तीर्थसत्त्वं निरयादिषु त्रीणि चतुष्कं चत्वारि त्रीणि ।
आयूंषि भवन्ति सत्ताः शेषमोघात् ज्ञातव्यम् ॥ ३४५ ॥

अर्थ—तिर्यंचगतिमें तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता नहीं होती । और नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगतिमें क्रमसे भुज्यमान नरकायु–बध्यमान तिर्यंच और मनुष्यायु इन ३ आयुओंकी, भुज्यमान तिर्यंचायु-बध्यमान-नरक–तिर्यग्-मनुष्य–देवायु इन ४ की, भुज्यमान मनुष्यायु–बध्यमान नरक–तिर्यंच-मनुष्य–देव आयु इन चारों आयुकर्मोंकी, भुज्यमान देवायु–बध्यमान तिर्यंच और मनुष्यायु- इन ३ आयुकर्मोंकी सत्ता रहने योग्य है । और शेष प्रकृतियोंकी सत्ता गुणस्थानकी तरह समझना ॥ ३४५ ॥

अब उनमें भी नरकादि गतिमें सत्ता दिखाते हैं;—

ओघं वा णेरइये ण सुराऊ तित्थमत्थि तदियोत्ति ।
छट्ठित्ति मणुस्साऊ तिरिए ओघं ण तित्थयरं ॥ ३४६ ॥

ओघ इव नैरयिके न सुरायुः तीर्थमस्ति तृतीय इति ।
षष्ठ इति मनुष्यायुः तिरश्चि ओघो न तीर्थंकरम् ॥ ३४६ ॥

अर्थ—नरकगतिमें गुणस्थानवत् सत्ता जानना । परन्तु देवायुका सत्त्व नहीं है; इसकारण १४७ प्रकृतियां सत्त्व योग्य हैं । और तीसरे नरक तक ही तीर्थंकर प्रकृतिका सत्त्व है, तथा मनुष्यायुका सत्त्व छठी नरकपृथिवीतक ही है । तिर्यंचगतिमें भी गुणस्थानवत् जानना । लेकिन तीर्थंकर प्रकृतिका सत्त्व नहीं है, इसकारण सत्त्व योग्य १४७ प्रकृतियां हैं ॥ ३४६ ॥

एवं पंचतिरिक्खे पुण्णिदरे णत्थि णिरयदेवाऊ ।
ओघं मणुसतियेसुवि अपुण्णगे पुण अपुण्णेव ॥ ३४७ ॥

एवं पञ्चतिरश्चि पूर्णेतरस्मिन् नास्ति निरयदेवायुः ।
ओघः मनुष्यत्रयेष्वपि अपूर्णके पुनरपूर्णे इव ॥ ३४७ ॥

अर्थ—इसीप्रकार पाँच जातिके तिर्यंचोंमें भी सामान्यरीतिसे सत्त्व जानना । परन्तु विशेष बात यह है कि लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंचमें नरकायु और देवायु-इन दोका सत्त्व नहीं है । और मनुष्यके तीन भेदोंमें भी गुणस्थानवत् सत्त्व समझना । परन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यमें लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंचकी तरह नरकायु देवायु तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियोंके विना १४५ प्रकृतियां सत्तायोग्य हैं ॥ ३४७ ॥

अब देवगतिमें कहते हैं;—

ओघं देवे ण हि णिरयाऊ सारोत्ति होदि तिरियाऊ ।
भवणतियकप्पवासियइत्थीसु ण तित्थयरसत्तं ॥ ३४८ ॥

ओघः देवे न हि निरयायुः सार इति भवति तिर्यगायुः ।
भवनत्रयकल्पवासिकस्त्रीषु न तीर्थकरसत्त्वं ॥ ३४८ ॥

अर्थ—देवगतिमें सामान्यवत् जानना । परन्तु नरकायु नहीं है, इसकारण १४७ सत्व प्रकृतियां हैं । और सहस्रार नामा बारहवें स्वर्गतक ही तिर्यंच आयुकी सत्ता है, आगे नहीं । भवनत्रिक (भवनवासी १ व्यंतर २ ज्योतिषी ३) देवोंमें तथा कल्पवासिनी स्त्रियोंमें तीर्थंकर प्रकृतिका सत्त्व नहीं है ॥ ३४८ ॥

आगे इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणामें सत्त्वादि कहते हैं;—

ओघं पंचक्खतसे सेसिंदियकायगे अपुण्णं वा ।
तेउदुगे ण णराऊ सव्वत्थुव्वेल्लणावि हवे ॥ ३४९ ॥

ओघः पञ्चाक्षत्रसे शेषेन्द्रियकायके अपूर्णं वा ।
तेजोद्विके न नरायुः सर्वत्रोद्वेल्लनापि भवेत् ॥ ३४९ ॥

अर्थ—पंचेन्द्री और त्रसकायमें सामान्य गुणस्थानकी तरह १४८ सत्त्व प्रकृतियां हैं । और शेष एकेन्द्री आदि चतुरिन्द्रियतकमें तथा पृथिवी आदि स्थावरकायमें लब्ध्यपर्याप्तककी तरह १४५ प्रकृतियोंकी सत्ता जानना । परन्तु तेजःकाय और वायुकायमें मनुष्यायुका सत्त्व नहीं है; इसकारण इन दोनोंमें १४४ की ही सत्ता समझना । तथा सब जगह अर्थात् इन्द्रिय और कायमार्गणामें प्रकृतियोंकी उद्वेलना भी होती है । जैसे जेवड़ीके वटनेमें जो बल दिया था पीछे उलटा घुमानेसे वह बल (टेढ़ापन) निकाल दिया । इसीप्रकार जिस प्रकृतिका बंध किया था पीछे परिणामविशेषसे उसको अन्य प्रकृतिरूप परिणमाके उसका नाश कर दिया, अर्थात् फल उदयमें नहीं आने दिया, पहलेही नाश कर दिया उसे उद्वेलन कहते हैं ॥ ३४९ ॥

वे उद्वेलन प्रकृतियां कौनसी हैं ? उन्हींको दिखाते हैं;—

हारदु सम्मं मिस्सं सुरदुग णारयचउक्कमणुक्कमसो ।
उच्चागोदं मणुदुगमुव्वेल्लिज्जंति जीवेहिं ॥ ३५० ॥

आहारद्वि सम्यक् मिश्रं सुरद्विकं नारकचतुष्कमनुक्रमशः ।
उच्चैर्गोत्रं मनुद्विकमुद्वेल्यन्ते जीवैः ॥ ३५० ॥

अर्थ—आहारकद्विक, सम्यक्त्वप्रकृति, मिश्रमोहनी, देवगतिका युगल, नरकगति आदि चार, ऊंच गोत्र, और मनुष्यगतिका जोड़ा—ये १३ प्रकृतियां क्रमसे जीवोंकर उद्वेलन की जाती हैं ॥ ३५० ॥

आगे कौन कौन जीव किस किस प्रकृतिकी उद्वेलना करता है ? इसका उत्तर आचार्य महाराज देते हैं;—

चदुगदिमिच्छे चउरो इगिविगले छप्पि तिण्णि तेउदुगे ।
सिय अत्थि णत्थि सत्तं सपदे उप्पणठाणेवि ॥ ३५१ ॥

चतुर्गतिमिथ्ये चतस्रः एकविकले षडपि तिस्रः तेजोद्विके ।
स्यादस्ति नास्ति सत्त्वं स्वपदे उत्पन्नस्थानेपि ॥ ३५१ ॥

अर्थ—चारों गतिवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंके चार प्रकृतियां, एकेंद्री तथा दो इन्द्री आदि विकलत्रयमें ६ प्रकृतियां, तेजःकाय-वायुकाय इन दोनोंके तीन प्रकृतियां उद्वेलनके योग्य हैं। तथा अपने स्थानमें और उत्पन्न स्थानमें ये किसी तरह-कथंचित् सत्त्वरूप हैं, और कथंचित्-किसी तरह सत्त्वरूप नहीं भी हैं । अर्थात् जो उद्वेलना न हुई हो तब तो सत्त्व, यदि उद्वलना हुई हो तो उन प्रकृतियोंकी असत्ता जानना ॥ ३५१ ॥

आगे योगमार्गणामें सत्त्व दिखाते हैं;—

पुण्णेकारसजोगे साहारयमिस्सगेवि सगुणोघं ।
वेगुव्वियमिस्सेवि य णवरि ण माणुसतिरिक्खाऊ ॥ ३५२ ॥

पूर्णैकादशयोगे साहारकमिश्रकेपि स्वगुणौघः ।
वैगूर्विकमिश्रेपि च नवरि न मानुपतिर्यगायुः ॥ ३५२ ॥

अर्थ—मनोयोगादि ११ पूर्ण योगोंमें और आहारकमिश्र योगमें अपने अपने गुणस्थानोंकी तरह सत्त्व प्रकृतियां जानना । इसीप्रकार वैक्रियिक मिश्र योगमें भी गुणस्थानवत् ही सत्त्व जानना। परन्तु विशेष बात यह है कि यहांपर मनुष्यायु और तिर्यंचायु इनकी सत्ता नहीं है, इसकारण १४६ सत्त्व प्रकृतियां हैं ॥ ३५२ ॥

अब औदारिकमिश्रयोगमें और कार्मणकाययोगमें सत्त्व कहते हैं;—

ओरालमिस्सजोगे ओघं सुरणिरयआउगं णत्थि ।
तम्मिस्सवामगे ण हि तित्थं कम्मेवि सगुणोघं ॥ ३५३ ॥

औरालमिश्रयोगे ओघः सुरनिरयायुष्कं नास्ति ।
तन्मिश्रवामके न हि तीर्थं कार्मेपि स्वगुणौघः ॥ ३५३ ॥

अर्थ—औदारिकमिश्रयोगमें सामान्य गुणस्थानवत् सत्त्व जानना । परन्तु देवायु तथा नरकायु ये दो नहीं हैं, इस कारण १४६ का सत्त्व है । औदारिकमिश्रमिथ्यादृष्टिके तीर्थंकर प्रकृति नहीं, इसलिये पहले गुणस्थानमें १४५ का सत्त्व है । इसीप्रकार कार्मणकाययोगमें भी गुणस्थानवत् १४८ प्रकृतियोंका सत्त्व समझना ॥ ३५३ ॥

आगे वेदमार्गणा आदिकमें सत्त्व कहते हैं;—

वेदादाहारोत्ति य सगुणोघं णवरि संढथीखवघे ।
किण्हदुगसुहतिलेस्सियवामेवि ण तित्थयरसत्तं ॥ ३५४ ॥

वेदादाहार इति च स्वगुणौघः नवरि पण्डस्त्रीक्षपके ।
कृष्णद्विकशुभत्रिलेश्यिकवामेपि न तीर्थंकरसत्त्वम् ॥ ३५४ ॥

अर्थ—वेदमार्गणासे लेकर आहारमार्गणापर्यंत अपने अपने गुणस्थानवत् सामान्य सत्त्व जानना । परन्तु विशेषता यह है नपुंसकवेद और स्त्रीवेद क्षपकश्रेणीवालेके तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता नहीं है । इसीप्रकार कृष्णलेश्या तथा नीललेश्या इन दो लेश्यावाले मिथ्यादृष्टिके, और पीतादि तीन शुभलेश्यावाले मिथ्यादृष्टिके भी तीर्थंकर प्रकृतिका सत्त्व नहीं है ॥ ३५४ ॥

अब अभव्यमार्गणामें विशेषता कहते हैं;—

अभव्वसिद्धे णत्थि हु सत्तं तित्थयरसम्ममिस्साणं ।
आहारचउक्कस्सवि असण्णिजीवे ण तित्थयरं ॥ ३५५ ॥

अभव्यसिद्धे नास्ति हि सत्त्वं तीर्थंकरसम्यग्मिश्राणाम् ।
आहारचतुष्कस्यापि असंज्ञिजीवे न तीर्थंकरम् ॥ ३५५ ॥

अर्थ—अभव्यमार्गणामें अर्थात् अभव्यजीवके तीर्थंकरप्रकृति, सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्रमोहनीय इन तीनका, तथा आहारक चतुष्कका अर्थात् आहारक शरीर १ आहारक आंगोपांग २ आहारक बंधन ३ आहारक संघात ४ इन चारका—इस प्रकार सात प्रकृतियोंका सत्त्व नहीं है । और असंज्ञी जीवके तीर्थंकरप्रकृतिका सत्त्व नहीं है ॥ ३५५ ॥

आगे अनाहार मार्गणामें सत्त्वकी विशेषता कहते हुए आचार्य महाराज सत्त्वाधिकारको पूर्ण करते हैं;—

कम्मेवाणाहारे पयडीणं सत्तमेवमादेसे ।
कहियमिणं बलमाहवचंदच्चियणेमिचंदेण ॥ ३५६ ॥

कार्मे इवानाहारे प्रकृतीनां सत्त्वमेवमादेशे ।
कथितमिदं बलमाधवचन्द्रार्चितनेमिचन्द्रेण ॥ ३५६ ॥

अर्थ—अनाहार मार्गणामें कार्माण काययोगवत् सत्त्वप्रकृतियोंकी रचना जानना । इस प्रकार मार्गणास्थानोंमें यह "प्रकृतियोंका सत्त्व" बलदेव-वासुदेवकर पूजित श्रीनेमिचन्द्र तीर्थंकरदेवने अथवा अपने भाई बलदेव तथा माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवकर पूजित नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने कहा है ॥ ३५६ ॥

अब इस बंध उदय सत्त्वाधिकारको पूर्ण करते हुए अन्तिम मङ्गलाचरण करते हैं;—

सो मे तिहुवणमहियो सिद्धो बुद्धो णिरंजणो णिच्चो ।
दिसदु वरणाणलाहं बुहजणपरिपत्थणं परमसुद्धं ॥ ३५७ ॥

स मे त्रिभुवनमहितः सिद्धो बुद्धो निरञ्जनो नित्यः ।
दिशतु वरज्ञानलाभं बुधजनपरिप्रार्थनं परमशुद्धम् ॥ ३५७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज प्रार्थना करते हैं कि जो तीनलोककर पूजित, सिद्ध, बुद्ध, कर्मरूपी अंजनकर रहित, और नित्य अर्थात् जन्ममरण रहित ऐसे श्रीनेमिचन्द्र तीर्थंकर, मुझको, ज्ञानीजनोंकर प्रार्थना करने योग्य, परमशुद्ध ऐसे उत्कृष्ट ज्ञानका लाभ दो। अर्थात् मुझे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हो ऐसी आचार्य प्रार्थना करते हैं ॥ १५७ ॥

इति आचार्य श्रीनेमिचन्द्रविरचित गोम्मटसार दूसरा नाम पंचसंग्रहग्रंथमें कर्मकांडमें बंधोदयसत्त्वके कहनेवाला दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ॥ २ ॥

आगे आचार्य महाराज मङ्गलाचरणपूर्वक प्रकृतियोंके भङ्गसहित सत्त्वस्थानको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

णमिऊण वड्ढमाणं कणयणिहं देवरायपरिपुज्जं ।
पयडीण सत्तठाणं ओघे भंगे समं वोच्छं ॥ ३५८ ॥

नत्वा वर्द्धमानं कनकनिभं देवराजपरिपूज्यम् ।
प्रकृतीनां सत्त्वस्थानमोघे भङ्गेन समं वक्ष्यामि ॥ ३५८ ॥

अर्थ—मैं ग्रन्थकर्ता सुवर्णके समान वर्णवाले, इन्द्रकर पूजनीक ऐसे श्रीवर्धमान तीर्थंकरदेवको नमस्कार करके गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंके भङ्गसहित सत्त्वस्थानको कहता हूं ॥ ३५८ ॥ एक जीवके एक कालमें जितनी प्रकृतियोंकी सत्ता पाई जाय उनके समूहका नाम **स्थान** है और उस स्थानकी एकसी-समान संख्यारूप प्रकृतियोंमें जो संख्या समानही रहे परन्तु प्रकृतियां बदल जांय तो उसे भङ्ग कहते हैं। जैसे किसी जीवके १४६ की सत्ता और किसीके १४५ प्रकृयोंकी सत्ता हो तो इस जगह पर स्थान दो हुए। परंतु उस एक स्थानकी संख्यामें जैसे कि १४५ के स्थानमें किसी जीवके तो मनुष्यायु तथा देवायु सहित १४५ की सत्ता है, तथा किसीके तिर्यंचायु और नरकायुकी सत्ता सहित १४५ की सत्ता है। अतएव यहां पर स्थान तो एक ही रहा; क्योंकि संख्या एक है, परंतु प्रकृतियों के बदलनेसे भङ्ग दो हुए। इसीप्रकार सब जगह स्थान और भङ्ग समझ लेना ॥

आगे गुणस्थानोंमें स्थान और भङ्गके कहनेका विधान दिखाते हैं;—

आउगबंधाबंधणभेदमकाऊण वण्णणं पढमं ।
भेदेण य भंगसमं परूवणं होदि बिदियम्हि ॥ ३५९ ॥

आयुष्कबन्धाबन्धनभेदमकृत्वा वर्णनं प्रथमम् ।
भेदेन च भङ्गसमं प्ररूपणं भवति द्वितीयस्मिन् ॥ ३५९ ॥

अर्थ—इस जगह प्रकृतियोंके सत्त्वस्थान और भंगोंका वर्णन दो तरहसे समझना। आयुके बंध और अबंधके भेदकी अपेक्षा नहीं करके पहला वर्णन, तथा आयुबंधके भेदसहित उसकी अपेक्षा रखके दूसरा वर्णन ॥ ३५९ ॥

अब इन दोनों पक्षोंमेंसे पहले सामान्यसे प्रथम पक्षके अनुसार सत्ताका विधान करते हैं :—

सव्वं तिगेग सव्वं चेगं छसु दोण्णि चउसु छद्दस य दुगे ।
छस्सगदालं दोसु तिसट्ठी परिहीण पडि सत्तं जाणे ॥ ३६० ॥

सर्वं त्रिकैकं सर्वं चैकं षट्सु द्वयं चतुर्षु षट् दश च द्विके ।
षट्सप्तचत्वारिंशत् द्वयोः त्रिषष्टिः परिहीनं प्रति सत्त्वं जानीहि ॥ ३६० ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानोंमेंसे क्रमसे पहलेमें सब—१४८ का, दूसरेमें तीन कमका, तीसरेमें एक कमका, चौथेमें सबका, पाँचवेमें एक कमका, प्रमत्तादि छह गुणस्थानोंमें दो कमका, उसमें भी उपशम श्रेणीकी अपेक्षा अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानोंमें छह कमका, क्षपकश्रेणीकी अपेक्षा अपूर्वकरणादि दो गुणस्थानोंमें दश कमका, सूक्ष्मसांपराय तथा क्षीणकषाय इन दोमें क्रमसे ४६ और ४७ कमका, सयोगकेवली अयोगकेवली इन दो गुणस्थानोंमें ६३ कमका अर्थात् ८५ प्रकृतियोंका सत्त्व जानना। और 'च" शब्दसे अयोगकेवलीके अंत समयमें १३५ विना १३ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है ॥ ३६० ॥

आगे जो प्रकृतियां हीन कीं गई हैं उनके नाम कहते हैं,—

सासणमिस्से देसे संजददुग सामगेसु णत्थी य ।
तित्थाहारं तित्थं णिरयाऊ णिरयतिरियआउअणं ॥ ३६१ ॥

सासादनमिश्रे देशे संयतद्विके शामकेषु नास्ति च ।
तीर्थाहारं तीर्थं निरयायुः निरयतिर्यगायुरनम् ॥ ३६१ ॥

अर्थ—सासादन गुणस्थानमें, मिश्रमें, देशसंयतमें, प्रमत्तसंयतादि दोमें, उपशमश्रेणीवाले गुणस्थानोंमें, क्रमसे तीर्थंकर १ आहारक शरीर २ आहारकांगोपांग ३ ये तीन, तीर्थंकर प्रकृति, नरकायु, नरक-तिर्यंचायु, नरकायु १ तिर्यंचायु २ अनंतानुबंधीकी चौकड़ी ये ६ प्रकृतियां, सत्त्व प्रकृतियोंमेंसे नहीं हैं। इसके आगे क्षपक श्रेणीमें 'दश यदुगे" इस गाथामें कहे मुजब हीन प्रकृतियां समझना ॥ ३६१ ॥

अब गुणस्थानोंमें आयुके बंध अबंधके भेदसहित विशेष कथन करते हुये पहले स्थान-संख्याको दो गाथाओंसे कहते हैं;—

विगुणणव चारि अट्ठं मिच्छतिये अयदचउसु चालीसं ।
तिय उवसमगे संते चउवीसा होंति पत्तेयं ॥ ३६२ ॥
चउछक्कदि चउअट्ठं चउछक्क य होंति सत्तठाणाणि ।
आउगबंधाबंधे अजोगिअंते तदो भंगा ॥ ३६३ ॥ जुम्मं ।

द्विगुणनव चत्वारि अष्ट मिथ्यत्रये अयतचतुर्षु चत्वारिंशत् ।
त्रीणि उपशामके शान्ते चतुर्विंशतिः भवन्ति प्रत्येकम् ॥ ३६२ ॥
चतुःषट्कृतिः चतुरष्ट चतुःषट्कं च भवन्ति सत्त्वस्थानानि ।
आयुष्कबन्धाबन्धे अयोग्यन्ते ततो भङ्गाः ॥ ३६३ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानपर्यंत क्रमसे दोगुणित नौ अर्थात् १८, ४ और ८ सत्त्वस्थान हैं। तथा असंयतादि चार गुणस्थानोंमें चालीस चालीस स्थान हैं। अपूर्वकरणादि तीन उपशमश्रेणीवाले गुणस्थानोंमें तथा उपशांतकषाय गुणस्थानमें प्रत्येक (हरएक) के चौवीस चौवीस स्थान हैं। और क्षपकश्रेणीकी अपेक्षा अपूर्वकरणआदि अयोगीपर्यंत क्रमसे ४ छहका वर्ग अर्थात् ३६, ४, ८, ४, ६ सत्त्वस्थान हैं। इसप्रकार आयुके बंध वा अबंधकी अपेक्षासे अयोगीपर्यंत गुणस्थानोंमें सत्त्वस्थान हैं॥ इसके आगे जो स्थानोंके भङ्ग (भेद) हैं सो आगेकी गाथामें कहते हैं॥ ३६२॥ ३६३॥

पण्णास बार छक्कदि वीससयं अट्ठदाल दुसु दालं ।
अडवीसा बासट्ठी अडचउवीसा य अट्ठ चउ अट्ठ ॥ ३६४ ॥

पञ्चाशत् द्वादश षट्कृतिः विंशशतं अष्टचत्वारिंशत् द्वयोः चत्वारिंशत् ।
अष्टाविंशतिः द्वाषष्टिः अष्टचतुर्विंशतिः च अष्ट चत्वारि अष्ट ॥ ३६४ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिआदि सात गुणस्थानोंमें तथा उपशमादि दोनों मिली हुई श्रेणियोंमें तथा उपशांतकषायादि गुणस्थानोंमें अठारहआदि स्थानोंके क्रमसे ५०, १२, ३६, १२०, ४८, ४०, ४०, २८, ६२, २८, २४, ८, ४, ८, भंग जानना ॥ ३६४ ॥

आगे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके १८ स्थानोंमें प्रकृतियोंकी संख्याको आयुके बंध वा अबंध की अपेक्षा से कहते हैं;—

दुतिछस्सत्तट्ठणवेक्करसं सत्तरसमूणवीसमिगिवीसं ।
हीणा सव्वे सत्ता मिच्छे बद्धाउगिदरमेगूणं ॥ ३६५ ॥

द्वित्रिषट्सप्ताष्टनवैकादश सप्तदशोनविंशमेकविंशम् ।
हीना सर्वा सत्ता मिथ्ये बद्धायुष्कमितरदेकोनम् ॥ ३६५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि बद्धायुवालेके सब सत्वप्रकृतियोंमेंसे २, ३, ६ ७, ८, ९, ११, १७, १९, २१ प्रकृतियां कम करनेसे १० स्थान हुए। तथा अबद्धायुवालेके आठ स्थानतक इनमेंसे एक एक कमती करना, और दो स्थान पहलेकी ही तरह समझना। इसप्रकार १० स्थान हुए। सब मिलकर २० स्थान होते हैं। उनमेंसे नवमां दशवां स्थान दोनोंका समान होनेसे २० मेंसे दो कम किये। इस तरह बाकी बचे १८ स्थान ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके कहे गये हैं॥ ३६५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिके स्थानोंकी कम की गई प्रकृतियां क्रमसे तिर्यंचायु १ देवायु २, भुज्यमान वध्यमान आयुसे रहित कोई भी दो आयु और तीर्थंकर प्रकृति ये तीन, देवायु तिर्यंचायु और आहारक की चौकड़ी ये छह, कोईभी दो आयु-आहारकचतुष्क—तीर्थंकर प्रकृति ये सात, इन सातमें सम्यक्त्व-प्रकृतिभी जोड़नेसे ८, मिश्रप्रकृतिभी जोड़नेसे ९, देवगतिका जोड़ा जोड़नेसे ११, नरकगतिआदि छह (नरकगति १ नरकगत्यानुपूर्वी २ वैक्रियिक शरीर ३ उसके आंगोपांग ४ उसीका बंधन ५ तथा संघात ६) ११ में मिलानेसे १७, और मनुष्यायु उच्चगोत्र ये दो भी मिलानेसे १९, तथा देवगति आदि दो और भी मिलानेसे २१ प्रकृतियां होती हैं ॥ ३६६ ॥ ३६७ ॥

इसप्रकार बद्धायुके ये १० स्थान कहे। अबद्धायुवालेके भुज्यमान (जिसको भोग रहा है) आयुकी ही सत्ता है। वध्यमान (बंध की गई आगामी) आयुकी सत्ता उसके नहीं है। इसकारण बद्धायुके १० स्थानोंमेंसे एक एक वध्यमान आयुके हीन हो जानेसे अबद्धायुकेभी दशस्थान जानना। परन्तु उनमेंसे दो बार एकसे कहेहुए दो स्थान घटाकर बाकी १८ स्थान मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें समझना। इन १८ स्थानोंके ५० भंगोंका विस्तार बड़ी टीकासे समझ लेना, विस्तरके भयसे यहां पर नहीं लिखा है।

अब मिथ्यादृष्टिके कोई कोई स्थानके भंग कहते हुए अबद्धायुके सातवें स्थानके चार भंग दो गाथाओंसे कहते हैं;—

> उव्वेल्लिददेवदुगे विदियपदे चारि भंगया एवं ।
> सपदे पढमो विदियं सो चेव णरेसु उप्पण्णो ॥ ३६८ ॥
> वेगुव्वअट्ठरहिदे पंचिंदियतिरियजादिसुववण्णे ।
> सुरछब्बंधे तदियो णरेसु तब्बंधणे तुरियो ॥ ३६९ ॥ जुम्मं ।

> उद्वेलितदेवद्विके द्वितीयपदे चत्वारो भङ्गा एवम् ।
> स्वपदे प्रथमो द्वितीयः स चैव नरेषु उत्पन्नः ॥ ३६८ ॥

वैगूर्वाष्टरहिते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्जातिपूपपन्ने ।
सुरषड्बन्धे तृतीयो नरेषु तद्बन्धने तुरीयः ॥ ३६९ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—बद्धायुके सातवें स्थानके बाद अबद्धायुका १३६ प्रकृतिरूप सातवां स्थान है । वहां जिसके देवगतिआदि दो प्रकृतियोंकी उद्वेलना हुई है उसके चार भंग हैं । वे इसतरहसे हैं—अपने स्थानमें अर्थात् एकेन्द्री वा विकलत्रय जीवके अपनी ही पर्यायमें १३६ प्रकृतिरूपस्थान होना पहला भंग है । तथा वही जीव मरणकरके मनुष्य उत्पन्न हुआ उस जगह दूसरा भंग है । जिसके वैक्रियिक शरीरादि आठकी उद्वेलना (अभाव) हुई ऐसा वही एकेन्द्री वा विकलत्रय जीव मरणकरके तिर्यंच पंचेन्द्री जातिमें उत्पन्न हुआ, और वहां देवगतिआदि छह प्रकृतियोंका बंध करनेपर भी आहारक चतुष्क आदि बारहके विना १३६ प्रकृतिरूप तीसरा भंग हुआ । वही जीव मरणकरके मनुष्य उत्पन्न हुआ । यहांपर देवगति आदि छह प्रकृतियोंका बंध करता है किंतु १२ के विना १३६ का ही बंध करता है, अतः उस जगह चौथा भंग हुआ । इसप्रकार चार भंग जानना ॥ ३६८ ॥ ३६९ ॥ यहांपर प्रकृतियोंके वदलनेसे भंग तो जुदे जुदे हुए, परन्तु संख्या एक होनेसे स्थान एक एक ही हुआ ॥

अब आठवें अवद्धायुस्थानके दो भंग कहते हैं;—

णारकछक्कुव्वेल्ले आउगबंधुज्झिदे दुभंगा हु ।
इगिविगलेसिगिभंगो तम्मि णरे बिदियमुप्पण्णे ॥ ३७० ॥

नारकषट्कोद्वेल्ये आयुर्वन्धोज्झिते द्विभङ्गौ हि ।
एकविकलेष्वेकभङ्गः तस्मिन्नरे द्वितीयमुत्पन्ने ॥ ३७० ॥

अर्थ—आठवें अबद्धायुस्थानमें आयुबंधके वदलनेसे दो भंग होते हैं । उनमेंसे नरकगति आदि ६ प्रकृतियोंकी उद्वेलना करनेवाले एकेन्द्री वा विकलेन्द्री जीवके अपनी ही पर्यायमें १३० प्रकृतिरूप स्थान होना पहला भंग है । तथा वही जीव मरणकर मनुष्य उत्पन्न हुआ वहां आयुके वदलनेसे १३० रूपस्थान होना दूसरा भंग है ॥ ३७० ॥

आगे अठारह स्थानोंके पुनरुक्त और समभंगके विना जो ५० भंग कहे हैं उनमेंसे किस किस स्थानमें कितने कितने भंग होते हैं उनकी संख्या कहते हैं;—

विदिये तुरिये पणगे छट्ठे पंचेव सेसगे एक्कं ।
विगचउपणछस्सत्तयठाणे चत्तारि अट्ठगे दोण्णि ॥ ३७१ ॥

द्वितीये चतुर्थे पञ्चमे षष्ठे पञ्चैव शेषके एकः ।
द्विकचतुःपञ्चषट्सप्तमस्थाने चत्वारः अष्टमे द्वौ ॥ ३७१ ॥

अर्थ—बद्धायुके दूसरे, चौथे, पांचवें, छठे, स्थानमें ५ पांच ही भंग होते हैं । और शेष पहले तीसरे, सातवें, आठवें, नवमे, दशवें स्थानमें एक एक ही भंग है । तथा अबद्धायुके दूसरे, चौथे

पांचवें छठे, सातवें स्थानमें चार चार भंग, और आठवें स्थानमें २ भंग हैं । और शेष बचे पहले, तीसरे स्थानमें एक एक भंग है । इसप्रकार मिथ्यादृष्टिमें अठारह सत्त्व स्थानोंके ५० भंग जानना ॥ ३७१ ॥

अब सासादनगुणस्थान तथा मिश्रगुणस्थान में स्थान और भंगोंकी संख्या चार गाथाओंसे कहते हैं;—

सत्ततिगं आसाणे मिस्से तिगसत्तसत्तएयारा ।
परिहीण सव्वसत्तं बद्धस्सियरस्स एगूणं ॥ ३७२ ॥

सप्तत्रिकमासाने मिश्रे त्रिकसप्तसप्तैकादश ।
परिहीनं सर्वसत्त्वं बद्धस्येतरस्यैकोनम् ॥ ३७२ ॥

अर्थ—सासादन गुणस्थानमें सब प्रकृतियों के सत्त्वमेंसे सात कम अथवा तीन कम ऐसें दो सत्त्वस्थान हैं । और मिश्रगुणस्थानमें सब सत्त्वप्रकृतियोंमेंसे तीन कम, सात कम, सात कम, ग्यारह कम ऐसे चार स्थान बद्धायुकी अपेक्षा जानना । और अबद्धायुकी अपेक्षा उनमेंसे भी एक एक बध्यमानआयु कम स्थान जानने । इसप्रकार ४ सासादनके और ८ मिश्रके स्थान हुए ॥ ३७२ ॥

आगे सासादनकी हीन प्रकृतियोंको कहते हैं;—

तित्थाहारचउक्कं अण्णदराउगदुगं च सत्तेदे ।
हारचउक्कं वज्जिय तिण्णि य केइं समुद्दिट्ठं ॥ ३७३ ॥

तीर्थाहारचतुष्कमन्यतरायुष्कद्विकं च सप्तैताः ।
आहारचतुष्कं वर्जयित्वा तिस्रश्च कैश्चित् समुद्दिष्टम् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीरकी चौकड़ी, भुज्यमान-बध्यमान आयुके सिवाय कोई भी दो आयु, ये सात प्रकृतियां हीन कहीं हैं । तथा इनमेंसे आहारक शरीरादि चार प्रकृतियोंको छोड़कर तीनही प्रकृतियां कम हैं ऐसा कोई आचार्य कहते हैं । इसलिये १४१ तथा १४५ प्रकृतिरूप दो स्थान हुए ॥ ३७३ ॥

अब मिश्रगुणस्थानकी हीनप्रकृतियोंको कहते हैं;—

तित्थण्णदराउदुगं तिण्णिवि अणसहिय तह य सत्तं च ।
हारचउक्के सहिया ते चेव य होंति एयारा ॥ ३७४ ॥

तीर्थान्यतरायुर्द्विकं तिस्र अपि अनसहिताः तथा च सत्त्वं च ।
आहारचतुष्केण सहितास्ताः चैव च भवन्ति एकादश ॥ ३७४ ॥

अर्थ—तीर्थंकर प्रकृति, भुज्यमान और बध्यमान आयुको छोड़कर कोईभी दो आयु, इस प्रकार तीन प्रकृतियां; तथा ये तीनों और अनंतानुबंधी चार प्रकृतियां इस तरह सात,

अथवा वे तीनों तथा आहारकादि चार-इसप्रकार सात, और ये सब मिलकर हुईं ११ प्रकृतियां इस तरहसे मिश्रगुणस्थानके चार स्थान हुए ॥ ३७४ ॥

आगे सासादन और मिश्रके स्थानोंके भंग गिनाते हैं;—

साणे पण इगि भंगा बद्धस्सियरस्स चारि दो चेव ।
मिस्से पणपण भंगा बद्धस्सियरस्स चउ चऊ णेया ॥ ३७५ ॥

साने पञ्च एको भङ्गा बद्धस्येतरस्य चत्वारो द्वौ चैव ।
मिश्रे पञ्चपञ्च भङ्गा बद्धस्येतरस्य चत्वारश्चत्वारो ज्ञेयाः ॥ ३७५ ॥

अर्थ—सासादन गुणस्थानमें बद्धायुस्थानोंके पांच और एक, तथा अबद्धायुस्थानोंके ४ और २ भंग हैं। इसतरह चारस्थानोंके १२ भंग जानना । मिश्रगुणस्थानमें बद्धायुस्थानके पांच पांच भंग और अबद्धायु स्थानके चार चार भंग हैं । इसप्रकार आठ स्थानों के ३६ भंग हुए ॥ ३७५ ॥

आगे असंयत गुणस्थानमें ४० स्थानोंकी सिद्धि और उनस्थानोंके १२० भंग छह गाथाओंसे कहते हैं;—

दुग छक्क सत्त अट्ठं णवरहियं तह य चउपंडि किच्चा ।
णभमिगि चउ पण हीणं बद्धस्सियरस्स एगूणं ॥ ३७६ ॥

द्विकं षट्कं सप्त अष्ट नवरहितं तथा च चतुःपङ्क्तीः कृत्वा ।
नभमेकं चतुष्कं पञ्च हीनं बद्धस्येतरस्यैकोनम् ॥ ३७६ ॥

अर्थ-दो, छह, सात, आठ, नौ प्रकृतियोंकर रहित स्थान बराबर लिखना, और इनकी नीचे नीचे चार पंक्ति करनी । उन चार पंक्तियोंमें (लाइनोंमें) क्रमसे शून्य, १, ४, और ५ हरएक कोठेमेंसे घटाना । इसप्रकार बद्धायुके २० सत्तास्थान हुए । और इन्हीं बीस स्थानोंमें एक एक स्थानकी प्रकृतियोंमें एक एक औरभी कम करनेसे अबद्धायुके स्थानभी २० हुए । इसप्रकार असंयत गुणस्थानमें ४० सत्त्व स्थान हुए ॥ ३७६ ॥

आगे चारों पंक्तियोंमें तीर्थंकरप्रकृति और आहारकशरीरप्रकृतिकी अपेक्षा ही विशेषता है ऐसा कहते हैं;—

तित्थाहारे सहियं तित्थूणं अह य हारचउहीणं ।
तित्थाहारचउक्केणूणं इति चउपडिट्ठाणं ॥ ३७७ ॥

तीर्थाहारेण सहितं तीर्थोनमथ चाहारचतुर्हीनम् ।
तीर्थाहारचतुष्केनोनमिति चतुःपङ्क्तिस्थानम् ॥ ३७७ ॥

अर्थ—बद्धायु और अबद्धायुकी पहली दो पंक्तियोंके पांच पांच स्थान तीर्थंकर और आहारक शरीरचतुष्क सहित हैं, इसलिये शून्य कम किया । अर्थात् यहां जितनी प्रकृतियोंकी योग्यता है

उतनी रहती हैं। दूसरी दो पंक्तियोंमें तीर्थंकर प्रकृति न होनेसे एक एक कमती की। तीसरी पंक्तिके पांच पांच स्थान आहारक चतुष्क रहित हैं इसकारण चार चार प्रकृतियां कम कीं। चौथी पंक्तिमें तीर्थंकर और आहारक चतुष्क ये पांच प्रकृतियाँ न होनेसे पाँच पांच प्रकृति कम कहीं हैं। इस प्रकार चार पंक्तियोंके स्थान जानना ॥ ३७७ ॥

आगे दो छहआदि जो प्रकृतियां घटाईं थी उनके नाम कहते हैं;—

अण्णदरआउसहिया तिरियाऊ ते च तह य अणसहिबा ।
मिच्छं मिस्सं सम्मं कमेण खविदे हवे ठाणा ॥ ३७८ ॥

अन्यतरायुःसहितं तिर्यगायुः ते च तथा च अनसहिते ।
मिथ्यं मिश्रं सम्यक्त्वं क्रमेण क्षपिते भवेत् स्थानम् ॥ ३७८ ॥

अर्थ—तिर्यंचायुसे भिन्न कोई एक आयु और तिर्यंचायु ये दोप्रकृतियां, ये दोनों तथा अनंतानुबंधी चार—इसप्रकार ६, मिथ्यात्व सहित ७, मिश्रमोहनीय सहित ८, सम्यक्त्व प्रकृति सहित ९, इन प्रकृतियोंको क्रमसे कम करनेपर स्थान होते हैं ॥ ३७८ ॥

आगे इन स्थानोंके भंग दो गाथाओंसे कहते हैं;—

आदिमपंचट्ठाणे दुगदुगभंगा हवंति बद्धस्स ।
इयरस्सवि णादव्वा तिगतिगइगि तिण्णितिण्णेव ॥ ३७९ ॥

आदिमपञ्चस्थाने द्विकद्विकभङ्गौ भवतः बद्धस्य ।
इतरस्यापि ज्ञातव्याः त्रिकत्रिकैकं त्रयस्त्रय एव ॥ ३७९ ॥

अर्थ—पहली पंक्तिके बद्धायु संबंधी पांच स्थानोंमें दो दो भंग हैं। इससे दूसरे अबद्धायुके पाँचस्थानोंमें क्रमसे ३, ३, १, ३, ३, भंग जानना ॥ ३७९ ॥

बिदियस्सवि पणठाणे पण पण तिग तिण्ण चारि बद्धस्स ।
इयरस्स होंति णेया चउचउइगिचारि चत्तारि ॥ ३८० ॥

द्वितीयस्यापि पञ्चस्थाने पञ्च पञ्च त्रिकं त्रयः चत्वारः बद्धस्य ।
इतरस्य भवन्ति ज्ञेया चतुश्चतुरेकचत्वारः चत्वारः ॥ ३८० ॥

अर्थ—दूसरी पंक्तिके भी बद्धायुके पाँच स्थानोंमें क्रमसे ५, ५, ३, ३, ४ भंग हैं। तथा दूसरे अबद्धायुके पांच स्थानोंमें क्रमसे ४, ४, १, ४, ४ भंग हैं ॥ ३८० ॥

आदिल्लदससु सरिसा भंगेण य तिदियदसयठाणाणि ।
बिदियस्स चउत्थस्स य दसठाणाणि य समा होंति ॥ ३८१ ॥

आद्यदशसु सदृशा भङ्गेन च तृतीयदशकस्थानानि ।
द्वितीयस्य चतुर्थस्य च दशस्थानानि च समानि भवन्ति ॥ ३८१ ॥

अर्थ—पहली पंक्तिके दशस्थानोंके भंगोंके समान तीसरी पंक्तिके दशस्थानोंके भंग होते हैं। तथा दूसरी पंक्तिके दशस्थानोंके भंगोंके समान चौथी पंक्तिके दशस्थानोंके भंग समझना। इसप्रकार सब मिलकर असंयत गुणस्थानमें ४० सत्त्वस्थानोंके १२० भंग हुए ॥ ३८१ ॥

अब देशसंयतादि तीन गुणस्थानोंमें स्थान और भंग कहते हैं;—

देसतियेसुवि एवं भंगा एक्केक्क देसगस्स पुणो ।
पडिरासि विदियतुरियस्सादीबिदियम्मि दो भंगा ॥ ३८२ ॥

देशत्रयेष्वपि एवं भङ्गा एकैकं देशकस्य पुनः ।
प्रतिराशि द्वितीयचतुर्थस्यादिद्वितीयस्मिन् द्वौ भङ्गौ ॥ ३८२ ॥

अर्थ—इसीतरह-असंयतगुणस्थानके समान देशविरतादि तीन गुणस्थानोंमें भी चालीस चालीस सत्त्वस्थान जानने, और सब स्थानोंमें एक एक भंग हैं। परन्तु देशसंयत गुणस्थानमें दूसरी दो पंक्ति तथा चौथी दो (बद्धायु-अबद्धायुरूप) पंक्तियोंके पहले और दूसरे स्थानमें दो दो भंग जानना ॥ ३८२ ॥

आगे उपशमश्रेणीके चार गुणस्थानोंमें स्थान और भंग कहनेकी इच्छासे आचार्य पहले अपूर्वकरणमें स्थान और भङ्गोंको कहते हैं,—

दुगछक्कतिण्णिवग्गेणूणापुव्वस्स चउपडिं किच्चा ।
णभमिगिचउपणहीणं बद्धस्सियरस्स एगूणं ॥ ३८३ ॥

द्विकषट्कत्रिवर्गेनोनानि अपूर्वस्य चतुःप्रतिं कृत्वा ।
नभैकचतुःपञ्चहीनं बद्धस्येतरस्यैकोनम् ॥ ३८३ ॥

अर्थ—उपशमश्रेणीके अपूर्वकरण गुणस्थानमें दो, छह, तीनका वर्ग अर्थात् नौ प्रकृति कम जो तीन स्थान हैं उनकी चार पंक्तियां करके पंक्तिके क्रमसे शून्य, एक, चार पांच कम करे तो बद्धायुके स्थान होते हैं। और इतर अर्थात् अबद्धायुके स्थान उनमेंसे भी एक एक प्रकृति कम करनेपर होते हैं। इसतरह २४ स्थान हुए ॥ ३८३ ॥

अब कम की हुई प्रकृतियोंके नाम और भंग कहते हैं,—

णिरयतिरियाउ दोण्णिवि पढमकसायाणि दंसणतियाणि ।
हीणा एदे णेया भंगे एक्केक्कगा होंति ॥ ३८४ ॥

निरयतिर्यगायुषी द्वे अपि प्रथमकषाया दर्शनत्रीणि ।
हीनानि एतानि ज्ञेयानि भङ्गा एकैकका भवन्ति ॥ ३८४ ॥

अर्थ—नरकायु और तिर्यंचायु ये दो, ये दोनों और पहली (अनंतानुबंधी) चार कषाय इसतरह ६, तथा ६ ये और ३ दर्शन मोहनीय ऐसे सब ९; इसप्रकार इन प्रकृतियोंसे हीन ३ स्थान जानने। और इनके भंग एक एक ही होते हैं ॥ ३८४ ॥

आगे बाकी बचे दो उपशमक और एक उपशांत कषाय ऐसे तीन गुणस्थानोंमें और क्षपक-श्रेणीके अपूर्वकरण गुणस्थानमें स्थान तथा भंग कहते हैं,—

एवं तिसु उवसमगे खवगापुव्वम्मि दसहि परिहीणं ।
सव्वं चउपडि किच्चा णभमेक्कं चारि पण हीणं ॥ ३८५ ॥

एवं त्रिषु उपशमकेषु क्षपकापूर्वे दशभिः परिहीनम् ।
सर्वं चतुःप्रतिकं कृत्वा नभमेकं चत्वारि पञ्च हीनम् ॥ ३८५ ॥

अर्थ—इस उपशमक अपूर्वकरणकी तरह उपशमक अनिवृत्तिकरणादि तीन गुणस्थानोंमें सत्वस्थान और भंग चौबीस चौबीस जानना । तथा क्षपक अपूर्वकरणमें १० प्रकृतियों रहित एक स्थानकी चारपंक्तियां करके क्रमसे पहलेकी तरह शून्य, १, ४, ५, प्रकृतियां कम करना चाहिये । इसतरह चार स्थान और चार ही भंग होते हैं ॥ ३८५ ॥

अब क्षपक अनिवृत्तिकरणमें स्थान और भंग कहते हैं;—

एदे सत्तट्ठाणा अणियट्टिस्सवि पुणोवि खविदेवि ।
सोलस अट्ठेक्केक्कं छक्केक्कं एक्कमेक्क तहा ॥ ३८६ ॥

एतानि सत्त्वस्थानानि अनिवृत्तेरपि पुनरपि क्षपितेपि ।
षोडशाष्टैकैकं षट्कैकमेकमेकं तथा ॥ ३८६ ॥

अर्थ—ये जो क्षपक अपूर्वकरणमें चार स्थान कहे हैं वे क्षपक अनिवृत्तिकरणमें भी जानना । और इसीप्रकार १६, ८, १, १, ६; १, १, १, प्रकृति कम करनेसे आठ स्थान अन्य भी होते हैं । इनकीभी चार पंक्तियाँ करके पूर्ववत् क्रमसे शून्यादि घटानेपर ३२ भेद होजाते हैं । इसप्रकार ४+३२ मिलकर अनिवृत्तिकरण क्षपकके स्थान ३६ हुए, ऐसा जानना ॥ ३८६ ॥

अब इन स्थानोंके भंग दो गाथाओंसे कहते हैं;—

भंगा एक्केक्का पुण णउंसयक्खविदचउसु ठाणेसु ।
बिदियतुरियेसु दो दो भंगा तित्थयरहीणेसु ॥ ३८७ ॥

भंगाः एकैकाः पुनः नपुन्सकक्षपितचतुर्षु स्थानेषु ।
द्वितीयतुरीययोः द्वौ द्वौ भङ्गौ तीर्थकरहीनयोः ॥ ३८७ ॥

अर्थ—इन ३६ स्थानोंमें एक एक भंग है, परंतु जहांपर नपुन्सक वेदका क्षय है ऐसे चारों स्थानोंमें तीर्थकर प्रकृतिकी सत्ता रहित दूसरी और चौथी पंक्तिके दो स्थानोंमें दो दो भंग हैं ॥ ३८७ ॥

यही कहते हैं;—

थीपुरिसोदयचडिदे पुव्वं संढं खवेदि थी अत्थि ।
संढस्सुदये पुव्वं थीखविदं संढमत्थित्ति ॥ ३८८ ॥

स्त्रीपुरुषोदयचटिते पूर्वं षण्ढं क्षपयति स्त्री अस्ति ।
षण्ढस्योदये पूर्वं स्त्रीक्षपितं षण्ढमस्तीति ॥ ३८८ ॥

अर्थ—जो जीव स्त्रीभाववेद अथवा पुरुषवेदके उदयसहित क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं वे पहले नपुंसकभाववेदका क्षय करते हैं, स्त्रीवेदकी तो सत्ता वहां पर मौजूद रहती है। और नपुंसकवेदके उदयसहित जो क्षपकश्रेणी चढ़ते हैं वे पहले स्त्रीवेदका क्षय करते हैं, उनके पूर्व कहे दो स्थानोंमें नपुन्सक वेदकी सत्ता रहती है। इसप्रकार दो स्थानोंके दो दो भंग हैं ऐसा होनेपर ३६ स्थानोंके ३८ भंग हुए ॥ ३८८ ॥

आगे क्षपक सूक्ष्मसांपराय और क्षीणकषाय गुणस्थानमें स्थान तथा भंगोंको कहते हैं:—

अणियट्टिचरिमठाणा चत्तारिवि एक्कहीण सुहुमस्स ।
ते इगिदोण्णिविहीणं खीणस्सवि होंति ठाणाणि ॥ ३८९ ॥

अनिवृत्तिचरमस्थानानि चत्वार्यपि एकहीनं सूक्ष्मस्य ।
तानि एकद्विविहीनं क्षीणस्यापि भवन्ति स्थानानि ॥ ३८९ ॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके अन्तके जो चार स्थान कहे हैं उनमेंसे हरएकमें संज्वलन माया कषाय कम करनेपर सूक्ष्मसांपरायके चार स्थान होते हैं। और सूक्ष्मसांपरायके इन चारों स्थानोंमेंसे प्रत्येकमें एक संज्वलन लोभ प्रकृति घटानेपर क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें चार स्थान होते हैं। तथा इन्हीं चारों स्थानोंमें निद्रा-प्रचला, ये दो प्रकृतियां कम करनेसे इसी गुणस्थानके अन्तके समयमें चार स्थान होते हैं। इस प्रकार आठ स्थान क्षीणकषायके जानना ॥ ३८९ ॥

आगे सयोगी और अयोगी गुणस्थानमें स्थानादि कहते हैं;—

ते चोद्दसपरिहीणा जोगिस्स अजोगिचरिमगेवि पुणो ।
बावत्तरिमडसट्ठिं दुसु दुसु हीणेसु दुगदुगा भङ्गा ॥ ३९० ॥

तानि चतुर्दशपरिहीनानि योगिन अयोगिचरमकेपि पुनः ।
द्वासप्ततिरष्टषष्ठिः द्वयोर्द्वयोः हीनयोः द्विकद्विकौ भङ्गाः ॥ ३९० ॥

अर्थ—क्षीणकषायके अन्तके चारस्थानोंमें चौदह प्रकृतियां कम करनेसे ८५ आदिकके चारस्थान सयोग केवलीके होते हैं। और अयोग केवलीके अन्तके दो समय शेष रहें तबतक वे चारस्थान हैं। सयोग केवलीके चारस्थानोंमेंसे पहले और दूसरे स्थानमें बहत्तर प्रकृतियां कम करने तथा तीसरे चौथे स्थानमें अडसठ घटानेपर चार स्थान होते हैं। यहाँ पर पुनरुक्तपना होनेसे दो स्थान ही समझना। और अन्तके दो समयोंमें दो दो स्थान हैं वहाँपर दो दो भंग हैं। इसप्रकार ६ स्थान और उनके ८ भंग अयोगकेवलीके अन्तसमयतक जानना ॥ ३९० ॥

आगे "दुगछक्कतिण्णिवग्गे" इत्यादि गाथाकेद्वारा पहले अनंतानुबंधी सहित आठ स्थान उपशम श्रेणीवालोंके कहे थे। वे अपने (श्रीकनकनंदि आचार्यके) पक्षमें नहीं हैं। इत्यादि विशेषको और उनकी भंग-संख्याको चार गाथाओंसे कहते हैं;—

णत्थि अणं उवसमगे खवगापुव्वं खवित्तु अट्ठा य।
पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केइं णिद्दिट्ठं ॥ ३९१ ॥

नास्ति अनमुपशमके क्षपकापूर्वं क्षपयित्वा अष्टौ च।
पश्चात् षोडशादीनां क्षपणमिति कैर्निर्दिष्टम् ॥ ३९१ ॥

अर्थ—श्रीकनकनंदी आचार्यके संप्रदाय (पक्ष) में ऐसा कहा है कि उपशमश्रेणीवाले चार गुणस्थानोंमें अनंतानुबंधी चारका सत्त्व नहीं है। इसकारण २४ स्थानोंमेंसे बद्धायु और अबद्धायु दोनोंके आठ स्थान कम करनेपर १६ स्थान ही हैं। और क्षपक अपूर्वकरणवाले पहले मध्यकी आठ कषायोंका क्षयकरके पीछे १६ आदिक प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ॥ ३९१ ॥

अणियट्टिगुणट्ठाणे मायारहिदं च ठाणमिच्छंति।
ठाणा भंगपमाणा केई एवं परूवेंति ॥ ३९२ ॥

अनिवृत्तिगुणस्थाने मायारहितं च स्थानमिच्छन्ति।
स्थानानि भङ्गप्रमाणानि केचिदेवं प्ररूपयन्ति ॥ ३९२ ॥

अर्थ—कोई आचार्य, अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें माया कषाय रहित चार स्थान हैं, ऐसा मानते हैं। तथा कोई स्थानोंको भंगके प्रमाण अर्थात् दोनोंकी एकसी संख्या कहते हैं॥ ३९२॥

ऐसा होनेपर स्थान और भंगोंकी संख्या कहते हैं;—

अट्ठारह चउ अट्ठं मिच्छतिये उवरि चाल चउठाणे।
तिसु उवसमगे संते सोलस सोलस हवे ठाणा ॥ ३९३ ॥

अष्टादश चत्वारि अष्ट मिथ्यत्रये उपरि चत्वारिंशत् चतुःस्थाने।
त्रिषु उपशमके शान्ते षोडश षोडश भवंति स्थानानि ॥ ३९३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानोंमें पूर्वोक्त प्रकार १८, ४, ८, स्थान हैं। ऊपरके असंयतादि चार गुणस्थानोंमें चालीस चालीस स्थान हैं। तथा उपशमश्रेणीवाले तीन गुणस्थान तथा उपशांतमोह-इन चारमें सोलह सोलह स्थान हैं ॥ ३९३ ॥

अब इन स्थानोंके भंगोंकी संख्या कहते हैं,—

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि स्थानोंके क्रमसे पूर्वोक्त प्रकार ५०, ११, ३६, १२०, ४८, ४०, ४०, दोनों श्रेणियोंके मिलकर २०, ३८, २०, १६, ८, ४, ८ भंग जानने। यहांपर गुरुओंके संप्रदाय भेदसे अनेक प्रकारका कथन किया है, वह सभी श्रद्धान करने योग्य है। क्योंकि इनकी अपेक्षाओंका प्रत्यक्षकेवली श्रुतकेवली विना निश्चय नहीं हो सकता॥ ३९४॥

अव सत्त्वस्थानाधिकारको पूर्ण करनेके इच्छुक आचार्य इसके पढ़नेका फल दिखाते हैं;—

एवं सत्तट्ठाणं सवित्थरं वण्णियं मए सम्मं।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ णिव्वुदिं सोक्खं॥ ३९५॥

एवं सत्त्वस्थानं सविस्तरं वर्णितं मया सम्यक्।
यः पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति निर्वृतिं सौख्यम्॥ ३९५॥

अर्थ—इसप्रकार सत्त्वस्थानका विस्तारसे अच्छीतरह मैंने वर्णन किया है। जो इस कर्मोंके सत्त्वस्थानको पढ़ेगा, सुनेगा और चिंतवन करेगा वह मोक्ष सुखको अवश्य प्राप्त होगा॥ ३९५॥

वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं॥ ३९६॥

वरेन्द्रनन्दिगुरोः पार्श्वे श्रुत्वा सकलसिद्धान्तम्।
श्रीकनकनन्दिगुरुणा सत्त्वस्थानं समुद्दिष्टम्॥ ३९६॥

अर्थ—आचार्योंमें श्रेष्ठ ऐसे श्रीइन्द्रनंदि गुरुके पास समस्त सिद्धान्तको सुनकर श्री **कनकनंदि** सिद्धान्तचक्रवर्ती गुरुने इस सत्त्वस्थानको सम्यक् रीतिसे कहा है॥ ३९६॥

अव आचार्य महाराज अपनेको चक्रवर्ती की समानता दिखाते हुए इस सत्त्वस्थानकथनके अधिकारको समाप्त करते हैं;—

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं॥ ३९७॥

यथा चक्रेण च चक्रिणा षट्खण्डं साधितमविघ्नेन।
तथा मतिचक्रेण मया षट्खण्डं साधितं सम्यक्॥ ३९७॥

अर्थ—जैसे चक्रवर्तीने भरतक्षेत्रके छह खण्डोंको अपने चक्ररत्नसे निर्विघ्नपूर्वक साधे अर्थात् अपने वशमें किये हैं, उसी प्रकार मैंने भी बुद्धिरूप चक्रसे जीवस्थान १ क्षुद्रबंध २ बंधस्वामी ३ वेदनाखण्ड ४ वर्गणाखण्ड ५ और महाबंध ६ के भेदसे छहखण्डरूप सिद्धान्तशास्त्र अच्छीतरह साधे अर्थात् जाने हैं॥ ३९७॥

इति गोम्मटसार ग्रन्थके कर्मकांडमें बालावबोधिनी भाषा टीका सहित
सत्त्वस्थानभंगप्ररूपणनामा तीसरा अधिकार समाप्त हुआ॥ ३॥

अब त्रिचूलिका अधिकार कहनेकी प्रतिज्ञा करते हुए नमस्कारात्मक मंगल करते हैं;—

असहायजिणवरिंदे असहायपरक्कमे महावीरे ।
पणमिय सिरसा वोच्छं तिचूलियं सुणह एयमणा ॥ ३९८ ॥

असहायजिनवरेन्द्रानसहायपराक्रमान् महावीरान् ।
प्रणम्य शिरसा वक्ष्यामि त्रिचूलिकं शृणुतैकमनसः ॥ ३९८ ॥

अर्थ—इन्द्रियादिकोंकी सहायता रहित है ज्ञानादि शक्तिरूप पराक्रम जिनका ऐसे श्रीमहावीर गुरु और शेष वृषभादितीर्थंकर जिनेन्द्रदेवोंको मस्तक नवाके (नमस्कार करके) मैं नेमिचन्द्राचार्य त्रिचूलिका नाम अधिकारको कहूँगा । सो हे भव्यजीवो ! तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ३९८ ॥ जो कहे हुए अथवा न कहे हुए व विशेषतासे न कहेहुए अर्थका चिंतवन करना उसे **चूलिका** कहते हैं । यहांपर नव प्रश्न १ पंचभागहार २ और दशकरण ३ इन तीन विषयोंका चिंतवन किया जायगा; इसीलिये इस अधिकारका नाम त्रिचूलिका है ।

अब उन तीन चूलिकाओंमेंसे पहले नवप्रश्न चूलिकाको कहते हैं;—

किं बंधो उदयादो पुव्वं पच्छा समं विणस्सदि सो ।
सपरोभयोदयो वा णिरंतरो सांतरो उभयो ॥ ३९९ ॥

को बन्ध उदयात्पूर्वं पश्चात् समं विनश्यति सः ।
स्वपरोभयोदयो वा निरन्तरः सान्तर उभयः ॥ ३९९ ॥

अर्थ—१ पहले जो प्रकृतियां कहीं हैं उनमें उदय व्युच्छित्तिके पहले बंधकी व्युच्छित्ति किन किन प्रकृतियोंकी होती है ? २ उदयव्युच्छित्तिके पीछे बंधकी व्युच्छित्ति किन २ प्रकृतियोंकी होती है ? और ३ उदयव्युच्छित्तिके साथ २ बंधव्युच्छित्ति किन २ प्रकृतियोंकी होती है ? तथा ४ जिनका अपना उदय होनेपर बंध हो ऐसीं प्रकृतियां कौन कौन हैं ? ५ जिनका अन्य प्रकृतिके उदय होनेपर बंध हो ऐसीं प्रकृति कौन २ हैं ? और ६ जिनका दोनोंके–अपने व अन्य प्रकृतियोंके उदय होनेपर बंध हो ऐसी प्रकृतियां कौन कौन हैं ? । इसीतरह ७ जिनका निरंतर बंध हो ऐसीं प्रकृतियां कौन २ हैं ? ८ जिनका सांतर बंध अर्थात् कभी हो कभी न हो ऐसी प्रकृतियां कौन कौन हैं ? तथा ९ जिनका निरंतर व सांतर दोनों प्रकारका बंध हो वे प्रकृतियां कौन कौनसी हैं ? इसप्रकार ये नौ प्रश्न हैं, जिनका कि इस अधिकारमें विचार किया जायगा ॥ ३९९ ॥

आगे इन नौ प्रश्नोंमेंसे पहले तीन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये प्रकृतियोंको गिनाते हैं;—

देवचउक्काहारदुगज्जसदेवाउगाण सो पच्छा ।
मिच्छत्तादावाणं णराणुथावरचउक्काणं ॥ ४०० ॥
पण्णरकसायभयदुगहस्सदुचउजाइपुरिसवेदाणं ।
सममेक्कत्तीसाणं सेसिगिसीदाण पुव्वं तु ॥ ४०१ ॥ जुम्मं ।

देवचतुष्काहारद्विकायशोदेवायुष्कानां स पश्चात् ।
मिथ्यात्वातापानां नरानुस्थावरचतुष्कानाम् ॥ ४०० ॥
पञ्चदशकषायभयद्विकहास्यद्विचतुर्जातिपुरुषवेदानाम् ।
सममेकत्रिंशतां शेषैकाशीतेः पूर्वं तु ॥ ४०१ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—देवगति आदिकी चौकड़ी, आहारक शरीर युगल, अयशस्कीर्ति और देवायु इन ८ प्रकृतियोंकी बंध व्युच्छित्ति उदयकी व्युच्छित्ति (अभाव होने) के पीछे होती हैं । और मिथ्यात्व, आताप; मनुष्यगत्यानुपूर्वी, स्थावर आदि चार, संज्वलनलोभके विना १५ कषाय, भय-जुगुप्सा, हास्य-रति २, एकेन्द्री आदि चार जाति, और पुरुषवेद-इन ३१ प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति और बंधव्युच्छित्ति एक कालमें होती है । तथा इनसे शेष ज्ञानावरणादि ८१ प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्तिके पहले बंधव्युच्छित्ति होती है ॥ ४०० ॥ ४०१ ॥

आगे दूसरे तीन प्रश्नोंका समाधान दो गाथाओंसे करते हैं;—

सुरणिरयाऊ तित्थं वेगुव्वियछक्कहारमिदि जेसिं ।
परउदयेण य बंधो मिच्छं सुहुमस्स घादीओ ॥ ४०२ ॥
तेजदुगं वण्णचऊ थिरसुहजुगलगुरुणिमिणधुवउदया ।
सोदयबंधा सेसा बासीदा उभयबंधाओ ॥ ४०३ ॥ जुम्मं ।

सुरनिरयायुषी तीर्थं वैगूर्विकषट्काहारमिति यासाम् ।
परोदयेन च बन्धो मिथ्यं सूक्ष्मस्य घातिन्यः ॥ ४०२ ॥
तेजोद्विकं वर्णचत्वारि स्थिरशुभयुगलागुरुनिर्माणध्रुवोदयाः ।
स्वोदयबन्धाः शेषाः द्व्यशीतिरुभयबन्धाः ॥ ४०३ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—देवायु, नरकायु, तीर्थंकरप्रकृति, वैक्रियिकका षट्क, आहरकशरीरका जोड़ा, इन ११ प्रकृतियोंका परके उदयसे बंध है । और मिथ्यात्व, सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानमें व्युच्छिन्न होनेवाली घातिया कर्मोंकी १४ प्रकृतियाँ, तैजसका युगल, वर्णादिक चार, स्थिर और शुभका जोड़ा, अगुरुलघु; निर्माण ये ध्रुव (नित्य) उदयवाली १२ प्रकृतियां सब मिलकर २७ प्रकृतियोंका अपने उदय होनेपर ही बंध होता है । तथा शेष रहीं पांच निद्रादि ८२ प्रकृतियाँ उभयबंधी हैं । अर्थात् इनका उदय होनेपर अथवा न होनेपर भी बंध होता है ॥ ४०२ ॥ ४०३ ॥

अब तीसरे तीन प्रश्नोंकी उत्तररूप प्रकृतियां चार गाथाओंसे कहते हैं;—

सत्तेताल धुवावि य तित्थाहाराउगा णिरंतरगा ।
णिरयदुजाइचउक्कं संहदिसंठाणपणपणगं ॥ ४०४ ॥

दुग्गमणादावदुगं थावरदसगं असादसंढित्थि ।
अरदीसोगं चेदे सांतरगा होंति चोत्तीसा ॥ ४०५ ॥ जुम्मं ।

सप्तचत्वारिंशत् ध्रुवा अपि च तीर्थाहारायुष्का निरन्तरकाः ।
निरयद्विजातिचतुष्कं संहृतिसंस्थानपञ्चपञ्चकम् ॥ ४०४ ॥
दुर्गमनातापद्विकं स्थावरदशकमसातषण्ढस्त्री ।
अरतिः शोकं चैताः सान्तरका भवन्ति चतुस्त्रिंशत् ॥ ४०५ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—ज्ञानावरणादि पूर्वोक्त ४७ ध्रुव प्रकृतियां, तीर्थंकर, आहारका आयु ४—ये ५४ प्रकृतियां निरंतर बंधवाली हैं । और नरकगतिका जोड़ा, एकेन्द्री आदि चार जाति, आदिके संहनन और संस्थान विना ५ संहनन और ५ संस्थान, अप्रशस्तविहायोगति, आताप-उद्योत, स्थावर आदि १०, असातावेदनीय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक, ये ३४ प्रकृतियां सांतरबंधी हैं । किसीसमय किसी प्रकृतिका, किसीसमय कोई प्रकृतिका बंध होता है ॥ ४०४ ॥ ४०५ ॥

सुरणरतिरियोरालियवेगुव्वियदुगपसत्थगदिवज्जं ।
परघाददुसमचउरं पंचिंदिय तसदसं सादं ॥ ४०६ ॥
हस्सरदिपुरिसगोददु सप्पडिवक्खम्मि सांतरा होंति ।
णट्ठे पुण पडिवक्खे णिरंतरा होंति बत्तीसा ॥ ४०७ ॥ जुम्मं ।

सुरनरतिर्यगौरालिकवैगूर्विकद्विकप्रशस्तगतिवज्रम् ।
परघातद्विसमचतुरस्रं पञ्चेन्द्रियं त्रसदश सातम् ॥ ४०६ ॥
हास्यरतिपुरुषगोत्रद्विकं सप्रतिपक्षे सान्तरा भवन्ति ।
नष्टे पुनः प्रतिपक्षे निरन्तरा भवन्ति द्वात्रिंशत् ॥ ४०७ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—देवगति-मनुष्यगति-तिर्यंचगति-औदारिकशरीर-वैक्रियिकशरीर—इन पांचोंका जोड़ा, प्रशस्तविहायोगति, वज्रर्षभनाराचसंहनन, परघात युगल, समचतुरस्रसंस्थान, पंचेन्द्रियजाति, त्रस आदि १०, सातावेदनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, गोत्र दो ये ३२ प्रकृतियां प्रतिपक्षी (विरोधी) के रहते हुए सांतर बंधवालीं हैं । और विरोधी प्रकृतियोंके नाश होनेपर निरंतर बंधवाली हैं, अर्थात् उभयबंधी हैं ॥ ४०६ ॥ ४०७ ॥ इस प्रकार **नवप्रश्न** नामकी प्रथमचूलिका कही ।

अब पंचभागहार नामकी द्वितीयचूलिकाको कहते हुए मंगलाचरण करते हैं,—

जस्स वरणेमिचंदो महणेण विणा सुणिम्मलो जादो ।
सो अभयणंदिणिम्मलसुओवही हरउ पावमलं ॥ ४०८ ॥

यत्र वरनेमिचन्द्रो मथनेन विना सुनिर्मलो जातः ।
स अभयनन्दिनिर्मलश्रुतोदधिर्हरतु पापमलम् ॥ ४०८ ॥

तिर्यग्द्विजातिचतुष्कमातापोद्योतस्थावरं सूक्ष्मम् ।
साधारणं चैताः तिर्यगेकादश मन्तव्याः ॥ ४१४ ॥

अर्थ—तिर्यंचगति आदि दो, एकेन्द्रियादि जाति ४, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, और साधारण—ये तिर्यक् ११ प्रकृतियाँ हैं। अर्थात् इनका उदय तिर्यंचोंमें ही होता है। इसीसे इनका "तिर्यगेकादश" ऐसा नाम है ॥ ४१४ ॥

अब उद्वेलन प्रकृतियोंको कहते हैं;—

आहारदुगं सम्मं मिस्सं देवदुगणारयचउक्कं ।
उच्चं मणुदुगमेदे तेरस उव्वेल्लणा पयडी ॥ ४१५ ॥

आहारद्विकं सम्यं मिश्रं देवद्विकनारकचतुष्कम् ।
उच्चं मनुद्विकमेताः त्रयोदश उद्वेलना प्रकृतयः ॥ ४१५ ॥

अर्थ—आहारकयुगल, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, देवगतिका जोड़ा, नरकगतिका चतुष्क, उच्चगोत्र, और मनुष्यगतिका युगल—ये १३ उद्वेलन प्रकृतियां हैं ॥ ४१५ ॥

बंधे अधापवत्तो विज्झादं सत्तमोत्ति हु अबंधे ।
एत्तो गुणो अबंधे पयडीणं अप्पसत्थाणं ॥ ४१६ ॥

बन्धे अधःप्रवृत्तो विध्यातः सप्तम इति हि अबन्धे ।
इतो गुणः अबन्धे प्रकृतीनामप्रशस्तानाम् ॥ ४१६ ॥

अर्थ—प्रकृतियोंके बंध होनेपर अपनी अपनी बंधव्युच्छित्तिपर्यंत अधःप्रवृत्तसंक्रमण होता है। परन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिका नहीं होता। क्योंकि "सम्मं मिच्छं मिस्सं"-इत्यादि गाथाके द्वारा इसका निषेध पहले ही बता चुके हैं। और बंधकी व्युच्छित्ति होनेपर असंयतसे लेकर अप्रमत्तपर्यंत विध्यातनामा संक्रमण होता है। तथा अप्रमत्तसे आगे उपशांत कषाय पर्यंत बंधरहित अप्रशस्त प्रकृतियोंका गुणसंक्रमण होता है। इसी तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व आदि अन्य जगह भी गुणसंक्रमण होता है ऐसा जानना। तथा मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिके पूरण कालमें और मिथ्यात्वके क्षय करनेमें अपूर्वकरण परिणामोंके द्वारा मिथ्यात्वके अन्तिम काण्डककी उपान्त्य फालिपर्यन्त गुणसंक्रमण और अन्तिम फालिमें सर्वसंक्रमण होता है ॥ ४१६ ॥

अब उन सर्वसंक्रमणमणरूप प्रकृतियोंको कहते हैं;—

तिरियेयारुव्वेल्लणपयडी संजलणलोहसम्ममिस्सूणा ।
मोहा थीणतिगं च य बावण्णे सव्वसंकमणं ॥ ४१७ ॥

तिर्यगेकादशोद्वेलनप्रकृतयः संज्वलनलोभसम्यग्मिश्रोनाः ।
मोहाः स्त्यानत्रिकं च च द्वापञ्चाशत् सर्वसंक्रमणम् ॥ ४१७ ॥

मिश्रगुणस्थानमें नियमसे दर्शनमोहनीयके त्रिकका संक्रमण नहीं होता। असंयतादि चारमें होता है ॥ ४११ ॥

मिच्छे सम्मिस्साणं अधापवत्तो मुहुत्तअंतोत्ति ।
उव्वेलणं तु तत्तो दुचरिमकंडोत्ति णियमेण ॥ ४१२ ॥

मिथ्ये सम्यग्मिश्रयोरधःप्रवृत्तः मुहूर्त्तान्तरिति ।
उद्वेलनं तु ततो द्विचरमकाण्ड इति नियमेन ॥ ४१२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानको प्राप्त होनेपर सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीयका अंतमुहूर्त्ततक अधःप्रवृत्तसंक्रमण होता है । और उद्वेलननामा संक्रमण अंतके समीपके–उपान्त्य कांडकपर्यंत नियमसे प्रवर्तता है । वहांपर अधःप्रवृत्तसंक्रमण फालिरूप रहता है ॥ ४१२ ॥

एक समयमें संक्रमण होने को **फालि** कहते हैं । समयसमूहमें संक्रमण होना **कांडक** कहा जाता है ॥

उव्वेलणपयडीणं गुणं तु चरिमम्हि कंडये णियमा ।
चरिमे फालिम्मि पुणो सव्वं च य होदि संकमणं ॥ ४१३ ॥

उद्वेलनप्रकृतीनां गुणं तु चरमे काण्डके नियमात् ।
चरमे फालौ पुनः सर्वं च च भवति संक्रमणम् ॥ ४१३ ॥

अर्थ—उद्वेलन प्रकृतियोंका अंतके कांडकमें नियमसे गुणसंक्रमण होता है । और अन्तकी फालिमें सर्वसंक्रमण होता है ऐसा जानना ॥ ४१३ ॥

यहांपर प्रसंगवश पांचों संक्रमणोंका स्वरूप कहते हैं । अधःप्रवृत्त आदि तीन करणरूप परिणामोंके विना ही कर्मप्रकृतियोंके परमाणुओंका अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होना वह **उद्वेलन-संक्रमण** है । मंद विशुद्धतावाले जीवकी, स्थिति अनुभागके घटानेरूप, भूतकालीन स्थितिकांडक और अनुभाग कांडक तथा गुणश्रेणी आदि परिणामोंमें प्रवृत्ति होना **विध्यातसंक्रमण** है । बंधरूप हुईं प्रकृतियोंका अपने बंधमें संभवती प्रकृतियोंमें परमाणुओंका जो प्रदेश संक्रम होना वह **अधःप्रवृत्तसंक्रमण** है । जहां पर प्रतिसमय असंख्यातगुण श्रेणीके क्रमसे परमाणु–प्रदेश अन्य प्रकृतिरूप परिणमे सो **गुणसंक्रमण** है । और जो अन्तके कांडककी अन्तकी फालिके सर्व प्रदेशोंमेंसे जो अन्य प्रकृतिरूप नहीं हुए हैं उन परमाणुओंका अन्य प्रकृतिरूप होना वह **सर्वसंक्रमण** है । इसप्रकार पांचोंका स्वरूप कहा है ॥

आगे सर्वसंक्रमण प्रकृतियोंमें तिर्यगेकादश–जिनका उदय तिर्यग्गतिमें ही पाया जाता है उन ११ प्रकृतियोंके नाम गिनाते हैं,—

तिरियदुजाइचउक्कं आदावुज्जोवथावरं सुहुमं ।
साहारणं च एदे तिरियेयारं मुणेयव्वा ॥ ४१४ ॥

तिर्यग्द्विजातिचतुष्कमातापोद्योतस्थावरं सूक्ष्मम् ।
साधारणं चैताः तिर्यगेकादश मन्तव्याः ॥ ४१४ ॥

अर्थ—तिर्यंचगति आदि दो, एकेन्द्रियादि जाति ४, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, और साधारण—ये तिर्यक् ११ प्रकृतियाँ हैं। अर्थात् इनका उदय तिर्यंचोंमें ही होता है। इसीसे इनका "तिर्यगेकादश" ऐसा नाम है ॥ ४१४ ॥

अब उद्वेलन प्रकृतियोंको कहते हैं;—

आहारदुगं सम्मं मिस्सं देवदुगणारयचउक्कं ।
उच्चं मणुदुगमेदे तेरस उव्वेल्लणा पयडी ॥ ४१५ ॥

आहारद्विकं सम्यं मिश्रं देवद्विकनारकचतुष्कम् ।
उच्चं मनुद्विकमेताः त्रयोदश उद्वेलना प्रकृतयः ॥ ४१५ ॥

अर्थ—आहारकयुगल, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, देवगतिका जोड़ा, नरकगतिका चतुष्क, उच्चगोत्र, और मनुष्यगतिका युगल—ये १३ उद्वेलन प्रकृतियां हैं ॥ ४१५ ॥

बंधे अधापवत्तो विज्झादं सत्तमोत्ति हु अबंधे ।
एत्तो गुणो अबंधे पयडीणं अप्पसत्थाणं ॥ ४१६ ॥

बन्धे अधःप्रवृत्तो विध्यातः सप्तम इति हि अबन्धे ।
इतो गुणः अबन्धे प्रकृतीनामप्रशस्तानाम् ॥ ४१६ ॥

अर्थ—प्रकृतियोंके बंध होनेपर अपनी अपनी बंधव्युच्छित्तिपर्यंत अधःप्रवृत्तसंक्रमण होता है। परन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिका नहीं होता। क्योंकि "सम्मं मिच्छं मिस्सं"–इत्यादि गाथाके द्वारा इसका निषेध पहले ही बता चुके हैं। और बंधकी व्युच्छित्ति होनेपर असंयतसे लेकर अप्रमत्तपर्यंत विध्यातनामा संक्रमण होता हैं। तथा अप्रमत्तसे आगे उपशांत कषाय पर्यंत बंधरहित अप्रशस्त प्रकृतियोंका गुणसंक्रमण होता हैं। इसी तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व आदि अन्य जगह भी गुणसंक्रमण होता है ऐसा जानना। तथा मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिके पूरण कालमें और मिथ्यात्वके क्षय करनेमें अपूर्वकरण परिणामोंके द्वारा मिथ्यात्वके अन्तिम काण्डककी उपान्त्य फालिपर्यन्त गुणसंक्रमण और अन्तिम फालिमें सर्वसंक्रमण होता है ॥ ४१६ ॥

अब उन सर्वसंक्रमणमणरूप प्रकृतियोंको कहते हैं;—

तिरियेयारुव्वेल्लणपयडी संजलणलोहसम्ममिस्सूणा ।
मोहा थीणतिगं च य बावण्णे सव्वसंकमणं ॥ ४१७ ॥

तिर्यगेकादशोद्वेलनप्रकृतयः संज्वलनलोभसम्यग्मिश्रोनाः ।
मोहाः स्त्यानत्रिकं च च द्वापञ्चाशत् सर्वसंक्रमणम् ॥ ४१७ ॥

अर्थ—पूर्वकथित तिर्यगेकादश (११), उद्वेलनकी १३, संज्वलन लोभ-सम्यक्त्वमोहनीय-मिश्रमोहनीय इन तीनके विना मोहनीयकी २५, और स्त्यानगृद्धि आदि ३ प्रकृतियां-इन सब ५२ प्रकृतियोंमें सर्वसंक्रमण होता है ॥ ४१७ ॥

आगे प्रकृतियोंके संक्रमणका नियम कहते हैं;—

उगुदालतीससत्तयवीसे एक्केक्कबारतिचउक्के ।
इगिचदुदुगतिगतिगचदुपणदुगदुगतिण्णि संकमणा ॥ ४१८ ॥

एकोनचत्वारिंशत्त्रिंशत्सप्तकविंशे एकैकद्वादशत्रिचतुष्के ।
एकचतुर्द्विकत्रिकत्रिकचतुःपञ्चद्विकद्विकत्रयः संक्रमणाः ॥ ४१८ ॥

अर्थ—३९ प्रकृतियोंमें, ३० में, ७ में; २० में, १ में, १ में, १२ में, ४ में, ४ में,४ में क्रमसे १, ४, २, ३, ३, ४, ५, २; २, और ३ संक्रमण होते हैं ॥ ४१८ ॥

आगे उन प्रकृतियोंको तथा उनके संक्रमणोंको क्रमसे सात गाथाओं द्वारा कहते हैं;—

सुहुमस्स बंधघादी सादं संजलणलोहपंचिंदी ।
तेजदुसमवण्णचऊ अगुरुगपरघादउस्सासं ॥ ४१९ ॥
सत्थगदी तसदसयं णिमिणुगुदाले अधापवत्तो दु ।
थीणतिबारकसाया संढित्थी अरइ सोगो य ॥ ४२० ॥
तिरियेयारं तीसे उव्वेलणहीणचारि संकमणा ।
णिद्दा पयला असुहं वण्णचउक्कं च उवघादे ॥ ४२१ ॥
सत्तण्ह गुणसंकममधापवत्तो य दुक्खमसुहगदी ।
संहदि संठाणदसं णीचापुण्णथिरछक्कं च ॥ ४२२ ॥
वीसण्हं विज्झादं अधापवत्तो गुणो य मिच्छत्ते ।
विज्झादगुणे सव्वं सम्मे विज्झादपरिहीणा ॥ ४२३ ॥ कुलयं ।

सूक्ष्मस्य बंधघातिन्यः सातं संज्वलनलोभपञ्चेन्द्रियम् ।
तेजोद्विसमवर्णचतुरगुरुकपरघातोच्छ्वासम् ॥ ४१९ ॥
शस्तगतिः त्रसदशकं निर्माणमेकोनचत्वारिंशत्सु अधःप्रवृत्तस्तु ।
स्त्यानत्रिद्वादशकषायाः षण्ढस्त्री अरतिः शोकश्च ॥ ४२० ॥
तिर्यगेकादश त्रिंशत्सु उद्वेलनहीनचत्वारः संक्रमणाः ।
निद्राप्रचला अशुभं वर्णचतुष्कं च उपघातम् ॥ ४२१ ॥
सप्तानां गुणसंक्रमोऽधःप्रवृत्तश्च दुःखमशुभगतिः ।
संहतिसंस्थानदश नीचापूर्णमस्थिरषट्कं च ॥ ४२२ ॥
विंशानां विध्यातः अधःप्रवृत्तो गुणश्च मिथ्यात्वे ।
विध्यातगुणौ सर्वः सम्यक्त्वे विध्यातपरिहीनाः ॥ ४२३ ॥ कुलकम् ।

अर्थ—सूक्ष्मसांपरायमें बंधव्युच्छिन्न होनेवाली घातियाकर्मोंकी १४ प्रकृतियां, सातावेदनीय, संज्वलनलोभ, पंचेन्द्रीजाति, तैजसका युगल, समचतुरस्र, वर्णादि ४, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, शस्तविहायोगति, त्रस आदि १० और निर्माण—इन ३९ प्रकृतियोंमें, १ अधःप्रवृत्त संक्रमण है। स्त्यानगृद्धि आदि ३, १२ कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक और तिर्यक् एकादशकी ११ इन तीस प्रकृतियोंमें उद्वेलन संक्रमणके विना चार संक्रमण होते हैं। निद्रा, प्रचला, अशुभवर्णादि ४ और उपघात—इन सात प्रकृतियोंके गुणसंक्रमण और अधःप्रवृत्त संक्रमण-ये दो पाये जाते हैं। असातावेदनीय, अप्रशस्तविहायोगति, पहलेके विना पांच संहनन और पांच संस्थान—ये १०, नीचगोत्र अपर्याप्त और अस्थिरादि ६, इसप्रकार २० प्रकृतियोंके विध्यातसंक्रमण-अधःप्रवृत्तसंक्रमण और गुणसंक्रमण ये तीन संक्रमण पाये जाते हैं। मिथ्यात्वप्रकृतिमें विध्यात-गुण और सर्वसंक्रमण ये तीन हैं। तथा सम्यक्त्वमोहनीयमें विध्यातसंक्रमणके विना चार संक्रमण पाये जाते हैं॥ ४१९। ४२०। ४२१। ४२२। ४२३॥

सम्मविहीणुव्वेल्ले पंचेअ य तत्थ होंति संकमणा।
संजलणतिये पुरिसे अधापवत्तो य सव्वो य॥ ४२४॥
सम्यग्विहीनोद्वेल्ये पञ्चैव च तत्र भवन्ति संक्रमणाः।
संज्वलनत्रये पुरुषे अधःप्रवृत्तश्च सर्वश्च॥ ४२४॥

अर्थ—सम्यक्त्वमोहनीयके विना १२ उद्वेलन प्रकृतियोंमें पाँचोंही संक्रमण होते हैं। और संज्वलनक्रोधादि तीन तथा पुरुषवेद—इन चारोंमें अधःप्रवृत्त और सर्वसंक्रमण ये दो ही संक्रमण पाये जाते हैं॥ ४२४॥

ओरालदुगे वज्जे तित्थे विज्झादधापवत्तो य।
हस्सरदिभयजुगुच्छे अधापवत्तो गुणो सव्वो॥ ४२५॥
औरालद्विके वज्रे तीर्थे विध्यातोऽधःप्रवृत्तश्च।
हास्यरतिभयजुगुप्सायामधःप्रवृत्तो गुणः सर्वः॥ ४२५॥

अर्थ—औदारिक शरीरका द्विक, वज्रर्षभनाराचसंहनन, तीर्थंकर प्रकृति—इन चारोंमें विध्यातसंक्रमण और अधःप्रवृत्त, ये दो संक्रमण हैं। तथा हास्य, रति भय और जुगुप्सा—इन चार प्रकृतियोंमें अधःप्रवृत्त, गुण और सर्वसंक्रमण ये तीन संक्रमण पाये जाते हैं॥ ४२५॥

आगे विध्यातसंक्रमणकी प्रकृतियोंको दिखाते हैं;—

सम्मत्तूणुव्वेलणथीणतितीसं च दुक्खवीसं च।
वज्जोरालदुतित्थं मिच्छं विज्झादसत्तट्ठी॥ ४२६॥
सम्यक्त्वोनोद्वेलनस्त्यानत्रिंत्रिंशच्च दुःखविंशश्च।
वज्रौरालद्वितीर्थं मिथ्यं विध्यातसप्तषष्टिः॥ ४२६॥

अर्थ—सम्यक्त्वमोहनीयके विना उद्वेलनप्रकृतियां १२, स्त्यानगृद्धि तीन आदिक ३०, असातावेदनोयादिक २८, वज्रर्षभनाराचसंहनन, औदारिक युगल, तीर्थंकर प्रकृति, मिथ्यात्व—ये ६७ प्रकृतियां विध्यातसंक्रमणवाली हैं ॥ ४२६ ॥

अब अधःप्रवृत्तसंक्रमण और गुणसंक्रमणकी प्रकृतियोंको कहते हैं;—

मिच्छूणिगिवीससयं अधापवत्तस्स होंति पयडीओ ।
सुहुमस्स बंधघादिप्पहुदी उगुदालुरालदुगतित्थं ॥ ४२७ ॥
वज्जं पुंसंजलणति ऊणा गुणसंकमस्स पयडीओ ।
पणहत्तरिसंखाओ पयडीणियमं विजाणाहि ॥ ४२८ ॥ जुम्मं ।

मिथ्योनैकविंशशतमधःप्रवृत्तस्य भवन्ति प्रकृतयः ।
सूक्ष्मस्य बंधघातिप्रभृतयः एकोनचत्वारिंशदौरालद्विकतीर्थम् ॥ ४२७ ॥
वज्रं पुंसंज्वलनत्रिकमूना गुणसंक्रमस्य प्रकृतयः ।
पञ्चसप्ततिसंख्याः प्रकृतिनियमं विजानीहि ॥ ४२८ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—मिथ्यात्वप्रकृतिके विना १२१ प्रकृतियां अधःप्रवृत्तसंक्रमणकी होती हैं । और सूक्ष्मसांपरायमें बंध होनेवाली घातियाकर्मोंकी चौदह प्रकृतियोंको आदि लेकर ३९ प्रकृतियां, औदारिककी दो, तीर्थंकर, वज्रर्षभनाराच, पुरुषवेद, संज्वलनक्रोधादि तीन – इन ४७ प्रकृतियों को कम करके शेष बची ७५ प्रकृतियां गुणसंक्रमणकी हैं । इसप्रकार प्रकृतियोंमें संक्रमणका नियम जानना ॥ ४२७।४२८ ॥

आगे स्थिति और अनुभाग बंधके, तथा प्रदेशबंधके संक्रमणके गुणस्थानोंकी संख्या कहते हैं।

ठिदिअणुभागाणं पुण बंधो सुहुमोत्ति होदि णियमेण ।
बंधपदेसाणं पुण संकमणं सुहुमरागोत्ति ॥ ४२९ ॥

स्थित्यनुभागयोः पुनः बन्धः सूक्ष्म इति भवति नियमेन ।
बन्धप्रदेशानां पुनः संक्रमणं सूक्ष्मराग इति ॥ ४२९ ॥

अर्थ—स्थिति और अनुभागका बंध नियमसे सूक्ष्मसांपरायगुणस्थान पर्यंत ही है । क्योंकि उक्त बंधका कारण कषाय वहीं तक है । और बन्धरूप प्रदेशों (कर्मपरमाणुओं) का संक्रमण भी सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक ही है । क्योंकि "बंधे अधापवत्तो" इस गाथा सूत्रके अभिप्रायसे स्थितिबंध पर्यंत ही संक्रमण होना संभव है ॥ ४२९ ॥

आगे पांच भागहारोंका अल्पबहुपना ६ गाथाओंसे कहते हैं;—

सव्वस्सेक्कं रूवं असंखभागो दु पल्लछेदाणं ।
गुणसंकमो दु हारो ओकट्ठुक्कट्टणं तत्तो ॥ ४३० ॥

हारं अधापवत्तं तत्तो जोगम्हि जो दु गुणगारो ।
णाणागुणहाणिसला असंखगुणिदक्कमा होंति ॥ ४३१ ॥
तत्तो पल्लसलायच्छेदहिया पल्लछेदणा होंति ।
पल्लस्स पढममूलं गुणहाणीवि य असंखगुणिदकमा ॥ ४३२ ॥
अण्णोण्णब्भत्थं पुण पल्लमसंखेज्जरूवगुणिदकमा ।
संखेज्जरूवगुणिदं कम्मुक्कस्सट्ठिदी होदि ॥ ४३३ ॥
अंगुलअसंखभागं विज्झादुव्वेल्लणं असंखगुणं ।
अणुभागस्स य णाणागुणहाणिसला अणंताओ ॥ ४३४ ॥
गुणहाणिअणंतगुणं तस्स दिवड्ढं णिसेयहारो य ।
अहियक्कमाणण्णोण्णब्भत्थो रासी अणंतगुणो ॥ ४३५ ॥ कुलयं ।

सर्वस्यैकं रूपमसंख्यभागस्तु पल्यच्छेदानाम् ।
गुणसंक्रमस्तु हार अपकर्षणोत्कर्षणं ततः ॥ ४३० ॥
हारः अधःप्रवृत्तस्ततो योगे यस्तु गुणकारः ।
नानागुणहानिशला असंख्यगुणितक्रमा भवन्ति ॥ ४३१ ॥
ततः पल्यशलाकच्छेदाधिकाः पल्यच्छेदना भवन्ति ।
पल्यस्य प्रथममूलं गुणहानिरपि च असंख्यगुणितक्रमम् ॥ ४३२ ॥
अन्योन्याभ्यस्तं पुनः पल्यमसंख्येयरूपगुणितक्रमम् ।
संख्येयरूपगुणिता कर्मोत्कृष्टस्थितिर्भवति ॥ ४३३ ॥
अङ्गुलासंख्यभागं विध्यातोद्वेलनमसंख्यगुणम् ।
अनुभागस्य च नानागुणहानिशला अनन्ताः ॥ ४३४ ॥
गुणहानिरनन्तगुणा तस्या द्व्यर्धं निषेकहारश्च ।
अधिकक्रमाणामन्योन्याभ्यस्तो राशिरनन्तगुणः ॥ ४३५ ॥ कुलकम् ।

अर्थ—'सर्वसंक्रमण' नामा भागहार सबसे थोड़ा है । उसका प्रमाण १ रूप कल्पना किया गया है । इससे असंख्यातगुणा–पल्यके अर्धच्छेदोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण 'गुणसंक्रमण' भागहार है । इससे असंख्यातगुणे अपकर्षण और उत्कर्षण भागहार हैं, तो भी यह दोनों जुदे जुदे पल्यके अर्धच्छेदोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही हैं । क्योंकि असंख्यातके छोटे बड़ेकी अपेक्षा बहुत भेद हैं । इससे 'अधःप्रवृत्तसंक्रमण' भागहार असंख्यातगुणा है । इससे असंख्यातगुणा योगोंके कथनमें जो गुणकार कहा हैं वह जानना । इससे कर्मोंकी स्थितिकी नानागुणहानिशलाकाका प्रमाण असंख्यातगुणा है । वह पल्यकी वर्गशलाकाके अर्धच्छेदोंको पल्यके अर्धच्छेदोंमें घटाकर जो

१ इन अपकर्षणादिकोंके अल्पबहुत्वका कथन प्रसंगवश यहाँपर कहा गया है ।

प्रमाण रहे उतना है। इससे पल्यके अर्धच्छेदोंका प्रमाण अधिक है। यह अधिकता पल्यकी वर्गशलाकाके अर्धच्छदोंके प्रमाण हैं। इससे पल्यका प्रथम वर्गमूल असंख्यातगुणा है। इससे कर्मोंकी स्थितिकी जो एक गुणहानि उसके समयोंका प्रमाण असंख्यातगुणा है। इससे असंख्यातगुआ कर्मों की स्थितिकी अन्योन्याभ्यस्त राशिका प्रमाण है। इससे असंख्यातगुणा पल्यका प्रमाण है। क्योंकि उस अन्योन्याभ्यस्तराशिके प्रमाणको पल्यकी वर्गशलाकासे गुणाकार करनेपर पल्य होता है। इससे कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण संख्यातगुणा है। इससे 'विध्यातसंक्रमण' नामा भागहार असंख्यातगुणा है, यह सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। तथा इससे असंख्यातगुणा 'उद्वलन संक्रमण' भागहार है। इससे कर्मोंके अनुभागकी नानागुणहानि शलाकाका प्रमाण अनंतगुणा है। इससे उस अनुभागकी एक गुणहानिके आयामका प्रमाण अनंतगुणा है। इससे उसीकी डेढ़गुणहानि का प्रमाण उसके आधे प्रमाणकर अधिक है। इससे दोगुणहानिका प्रमाण आधा गुणहानिके प्रमाणकर अधिक है। इसीको **निषेकहार** कहते हैं। इससे उस अनुभागकी अन्योन्याभ्यस्तराशिका प्रमाण अनंतगुणा जानना ॥ ४३० । ४३१ । ४३२ । ४३३ । ४३४ । ४३५ ॥

इस प्रकार पंचभागहारोंके अल्पबहुत्वका तथा प्रसंगसे अन्यके अल्पबहुत्वका भी कथन किया। इस तरह **पंचभागहारचूलिका** समाप्त हुई।

अब दशकरणचूलिकाको १४ गाथाओंसे कहते हुए पहले अपने श्रुतगुरुको नमस्कार करते हैं;—

जस्स य पायपसायेणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥ ४३६ ॥

यस्य च पादप्रसादेनानन्तसंसारजलधिमुत्तीर्णः ।
वीरेन्द्रनन्दिवत्सो नमामि तमभयनन्दिगुरुम् ॥ ४३६ ॥

अर्थ—वीरेन्द्रनन्दि नामा आचार्यका शिष्य ऐसा जो मैं ग्रन्थकर्ता नेमिचन्द्र हूं सो जिस शास्त्रशिक्षादायक गुरुके चरणोंके प्रसादसे अनंत संसारसमुद्रके पारको प्राप्त हुआ उस श्रुतगुरु **अभयनन्दि** आचार्यको नमस्कार करता हूं ॥ ४३६ ॥

अब उन दश करणोंके नाम कहते हैं;—

बंधुक्कट्टण करणं संकममोकट्टुदीरणा सत्तं ।
उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी ॥ ४३७ ॥

बंधोत्कर्षणकरणं संक्रममपकर्षणोदीरणा सत्त्वम् ।
उदयोपशान्तनिधत्तिः निःकाचना भवति प्रतिप्रकृति ॥ ४३७ ॥

अर्थ—बंध १ उत्कर्षण २ संक्रमण ३ अपकर्षण ४ उदीरणा ५ सत्त्व ६ उदय ७ उपशम ८ निधत्ति ९ निकाचना १०, ये दश करण (अवस्थायें) हरएक प्रकृतिके होते हैं ॥ ४३७ ॥

आगे इन करणोंका स्वरूप तीन गाथाओंसे कहते हैं; —

कम्माणं संबंधो बंधो उक्कट्टणं हवे वड्ढी ।
संकमणमणत्थगदी हाणी ओकट्टणं णाम ॥ ४३८ ॥

कर्मणां संबन्धो बन्ध उत्कर्षणं वृद्धिर्भवेत् ।
संक्रमणमन्यत्रगतिः हानिरपकर्षणं नाम ॥ ४३८ ॥

अर्थ—कर्मोंका आत्मासे संबंध होना, अर्थात् मिथ्यात्वादि परिणामोंसे जो पुद्गलद्रव्यका ज्ञानावरणादिरूप होकर परिणमन करना जो कि ज्ञानादिका आवरण करता है, वह **बंध** है। कर्मोंकी स्थिति तथा अनुभागका बढ़ना **उत्कर्षण** है। बंधरूप प्रकृतिका दूसरी प्रकृतिरूप परिणमजाना **संक्रमण** है। स्थिति तथा अनुभागका कम हो जाना **अपकर्षण** है ॥ ४३८ ॥

अण्णत्थठियस्सुदये संथुहणमुदीरणा हु अत्थित्तं ।
सत्तं सकालपत्तं उदओ होदित्ति णिद्दिट्ठो ॥ ४३९ ॥

अन्यत्र स्थितस्योदये संस्थापनमुदीरणा हि अस्तित्वम् ।
सत्त्वं स्वकालप्राप्तमुदयो भवतीति निर्दिष्टः ॥ ४३९ ॥

अर्थ—उदयकालके बाहिर स्थित, अर्थात् जिसके उदयका अभी समय नहीं आया है ऐसा जो कर्मद्रव्य उसको अपकर्षणके बलसे उदयावली कालमें प्राप्त करना (लाना) उसको **उदीरणा** कहते हैं। पुद्गलका कर्मरूप रहना **सत्त्व** है। और कर्मका अपनी स्थितिको प्राप्त होना अर्थात् फल देनेका समय प्राप्त होजाना **उदय** है। ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ४३९ ॥

उदये संकममुदये चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं ।
उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं होदि जं कम्मं ॥ ४४० ॥

उदये संक्रमोदययोः चतुर्ष्वपि दातुं क्रमेण नो शक्यम् ।
उपशान्तं च निधत्तिः निकाचितं भवति यत् कर्म ॥ ४४० ॥

अर्थ—जो कर्म उदयावलीमें प्राप्त न किया जाय अर्थात् उदीरणा अवस्थाको प्राप्त न हो सके वह **उपशान्त** करण है। जो कर्म उदयावलिमेंभी प्राप्त न हो सके और संक्रमण अवस्थाको भी प्राप्त न हो सके उसे **निधत्ति** करण कहते हैं। तथा जिस कर्मकी उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारोंही अवस्थायें न हो सकें उसे **निकाचित** करण कहते हैं ॥ ४४० ॥

इसप्रकार दश करणोंका स्वरूप कहकर अब प्रकृतियों तथा गुणस्थानोंमें इन करणोंके संभव प्रकारोंको दो गाथासूत्रोंसे दिखाते हैं;—

संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्वआऊणं ।
सेसाणं दसकरणाअपुव्वकरणोत्ति दसकरणा ॥ ४४१ ॥

संक्रमणाकरणोनानि नवकरणानि भवन्ति सर्वायुषाम् ।
शेषाणां दशकरणान्यपूर्वकरण इति दशकरणानि ॥ ४४१ ॥

अर्थ—नरकादि चारों आयुकर्मोंके संक्रमणकरणके विना ९ करण होते हैं। और शेष बचीं सब प्रकृतियोंके १० करण होते हैं। तथा मिथ्यादृष्टिसे लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानपर्यंत १० करण होते हैं ॥ ४४१ ॥

आदिमसत्तेव तदो सुहुमकसाओत्ति संकमेण विणा ।
छच्च सजोगित्ति तदो सत्तं उदयं अजोगित्ति ॥ ४४२ ॥

आदिमसप्तैव ततः सूक्ष्मकषाय इति संक्रमेण बिना ।
षट् च सयोगीति ततः सत्त्वमुदय अयोगीति ॥ ४४२ ॥

अर्थ—उस अपूर्वकरणगुणस्थानके ऊपर १०वें सूक्ष्मकषायगुणस्थानपर्यंत आदिके ७ ही करण होते हैं। उससे आगे सयोगकेवली तक संक्रमणकरणके विना ६ ही करण होते हैं। उसके बाद अयोगकेवलीके सत्व और उदय-ये दो ही करण पाये जाते हैं ॥ ४४२ ॥

अब ११ वें उपशांतकषायमें कुछ विशेषता है, उसको कहते हैं;—

णवरि विसेसं जाणे संकममवि होदि संतमोहम्मि ।
मिच्छस्स य मिस्सस्स य सेसाणं णत्थि संकमणं ॥ ४४३ ॥

नवरि विशेषं जानीहि संक्रममपि भवति शान्तमोहे ।
मिथ्यस्य च मिश्रस्य च शेषाणां नास्ति संक्रमणम् ॥ ४४३ ॥

अर्थ—विशेष बात यह है कि उपशांतकषायगुणस्थानमें मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीयका संक्रमणकरण भी होता है; अर्थात् इन दोनोंके कर्मपरमाणु सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणम जाते हैं। किंतु शेष प्रकृतियोंका संक्रमण नहीं होता, ६ ही करण होते हैं ॥ ४४३ ॥

बंधुक्कट्टणकरणं सगसगबंधोत्ति होदि णियमेण ।
संकमणं करणं पुण सगसगजादीण बंधोत्ति ॥ ४४४ ॥

वन्धोत्कर्षणकरणं स्वकस्वकवन्ध इति भवति नियमेन ।
संक्रमणं करणं पुनः स्वकस्वकजातीनां वन्ध इति ॥ ४४४ ॥

अर्थ—बंधकरण और उत्कर्षणकरण ये दोनों, अपनी अपनी प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति पर्यंत होते हैं। और प्रकृतियोंकी अपनी अपनी जातिकी (जैसे कि ज्ञानावरणकी पांचोंही प्रकृ-

तियाँ परस्परमें स्वजाति हैं) जहाँ बंधसे व्युच्छित्ति है वहांतक संक्रमण करण होता है ॥ ४४४ ॥

ओक्कट्टणकरणं पुण अजोगिसत्ताण जोगिचरिमोत्ति ।
खीणं सुहुमंताणं खयदेसं सावलोयसमयोत्ति ॥ ४४५ ॥

अपकर्षणकरणं पुनरयोगिसत्त्वानां योगिचरम इति ।
क्षीणं सूक्ष्मान्तानां क्षयदेशं सावलिकसमय इति ॥ ४४५ ॥

अर्थ—अयोगीकी ८५ सत्त्वप्रकृतियोंका सयोगीके अंतसमयतक अपकर्षण करण होता है । तथा क्षीणकषायगुणस्थानमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न हुईं १६ तथा सूक्ष्मसांपरायमें सत्त्वसे व्युच्छित्तिरूप हुआ जो सूक्ष्मलोभ-इसप्रकार १७ प्रकृतियोंका क्षयदेशपर्यंत अपकर्षण करण जानना । उस क्षयदेशका काल यहांपर एक समय अधिक आवलिमात्र है । क्योंकि ये १७ प्रकृतियां स्वमुखोदयी हैं । सारांश यह है कि प्रकृतियां दो प्रकारकी हैं—एक स्वमुखोदयी दूसरी परमुखोदयी । उनमेंसे जो अपने ही रूप उदयफल देकर नष्ट हो जांय वे **स्वमुखोदयी** हैं । उनका काल एकसमय अधिक आवलि प्रमाण है; वही क्षयदेश (क्षय होनेका ठिकाना) है । जो प्रकृति अन्यप्रकृतिरूप उदयफल देकर विनष्ट होजाती हैं वे **परमुखोदयी** हैं; उनका अंतकांडककी अंतफालि क्षयदेश है, ऐसा जानना ॥ ४४१ ॥

उवसंतोत्ति सुराऊ मिच्छत्तिय खवगसोलसाणं च ।
खयदेसोत्ति य खवगे अट्ठकसायादिवीसाणं ॥ ४४६ ॥

उपशान्त इति सुरायुः मिथ्यत्रयं क्षपकषोडशानां च ।
क्षयदेश इति च क्षपके अष्टकषायादिविंशानाम् ॥ ४४६ ॥

अर्थ—देवायुका अपकर्षणकरण उपशांतकषाय पर्यंत है । मिथ्यात्वादि तीन और "णिरयतिरिक्खे" इत्यादि सूत्रसे कथित अनिवृत्तिकरणमें क्षय हुईं १६ प्रकृतियां, इनका क्षयदेश पर्यंत अर्थात् अन्तकांडकके अंतफालिपर्यंत अपकर्षण करण है । और क्षपक अवस्थामें अनिवृत्तिकरणमें क्षय हुईं जो आठ कषायको लेकर २० प्रकृतियाँ हैं उनका भी अपने अपने क्षयदेश पर्यंत अपकर्षण करण है । जिस स्थानमें क्षय हुआ हो उसको **क्षयदेश** कहते हैं ॥ ४४६ ॥

मिच्छतियसोलसाणं उवसमसेढिम्मि संतमोहोत्ति ।
अट्ठकसायादीणं उवसमियट्ठाणगोत्ति हवे ॥ ४४७ ॥

मिथ्यात्रयषोडशानामुपशमश्रेण्यां शान्तमोह इति ।
अष्टकषायादीनामुपशमिकस्थानक इति भवेत् ॥ ४४७ ॥

अर्थ—उशमश्रेणीमें मिथ्यात्वादि तीन दर्शनमोहनीय और नरकद्विकादिक १६, इन प्रकृतियोंका उपशान्तकषायगुणस्थान पर्यंत अपकर्षण करण है । तथा आठ कषायादिकोंका अपने अपने उपशमकरनेके ठिकाने तक अपकर्षण करण है ॥ ४४७ ॥

पढमकसायाणं च विसंजोजकं वोत्ति अयददेसोत्ति ।
णिरयतिरियाउगाणमुदीरणसत्तोदया सिद्धा ॥ ४४८ ॥

प्रथमकषायाणां च विसंयोजकं वा इति अयतदेश इति ।
निरयतिर्यगायुषोरुदीरणसत्त्वोदयाः सिद्धाः ॥ ४४८ ॥

अर्थ—अनंतानुबंधी चार कषायका असंयतादि चार गुणस्थानोंमें यथासंभव जहां विसंयोजन (अन्यरूप परिणमन) हो वहांतक ही अपकर्षणकरण है । तथा नरकायुके असंयतगुणस्थानतक और तिर्यंचायुके देशसंयतगुणस्थानतक उदीरणा, सत्त्व, उदयकरण-ये तीन करण प्रसिद्ध ही हैं; क्योंकि पूर्वमें इनका कथन होचुका है ॥ ४४८ ॥

मिच्छस्स य मिच्छोत्ति य उदीरणा उवसमाहिमुहियस्स ।
समयाहियावलित्ति य सुहुमे सुहुमस्स लोहस्स ॥ ४४९ ॥

मिथ्यस्य च मिथ्येति च उदीरणा उपशमाभिमुखस्य ।
समयाधिकावलीति च सूक्ष्मे सूक्ष्मस्य लोभस्य ॥ ४४९ ॥

अर्थ—उपशमसम्यक्त्वके सन्मुख हुए जीवके मिथ्यात्वगुणस्थानके अंतमें एक समय अधिक आवलि-कालतक मिथ्यात्वप्रकृतिका उदीरणाकरण होता है । क्योंकि उसका उदय उतने ही कालतक है । और सूक्ष्मलोभका सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानमें ही उदीरणाकरण है, क्योंकि इससे आगे अथवा अन्यत्र उसका उदय ही नहीं है ॥ ४४९ ॥

उदये संकममुदये चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं ।
उवसंतं च णिधत्ति णिकाचिदं तं अपुव्वोत्ति ॥ ४५० ॥

उदये संक्रमोदययोः चतुर्ष्वपि दातुं क्रमेण नो शक्यम् ।
उपशान्तं च निधत्तिः निकाचितं तद् अपूर्व इति ॥ ४५० ॥

अर्थ—जो कर्म उदयावलीमें प्राप्त नहीं किया जा सके अर्थात् जिसकी उदीरणा न होसके ऐसा उपशांतकरण. जो उदीरणारूप भी न होसके और संक्रमणरूप भी न होसके ऐसा निधत्तिकरण, तथा जो उदयावलीमें भी न आसके-जिसका संक्रमण भी न हो सके-उत्कर्षण और अपकर्षण भी न होसके, अर्थात् जिसकी ये चारों क्रियायें नहीं होसकती हों—ऐसा निकाचितकरण, ये तीन करण अपूर्वकरणगुणस्थानतक ही होते हैं । भावार्थ—इसके ऊपर यथासंभव उदयावली आदिमें प्राप्त होनेकी सामर्थ्यवाले ही कर्मपरमाणु पाये जाते हैं ॥ ४५० ॥

इति श्रीनेमिचन्द्राचार्यविरचितपंचसंग्रहद्वितीयनामवाले गोम्मटसार ग्रंथके
कर्मकाण्डमें त्रिचूलिका नामका चौथा अधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

आगे श्रीनेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्ती अपने इष्टदेवको नमस्कार करते हुए स्थान-समुत्कीर्तन नामक अधिकारके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं,—

णमिऊण णेमिणाहं सच्चजुहिट्ठिरणमंसियंघिजुगं ।
बंधुदयसत्तजुत्तं ठाणसमुक्कित्तणं वोच्छं ॥ ४५१ ॥

नत्वा नेमिनाथं सत्ययुधिष्ठिरनमस्कृताङ्घ्रियुगम् ।
बन्धोदयसत्त्वयुक्तं स्थानसमुत्कीर्तनं वक्ष्ये ॥ ४५१ ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष वंदना करनेवाला जो सत्यरूप 'युधिष्ठिर' नामा पांडव उसकरके जिनके चरणकमलको नमस्कार कियागया है ऐसे श्री **नेमिनाथ** तीर्थंकरको नमस्कार करके मैं नेमिचन्द्राचार्य प्रकृतियोंके स्थानसमुत्कीर्तनको कहूँगा ॥ ४५१ ॥ एक जीवके एक कालमें जितनी प्रकृतियोंका संभव होसके उन प्रकृतियोंके समूहका नाम **स्थान** है । इसीका व्याख्यान इस अधिकारमें किया जायगा ॥

अब पहले मूलप्रकृतियोंके बंध—उदय—उदीरणा—सत्त्वके भेदको लियेहुए स्थानोंके कथनको गुणस्थानोंमें छह गाथाओंसे कहते हैं;—

छसु सगविहमट्ठविहं कम्मं बंधंति तिसु य सत्तविहं ।
छव्विहमेक्कट्ठाणे तिसु एक्कमबंधगो एक्को ॥ ४५२ ॥

षट्सु सप्तविधमष्टविधं कर्म बध्नन्ति त्रिषु च सप्तविधम् ।
षड्विधमेकस्थाने त्रिषु एकमबन्धकमेकम् ॥ ४५२ ॥

अर्थ—मिश्रगुणस्थानके विना अप्रमत्त पर्यंत ६ गुणस्थानोंमें जीव आयुके विना सात-प्रकारके अथवा आयुसहित आठप्रकारके कर्मको बांधते हैं । मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनगुणस्थानोंमें आयुविना सातप्रकारके ही कर्म बंधरूप होते हैं । एक सूक्ष्मसांपरायगुणस्थान-में आयु-मोहके विना ६ प्रकारके ही कर्मोंका बंध होता है । उपशांतकषायादि तीन गुणस्थानोंमें एक वेदनीयकर्मका ही बंध है । और अयोगीगुणस्थान बंधरहित हैं, अर्थात् उसमें किसी प्रकृतिका भी बंध नहीं होता ॥ ४५२ ॥

चत्तारि तिण्णि तिय चउ पयडिट्ठाणाणि मूलपयडीणं ।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि कमे होंति ॥ ४५३ ॥

चत्वारि त्रीणि त्रीणि चत्वारि प्रकृतिस्थानानि मूलप्रकृतीनाम् ।
भुजाकाराल्पतराणि च अवस्थितान्यपि क्रमेण भवन्ति ॥ ४५३ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्तरीतिसे मूलप्रकृतियोंके बंधस्थान चार हैं। इन स्थानोंके भुजाकार बंध, अल्पतर बंध और अवस्थित बंध ये तीन प्रकारके बंध होते हैं। तथा 'च' शब्द से चौथा अवक्तव्यबंध भी समझना चाहिये। किंतु यह चौथा बंध मूलप्रकृतियोंमें नहीं होता । इन चारोंका स्वरूप आगे ४६९ वीं गाथामें कहेंगे । इनमेंसे उपशमश्रेणीसे उतरनेवालेके ३ प्रकारका भुजाकार बंध, चढ़नेवालेके ३ प्रकारका अल्पतर बंध और अपने अपने स्थानमें बंध होनेपर चार प्रकारका अवस्थित बंध होता है ॥ ४५३ ॥

अट्ठुदओ सुहुमोत्ति य मोहेण विणा हु संतखीणेसु ।
घादिदराण चउक्कस्सुदओ केवलिदुगे णियमा ॥ ४५४ ॥
अष्टोदयः सूक्ष्म इति च मोहेन विना हि शान्तक्षीणयोः ।
घातीतराणां चतुष्कस्योदयः केवलिद्विके नियमात् ॥ ४५४ ॥

अर्थ—सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानतक आठ मूलप्रकृतियोंका उदय है, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय इन दो गुणस्थानोंमें मोहनीयके विना सात का उदय है, तथा सयोगी और अयोगी इन दोनोंके चार अघातिया कर्मोंका उदय नियमसे जानना ॥ ४५४ ॥

घादीणं छदुमट्ठा उदीरगा रागिणो हि मोहस्स ।
तदियाऊण पमत्ता जोगंता होंति दोण्हंपि ॥ ४५५ ॥
घातिनां छद्मस्था उदीरका रागिणो हि मोहस्य ।
तृतीयायुषोः प्रमत्ता योग्यन्ता भवन्ति द्वयोरपि ॥ ४५५ ॥

अर्थ—चार घातिया कर्मोंकी उदीरणा क्षीणकषायगुणस्थानतक छद्मस्थज्ञानी करते हैं, मोहनीयकर्मको उदीरणा करनेवाले सरागी सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानतक कहेगये हैं, वेदनीय और आयुकर्मको उदीरणा करनेवाले प्रमत्तगुणस्थानतक प्रमादी जीव होते हैं, तथा नाम और गोत्र इन दोनोंकी उदीरणा सयोगीपर्यंत जीव करते हैं ॥ ४५५ ॥

मिस्सूणपमत्तंते आउस्सद्धा हु सुहुमखीणाणं ।
आवलिसिट्ठे कमसो सग पण दो चेवुदीरणा होंति ॥४५६॥
मिश्रोनप्रमत्तान्ते आयुष अद्धा हि सूक्ष्मक्षीणयोः ।
आवलिशिष्टे क्रमशः सप्त पञ्च द्वौ चैवोदीरणा भवन्ति ॥ ४५६ ॥

अर्थ—मिश्रगुणस्थानके विना प्रमत्तगुणस्थानतक पांच गुणस्थानोंमें आयुकी स्थितिमें आवलिमात्र काल शेष रहनेपर आयु विना सात कर्मोंकी उदीरणा होती है। सूक्ष्मसांपरायमें उतना ही काल बाकी रहनेपर आयु-मोहनीय-वेदनीय इन तीनके विना पांच कर्मोंकी उदीरणा होती है। तथा क्षीणकषाय गुणस्थानमें उतना ही काल कम रहनेपर नाम और गोत्र इन दो कर्मोंकी उदीरणा होती हैं ॥ ४५६ ॥

संतोत्ति अट्ठ सत्ता खीणे सत्तेव होंति सत्ताणि ।
जोगिम्मि अजोगिम्मि य चत्तारि हवंति सत्ताणि ॥ ४५७ ॥
शान्त इति अष्ट सत्ताः क्षीणे सप्तैव भवन्ति सत्त्वानि ।
योगिनि अयोगिनि च चत्वारि भवन्ति सत्त्वानि ॥ ४५७ ॥

अर्थ—उपशान्तकषाय गुणस्थानपर्यंत आठों प्रकृतियोंकी सत्ता है। क्षीणकषाय गुणस्थानमें मोहनीयके विना सात कर्मोंकी ही सत्ता है, और सयोगकेवली तथा अयोगकेवली इन दोनोंमें चार अघातिया कर्मोंहीकी सत्ता है ॥ ४५७ ॥

आगे उत्तरप्रकृतियोंके स्थानोंका भलेप्रकार कथन करते हैं;—

तिण्णि दस अट्ठ ठाणाणि दंसणावरणमोहणामाणं ।
एत्थेव य भुजगारा सेसेसेयं हवे ठाणं ॥ ४५८ ॥

त्रीणि दश अष्ट स्थानानि दर्शनावरणमोहनाम्नाम् ।
अत्रैव च भुजाकाराः शेषेष्वेकं भवेत् स्थानम् ॥ ४५८ ॥

अर्थ—दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके क्रमसे ३, १० और ८ स्थान हैं, तथा भुजाकार बंध भी इन्हींमें होते हैं। और शेष ज्ञानावरणादिकों में एक एक ही स्थान है। उन शेषमेंसे ज्ञानावरण और अंतरायका तो पांच प्रकृतिका वंधरूप स्थान एक ही है। और गोत्र आयु वेदनीयका एकात्मक और एक एक ही वंध स्थान है ॥ ४५८ ॥

णव छक्क चदुक्कं च य बिदियावरणस्स बंधठाणाणि ।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य जाणाहि ॥ ४५९ ॥

नव षट्कं चतुष्कं च च द्वितीयावरणस्य बन्धस्थानानि ।
भुजाकाराल्पतराणि च अवस्थितान्यपि च जानीहि ॥ ४५९ ॥

अर्थ—दूसरे दर्शनावरणके ९ प्रकृतिरूप, स्त्यानादि तीनके विना ६ प्रकृतिरूप, और निद्रा-प्रचलाकेभी विना ४ प्रकृतिरूप—इसतरह ३ वंधस्थान हैं; तथा उनके भुजाकार अल्पतर और अवस्थित वंध-ये तीन वंध होते हैं। 'अपि' शब्दसे अवक्तव्यवंधभी होता है ॥ ४५९ ॥

इसी वातको प्रगट करते हैं,—

णव सासणोत्ति बंधो छच्चेव अपुव्वपढमभागोत्ति ।
चत्तारि होंति तत्तो सुहुमकसायस्स चरिमोत्ति ॥ ४६० ॥

नव सासन इति वन्धः षट्चैव अपूर्वप्रथमभाग इति ।
चतस्रो भवन्ति ततः सूक्ष्मकषायस्य चरम इति ॥ ४६० ॥

अर्थ—दर्शनावरणका ९ प्रकृतिरूपवंध सासादनगुणस्थानपर्यंत होता है। इसके ऊपर अपूर्वकरण गुणस्थानके पहले भागतक दर्शनावरणकी ६ प्रकृतियोंकाही वंध होता है। इसके बाद सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानके अंतसमयतक उसीकी ४ प्रकृतियोंका वंध होता है ॥ ४६० ॥

खीणोत्ति चारि उदया पंचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु ।
एक्के उदयं पत्ते खीणदुचरिमोत्ति पंचुदया ॥ ४६१ ॥

क्षीण इति चतस्र उदयाः पञ्चसु निद्रासु द्वयोर्निद्रयोः ।
एकस्यामुदयं प्राप्तायां क्षीणद्विचरम इति पञ्चोदयाः ॥ ४६१ ॥

अर्थ—दर्शनावरणकी चक्षुदर्शनावरणादि चार प्रकृतियोंका उदयरूप स्थान जागृताव-स्थावाले जीवके क्षीणकषायगुणस्थानपर्यंत है, और निद्रावान् जीवके प्रमत्तगुणस्थानपर्यंत

पांच निद्राओंमेंसे एकका उदय होनेपर पांचप्रकृतिरूप स्थान तथा क्षीणकषायके अंतके समीपके समयतक निद्रा और प्रचला–इन दो निद्राओंमेंसे एकका उदय होनेपर दर्शनावरणकी पांच प्रकृतिरूप उदयस्थान जानना ॥ ४६१ ॥

मिच्छादुवसंतोत्ति य अणियट्टीखवगपढमभागोत्ति ।
णवसत्ता खीणस्स दुचरिमोत्ति य छच्चदूवरिमे ॥ ४६२ ॥

मिथ्यात्वादुपशान्त इति च अनिवृत्तिक्षपकप्रथमभाग इति ।
नवसत्ता क्षीणस्य द्विचरम इति च षट्चतुरुपरिमे ॥ ४६२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानसे उपशांतकषाय गुणस्थानतक और क्षपक श्रेणीमें अनिवृत्तिकरणके पहले भागतक दर्शनावरणका ९ प्रकृतिरूप सत्त्वस्थान है। इनके ऊपर क्षीणकषायगुणस्थानके अंतके पहले समयतक दर्शनावरणकी ६ प्रकृतिरूप, तथा उसके बाद अंतके समयमें ४ प्रकृतिरूप स्थान है ॥ ४६२ ॥

आगे मोहनीयके वंधादिकी अपेक्षा स्थान कहते हैं,—

बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव णव पंच ।
चदुतियदुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ ४६३ ॥

द्वाविंशतिरेकविंशतिः सप्तदश त्रयोदशैव नव पञ्च ।
चतुस्त्रिकद्विकं चैकं बन्धस्थानानि मोहस्य ॥ ४६३ ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मके बंधस्थान २२, २१, १७, १३, ९, ५, ४, ३, २ और १ प्रकृतिरूप जानना चाहिये ॥ ४६३ ॥

अब उन्हीं स्थानोंको गुणस्थानोंकी अपेक्षा दिखाते हैं,—

बावीसमेक्कवीसं सत्तर सत्तार तेर तिसु णवयं ।
थूले पणचदुतियदुगमेक्कं मोहस्स ठाणाणि ॥ ४६४ ॥

द्वाविंशतिरेकविंशतिः सप्तदश सप्तदश त्रयोदशं त्रिषु नवकम् ।
स्थूले पञ्चचतुष्कत्रिकद्विकमेकं मोहस्य स्थानानि ॥ ४६४ ॥

अर्थ—उक्त मोहनीयके बंधस्थानोंमें मिथ्यादृष्टि आदि देशसंयतगुणस्थानतक क्रमसे २२, २१, १७, १७, १३ बंधस्थान हैं। प्रमत्तआदि तीन गुणस्थानोंमें प्रत्येकमें नौ नौके स्थान हैं। स्थूल अर्थात् नवमे गुणस्थानमें ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिरूप ५ स्थान हैं ॥ ४६४ ॥

अब उन स्थानोंमें ध्रुव बंधी (जिनका निरंतर बंध हो) प्रकृतियों कहते हैं;—

उगुवीसं अट्ठारस चोद्दस चोद्दस य दस य तिसु छक्कं ।
थूले चदुतिदुगेक्कं मोहस्स य होंति धुवबंधा ॥ ४६५ ॥

एकोनविंशतिरष्टादश चतुर्दश चतुर्दश च दश च त्रिषु षट्कम् ।
स्थूले चतुस्त्रिद्विकैकं मोहस्य च भवन्ति ध्रुवबन्धाः ॥ ४६५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थानके उक्त भागोंतक क्रमसे १९, १८, १४, १४, १०, प्रमतादि तीनमें ६-६-६, नवमेमें ४-३-२-१, इसप्रकार मोहनीयकी ध्रुवबंधी प्रकृतियां हैं ॥ ४६५ ॥

सगसंभवधुवबंधे वेदेक्के दोजुगाणमेक्के य ।
ठाणो वेदजुगाणं भंगहदे होंति तब्भंगा ॥ ४६६ ॥
स्वकसंभवध्रुवबन्धे वेदे एका द्वियुगयोरेका च ।
स्थानं वेदयुगानां भङ्गहते भवन्ति तद्भङ्गाः ॥ ४६६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ध्रुवप्रकृतियोंमें यथासंभव तीन वेदोंमेंसे एक वेद, तथा हास्यका युगल और रतिका जोड़ा—इन दो जोड़ाओंमेंसे एक एक मिलानेसे स्थान होते हैं। तथा वेदके प्रमाणको युगलके प्रमाणके साथ गुणाकार करनेसे स्थानोंके भंग होते हैं ॥ ४६६ ॥

आगे उन भंगोंकी संख्या कहते हैं;—

छब्बावीसे चदु इगिवीसे दो द्दो हवंति छट्ठोत्ति ।
एक्केक्कमदो भंगो बंधट्ठाणेसु मोहस्स ॥ ४६७ ॥
षट् द्वाविंशतौ चत्वार एकविंशतौ द्वौ द्वौ भवन्ति षष्ठ इति ।
एकैकोतो भङ्गो बन्धस्थानेषु मोहस्य ॥ ४६७ ॥

अर्थ—मोहनीयके बन्धस्थानोंमेंसे २२ के ६ भंग, २१ प्रकृतिरूपके ४, और इसके ऊपर प्रमत्तगुणस्थानतक दो दो, इसके आगे सब स्थानोंमें एक एक—इसप्रकार स्थानोंके भङ्ग हैं ऐसा जानना ॥ ४६७ ॥

अब उक्त १० बंधस्थानोंके भुजाकार बंधादिकी संख्या दिखाते हैं,—

दस वीसं एक्कारस तेत्तीसं मोहबंधठाणाणि ।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य सामण्णे ॥ ४६८ ॥
दशसु विंशतिरेकादश त्रयस्त्रिंशत् मोहबन्धस्थानानि ।
भुजाकाराल्पतराणि च अवस्थितान्यपि च सामान्ये ॥ ४६८ ॥

अर्थ—पहले कहे हुए मोहनीयके १० बंधस्थानोंमें सामान्यरीतिसे भुजाकारबंध २० हैं, अल्पतर बंध ११ हैं, और अवस्थित बंध ३३ हैं ॥ ४६८ ॥

आगे इन भुजाकारादि बंधोंका लक्षण कहते हैं,—

अप्पं बंधंतो बहुबंधे बहुगादु अप्पबंधेवि ।
उभयत्थ समे बंधे भुजगारादी कमे होंति ॥ ४६९ ॥
अल्पं बध्नतो बहुबन्धे बहुकादल्पबन्धेपि ।
उभयत्र समे बन्धे भुजाकारादयः क्रमेण भवन्ति ॥ ४६९ ॥

अर्थ—पहले थोड़ी प्रकृतियोंका बंध किया हो पीछे बहुत प्रकृतियोंके बांधनेपर भुजाकार, पहले बहुतका बध किया था पीछे थोड़ी प्रकृतियोंके बंध करने पर अल्पतर, और पहले पीछे दोनों समयोमें समान (एकसा) बंध होनेपर अवस्थित बंध होता है। तथा 'अपि' शब्दसे इन स्थानमें **अवक्तव्यबंध** भी होता है, ऐसा आचार्य महाराजने प्रकट किया है ॥ ४६९ ॥

आगे सामान्य अवक्तव्यभंगोंकी संख्या कहते हैं—

सामण्णअवत्तव्वो ओदरमाणम्मि एक्कयं मरणे ।
एक्कं च होदि एत्थवि दो चेव अवट्ठिदा भंगा ॥ ४७० ॥

सामान्यावक्तव्य अवतरमाने एको मरणे ।
एकश्च भवति अत्रापि द्वौ चैव अवस्थितौ भङ्गौ ॥ ४७० ॥

अर्थ—सामान्यपनेसे (भंगोंकी विवक्षाके विना) अवक्तव्यबंध उपशमश्रेणीसे उतरनेमें १ है, और वहां पर मरण होने से एक होता है, इसतरह दो बंध हैं। और दूसरे समय आदिमें उसीप्रकार बंध होनेपर अवस्थित बंध भी यहां पर दो ही हैं ॥ ४७० ॥

अब विशेषपनेसे भुजाकारादिबंधोंकी संख्या कहते हैं—

सत्तावीसहियसयं पणदालं पंचहत्तरिहियसयं ।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि विसेसेण ॥ ४७१ ॥

सप्तविंशाधिकशतं पञ्चचत्वारिंशत् पञ्चसप्तत्यधिकशतम् ।
भुजाकारालपतराणि च अवस्थितान्यपि विशेषेण ॥ ४७१ ॥

अर्थ—विशेषपनेसे अर्थात् भंगोंकी अपेक्षा १२७ भुजाकार बंध हैं, अल्पतर बंध ४५ हैं, और अवक्तव्यबंध १७५ हैं ॥ ४७१ ॥

अब उन १२७ को दिखाते हैं,—

णभ चउवीसं बारस वीसं चउरट्ठवीस दो द्दो य ।
थूले पणगादीणं तियतिय मिच्छादिभुजगारा ॥ ४७२ ॥

नभश्चतुर्विंशं द्वादश विंशं चतुरष्टविंशं द्वौ द्वौ च ।
स्थूले पञ्चकादीनां त्रयस्त्रयो मिथ्यादिभुजाकाराः ॥ ४७२ ॥

अर्थ—भंगोंकी विवक्षासे मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें भुजाकार बंध क्रमसे शून्य, २४, १२, २०, २४, २८, २, २, और अनिवृत्तिकरणमें पांच आदिके तीन तीन। इसप्रकार कुल भुजाकार बंधोंकी संख्या १२७ होती है ॥ ४७२ ॥

अब ४५ अल्पतरबंधोंको कहते हैं;—

अप्पदरा पुण तीसं णभ णभ छद्दोण्णि दोण्णि णभ एक्कं ।
थूले पणगादीणं एक्केक्कं अंतिमे सुण्णं ॥ ४७३ ॥

अल्पतराः पुनः त्रिंशत् नभो नभः षट् द्वौ द्वौ नभ एकः ।
स्थूले पञ्चकादीनामेकैकः अन्तिमे शून्यम् ॥ ४७३ ॥

अर्थ—अल्पतर बंध मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें ३०, शून्य, शून्य, ६, २, २, शून्य, १ प्रकृतिरूप क्रमसे अपूर्वकरणतक होता है। स्थूल कषायवाले नवमे गुणस्थानमें पांच आदि प्रकृतिरूपका एक एक ही अल्पतर बंध होता है; किंतु अन्तके पांचवें भागमें शून्य अर्थात् अल्पतर बंध नहीं होता ॥ ४७३ ॥ इसप्रकार १२७ भुजाकार, और ४५ अल्पतर तथा ३ अवक्तव्य बंध जिनका कि स्वरूप आगे कहेंगे—इसतरह सब मिलकर १७५ बंधोंके भेद हैं। इसके सिवाय इन सभीमें यदि जितनी जितनी प्रकृतियोंका पहले समयमें बंध हो उतनीही प्रकृतियोंका द्वितीयादि समयमें भी बंध हो तो वहांपर "अवस्थितबंध" जानना चाहिये। अतएव अवस्थितबंधके भी भेद १७५ ही समझने चाहिये।

भेदेण अवत्तव्वा ओदरमाणम्मि एक्कयं मरणे ।
दो चेव होंति एत्थवि तिण्णेव अवट्ठिदा भंगा ॥ ४७४ ॥

भेदेन अवक्तव्या अवतरति एकको मरणे ।
द्वौ चैव भवत अत्रापि त्रय एव अवस्थिता भङ्गाः ॥ ४७४ ॥

अर्थ—भंगकी विवक्षाके विशेषसे अवक्तव्यबंध, सूक्ष्मसांपरायसे उतरनेमें एक होता है। अर्थात् १० वेंसे उतरके जब नवमेमें आता है तब संज्वलन लोभका बंध करता है। तथा उसी १०वेंमें मरणकर देव असंयत हुआ तब दो अवक्तव्य बंध होते हैं। क्योंकि देव होकर १७ प्रकृतियोंको दोप्रकारसे बांधता है। इसतरह ३ अवक्तव्य बंध हुए। अतएव अवस्थितबंधके भंग यहांभी तीन ही समझने चाहिये। क्योंकि द्वितीयादि समयमें समान प्रकृतियोंका जहां बंध होता है, वहां अवस्थित बंध कहा जाता है ॥ ४७४ ॥ इसप्रकार मोहनीयकर्मके सामान्य विशेष रूपसे भुजाकारादि बंध कहे हैं।

अब मोहनीयके उदयस्थान कहते हैं;—

दस णव अट्ठ य सत्त य छप्पण चत्तारि दोण्णि एक्कं च ।
उदयट्ठाणा मोहे णव चेव य होंति णियमेण ॥ ४७५ ॥

दश नवाष्ट च सप्त च षट् पञ्च चत्वारि द्वे एकं च ।
उदयस्थानानि मोहे नव चैव च भवन्ति नियमेन ॥ ४७५ ॥

अर्थ—मोहनीयके उदयस्थान १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, २, १ प्रकृतिरूप ९ हैं ऐसा नियमसे जानना ॥ ४७५ ॥

मिच्छं मिस्सं सगुणे वेदगसम्मेव होदि सम्मत्तं ।
एक्का कसायजादी वेददुजुगलाणमेक्कं च ॥ ४७६ ॥

मिथ्यं मिश्रं स्वगुणे वेदकसम्ये एव भवति सम्यक्त्वम् ।
एका कषायजातिः वेदद्वियुगलयोरेकं च ॥ ४७६ ॥

अर्थ—मोहनीयकी उदय प्रकृतियोंमेसे मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीयका उदय अपने २-पहले और तीसरे गुणस्थानमें है। तथा सम्यक्त्वमोहनोयका उदय वेदकसम्यक्त्वी जीवके चौथेसे लेकर चार गुणस्थानतक है। इसप्रकार गुणस्थानोंमें उदयका नियम दिखाकर उदयके कूटोंको कहते हैं। अनंतानुवंधी आदि चार कषायोंकी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार जाति उसमेंसे एक कषायजाति, तीन वेदोंमेंसे एक वेदका उदय, हास्य-शोकका युगल और रति-अरतिका जोड़ा इन दो युगलोंमेंसे एक एक प्रकृतिका उदय पाया जाता है॥ ४७६ ॥

भयसहियं च जुगुच्छासहियं दोहिंवि जुदं च ठाणाणि ।
मिच्छादिअपुव्वंते चत्तारि हवंति णियमेण ॥ ४७७ ॥

भयसहितं च जुगुप्सासहितं द्वाभ्यामपि युतं च स्थानानि ।
मिथ्याद्यपूर्वान्ते चत्वारि भवन्ति नियमेन ॥ ४७७ ॥

अर्थ—एककालमें एक जीवके भयसहित ही प्रकृतियोंका उदय होनेसे, अथवा केवल जुगुप्सासहित ही उदय होनेसे, अथवा भय-जुगुप्सा दोनों सहितही उदय होनेसे अथवा 'च' शब्दसे दोनोंही करके रहित उदय होनेसे कूटके आकार चार चार मिथ्यादृष्टिसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थानपर्यंत निश्चयसे होते हैं। इसीकारण यहांपर चार चार कूट कहेगये हैं॥ ४७७ ॥ इनकी विशेष रचना बड़ी टीकामें विस्तारसे कही है सो वहांसे जानना।

आगे मिथ्यादृष्टिमें वा असंयतादि चार गुणस्थानोंमें विशेष बात कहते हैं;—

अणसंजोजिदसम्मे मिच्छं पत्ते ण आवलित्ति अणं ।
उवसमखइये सम्मं ण हि तत्थवि चारि ठाणाणि ॥ ४७८ ॥

अनसंयोजितसम्ये मिथ्यं प्राप्ते न आवलीति अनम् ।
उपशमक्षायिके सम्यं न हि तत्रापि चत्वारि स्थानानि ॥ ४७८ ॥

अर्थ—अनंतानुवंधीकषायके विसंयोजन (अन्यप्रकृतिरूप) करनेवाले क्षायोपशमसम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वकर्मोदयसे मिथ्यात्वगुणस्थानमें प्राप्त होनेपर आवलिमात्रकालतक अनंतानुवंधीकषायका उदय नहीं होता, क्योंकि विसंयोजन करनेके पोछे प्रथम गुणस्थानमें प्राप्त होनेपर पहले समयमें ही वंधी हुई अनंतानुवंधीको आवलिप्रमाणकालतक अपकर्षणद्वारा उदयावलीमें लानेकी सामर्थ्य नहीं है। इस अपेक्षा मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें अनंतानुवंधीरहित चार कूट औरभी जानने। तथा उपशमसम्यक्त्वमें और क्षायिकसम्यक्त्वमें सम्यक्त्वमोहनोयका उदय नहीं है सो वहांपरभी उपशम और क्षायिककी अपेक्षा असंयतादि चार गुणस्थानोंमें चार चार कूट दूसरे होते हैं। असंयतादिक चार गुणस्थानोंमें पहले जो चार कूट सम्यक्त्वमोहनीयसहित बताये हैं सो वेदकसम्यक्त्वकी अपेक्षासे हैं॥ ४७८ ॥

पुव्विल्लेसुवि मिलिदे अड चउ चत्तारि चदुसु अट्ठेव ।
चत्तारि दोण्णि एक्कं ठाणा मिच्छादिसुहुमंते ॥ ४७९ ॥

पूर्व्वेष्वपि मिलितेपु अष्ट चत्वारि चत्वारि चतुर्षु अष्टैव ।
चत्वारि द्वे एकं स्थानानि मिथ्यादिसूक्ष्मान्ते ॥ ४७९ ॥

अर्थ—इन कूटोंमें पहले कहे हुए कूट मिलानेसे मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानपर्यंत क्रमसे ८, ४, ४, असंयतादि चारमें आठ आठ, और आगे ४, २, १ कूट जानना चाहिये ॥ ४७९ ॥

आगे इनमें अपुनरुक्तस्थानोंको गुणस्थानोंमें कहते हैं;—

दसणवणवादि चउतियतिट्ठाण णवट्ठसगसगादि चऊ ।
ठाणा छादि तियं च य चदुवीसगदा अपुव्वोत्ति ॥ ४८० ॥

दशनवनवादि चतुस्त्रिकत्रिस्थानं नवाष्टसप्तसप्तादि चतुष्कम् ।
स्थानानि षडादि त्रिकं च च चतुर्विंशगता अपूर्व इति ॥ ४८० ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानोंमें क्रमसे दशआदिके चार उदयस्थान, नव आदिके तीन उदयस्थान, और तीसरेमें भी नव आदिके ही तीन उदयस्थान हैं। असंयतादि चार गुणस्थानोंमें क्रमसे नव आदिके चार, आठ आदिके चार, सात आदिके चार, सात आदिके चार उदयस्थान हैं। तथा अपूर्वकरण गुणस्थानमें छह आदिके तीन स्थान हैं। वे ६, ५, ४ प्रकृतिरूप हैं। इसप्रकार अपूर्वकरणपर्यंत सब स्थान प्रत्येक चौवीस चौवीस भङ्गों (भेदों) से सहित हैं ॥ ४८० ॥ यहांपर किसी किसी स्थानको संख्या एकसो होनेपरभी प्रकृतियोंके बदलनेसे अपुनरुक्तपना ही है।

एक्कं य छक्केयारं एयारेयारसेव णव तिण्णि ।
एदे चउवीसगदा चदुवीसेयार दुगठाणे ॥ ४८१ ॥

एकं च षट्कमेकादश एकादशैकादशैव नव त्रीणि ।
एतानि चतुर्विंशतिगतानि चतुर्विंशैकादश द्विकस्थाने ॥ ४८१ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें मिलकर दस प्रकृतिरूप १ स्थान है[1], नव प्रकृतिरूप ६ स्थान हैं, ८ प्रकृतिरूप, ७ प्रकृतिरूप तथा ६ प्रकृतिरूप ग्यारह ग्यारह स्थान हैं, पांच प्रकृतिरूप ९ स्थान हैं, चार प्रकृतिरूप ३ स्थान हैं। ये सब स्थान चौबीस चौबीस भङ्गोंसे सहित हैं। तथा दो प्रकृतिरूप १ स्थानके २४ भंग और एक प्रकृतिरूप एक स्थानके ११ भंग हैं ॥ ४८१ ॥

आगे इन दो और एक प्रकृतिरूप दो स्थानोंके भंगोंका विधान कहते हैं;—

---

१ यह स्थान मिथ्यादृष्टिके ही होता है।

उदयट्ठाणं दोण्हं पणबंधे होदि दोण्हमेकस्स ।
चदुविहबंधट्ठाणे सेसेसेयं हवे ठाणं ॥ ४८२ ॥
उदयस्थानं द्वयोः पञ्चबन्धे भवति द्वयोरेकस्य ।
चतुर्विधबन्धस्थाने शेषेष्वेकं भवेद् स्थानम् ॥ ४८२ ॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पांच प्रकृतिके बंधस्वरूप तथा चार प्रकृतिके बंध-स्वरूप-इसप्रकार दो भागोंमें तीन वेद और चार संज्वलनकषायोंका उदय होता है। अतएव वहांपर चार चार कषाय एकएक वेदके साथ उदयरूप होनेसे एक भागके १२ भंग होते हैं और दोनोंके मिलकर २४ भंग होते हैं; किंतु कनकनन्दि आचार्यके पक्षमें जिस जगह ४ प्रकृतियोंका बंध पायाजाता हैं उसके अंतसमयमें वेदोंके उदयका अभाव ही हैं, अतएव वहांपर, और तीन दो एक प्रकृतिके बंध स्थानोंमें तथा अबंध स्थानमें क्रमसे ४, ३, १, १, १ संज्वलन कषायोंमेंसे एक एकका ही उदय रहता है। अतएव वहांपर क्रमसे ४, ३, २, १, १, भंग होते हैं। इसप्रकार एकप्रकृतिरूप बंधस्थानमें ११ ही भंग सिद्ध हुए ॥ ४८२ ॥

अब इसी अर्थके प्रगट करनेकेलिये चार गाथासूत्र कहते हैं;—

अणियट्टिकरणपढमा संढित्थीणं च सरिस उदयद्धा ।
तत्तो मुहुत्तअंते कमसो पुरिसादिउदयद्धा ॥ ४८३ ॥
अनिवृत्तिकरणप्रथमात् षण्ढस्त्रियोः च सदृश उदयाद्धा ।
ततो मुहूर्तान्तः क्रमशः पुरुषाद्युदयाद्धा ॥ ४८३ ॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरणगुणस्थानके प्रथमभागके पहले समयसे लेकर नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका काल समान हैं, परंतु थोड़ा है। इससे पुरुषवेद और संज्वलनक्रोधादि चारका उदय काल यथासंभव अंतर्मुहूर्त अंतर्मुहूर्त क्रमसे अधिक अधिक जानना ॥ ४८३ ॥

पुरिसोदएण चडिदे बंधुदयाणं च दुगवदुच्छित्ती ।
सेसोदयेण चडिदे उदयदुचरिमम्हि पुरिसबंधछिदी ॥ ४८४ ॥
पुरुषोदयेन चटिते बन्धोदययोश्च युगपदुच्छित्तिः ।
शेषोदयेन चटिते उदयद्विचरमे पुरुषबन्धच्छित्तिः ॥ ४८४ ॥

अर्थ—पुरुषवेदके उदय सहित जीवके श्रेणी चढ़नेपर पुरुषवेदकी बंधव्युच्छित्ति और उदयव्युच्छित्ति एक कालमें होती हैं। अथवा 'च' शब्दसे बंधकी व्युच्छित्ति उदयके द्विच-रमसमयमें होती है। और शेष स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेदके उदयसहित श्रेणी चढ़नेवाले जीवके पुरुषवेदकी बंधव्युच्छित्ति उदयके द्विचरमसमयमें अर्थात् अंतसमयके समीपके समयमें होती है ॥ ४८४ ॥

पणबंधगम्मि बारस भंगा दो चेव उदयपयडीओ ।
दोउदये चदुबंधे बारेव हवंति भंगा हु ॥ ४८५ ॥

पञ्चबन्धके द्वादश भङ्गा द्वे चैव उदयप्रकृती ।
द्व्युदये चतुर्बन्धे द्वादशैव भवन्ति भङ्गा हि ॥ ४८५ ॥

अर्थ—जहांपर पांच प्रकृतियोंका बंध है ऐसे अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें कषाय और वेद इन दो प्रकृतियोंका ही उदय है, इसकारण चार कषाय और ३ वेदको गुणाकार करनेसे १२ भंग होते हैं। इसीप्रकार जहां चार प्रकृतियोंका बंध होता है वहांपरभी दोके उदयरूप स्थानमें १२ ही भंग होते हैं ॥ ४८५ ॥

कोहस्स य माणस्स य मायालोहाणियट्टिभागम्हि ।
चदुतिदुगेक्कभंगा सुहुमे एक्को हवे भंगो ॥ ४८६ ॥

क्रोधस्य च मानस्य च मायालोभानिवृत्तिभागे ।
चतुस्त्रिद्विकैकभङ्गाः सूक्ष्मे एको भवेत् भङ्गः ॥ ४८६ ॥

अर्थ—क्रोध मान माया और लोभके उदयरूप अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके जिन चार भागोंमें ४, ३, २, १ के बंध हैं उनमें क्रमसे कषाय बदलनेकी अपेक्षाही ४, ३, २, १ भंग हैं। और सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानमें सूक्ष्म लोभके उदयरूपस्थानमें १ ही भंग है। इसप्रकार ११ भंग होते हैं ॥ ४८६ ॥

आगे सब उदयस्थानोंकी तथा उनकी प्रकृतियोंकी संख्या कहते हैं;—

बारससयतेसीदोठाणवियप्पेहिं मोहिदा जीवा ।
पणसीदिसदसगेहिं पयडिवियप्पेहिं ओघम्मि ॥ ४८७ ॥

द्वादशशतत्र्यशीतिस्थानविकल्पैर्मोहिता जीवाः ।
पञ्चाशीतिशतसप्तभिः प्रकृतिविकल्पैरोघे ॥ ४८७ ॥

अर्थ—गुणस्थानोंमें मोहनीयकर्मके सब १२८३ उदयस्थानोंमें तथा ८५०७ प्रकृतिभेदोंमें जगतके चराचर जीव मोहित हो रहे हैं ॥ ४८७ ॥

अब अपुनरुक्तस्थानोंकी तथा उनकी प्रकृतियोंका संख्या कहते हैं,—

एक्क य छक्केयारं दससगचदुरेक्कयं अपुणरुत्ता ।
एदे चदुवीसगदा बार दुगे पंच एक्कम्मि ॥ ४८८ ॥

एकं च षट्कैकादश दशसप्तचतुरेकमपुनरुक्तानि ।
एतानि चतुर्विंशगतानि द्वादश द्विके पञ्च एकस्मिन् ॥ ४८८ ॥

अर्थ—दशप्रकृतिरूप १ स्थान, नवादि प्रकृतिरूप क्रमसे ६, ११, १०, ७, ४, १

स्थान अपुनरुक्त हैं। इन ४० स्थानोंके २४ चावोस भंग (भेद) हैं। दो प्रकृतिरूप स्थानके १२ भंग और एक प्रकृतिरूप स्थानके ५ भंग हैं॥ ४८८॥

णवसयसत्तत्तरिहिं ठाणवियप्पेहिं मोहिदा जीवा।
इगिदालूणत्तरिसयपयडिवियप्पेहिं णायव्वा॥ ४८९॥

नवशतसप्तसप्ततिभिः स्थानविकल्पैः मोहिता जीवाः।
एकचत्वारिंशदेकोनसप्ततिशतप्रकृतिविकल्पैः ज्ञातव्याः॥ ४८९॥

अर्थ—इसप्रकार ९७७ स्थानोंके भेदसे तथा ६९४१ प्रकृतियोंके भेदसे तीनलोकके चराचर जीव मोहित हो रहे हैं। इसीकारण संसारमें भटकते हैं, ऐसा जानना॥ ४८९॥

आगे मोहनीयकर्मके उदयस्थान तथा उनकी प्रकृतियोंको गुणस्थानोंमें उपयोगादिकी अपेक्षासे कहते हैं,—

उदयट्ठाणं पयडिं सगसगउवजोगजोगआदीहिं।
गुणयित्ता मेलविदे पदसंखा पयडिसंखा य॥ ४९०॥

उदयस्थानं प्रकृतिं स्वकस्वकोपयोगयोगादिभिः।
गुणयित्वा मेलपिते पदसंख्या प्रकृतिसंख्या च॥ ४९०॥

अर्थ—४७९ वीं गाथासे कहीहुई उदयस्थानोंकी संख्या और उन स्थानोंकी प्रकृतियोंकी संख्याको अपने अपने गुणस्थानोंमें संभवित उपयोग—योग और आदि शब्दसे संयम देशसंयम लेश्या सम्यक्त्व इनसे गुणा करके फिर सबको जोड़नेसे जो प्रमाण होवे उतनी ही वहांपर मोहकी स्थानसंख्या और प्रकृतियोंकी संख्या जानना चाहिये॥ ४९०॥

यही दिखाते हैं;—

मिच्छदुगे मिस्सतिये पमत्तसत्ते जिणे य सिद्धे य।
पण छस्सत्त दुगं च य उवजोगा होंति दो चेव॥ ४९१॥

मिथ्यद्विके मिश्रत्रये प्रमत्तसप्तके जिने च सिद्धे च।
पञ्च षट् सप्त द्विकं च च उपयोगा भवन्ति द्वौ चैव॥ ४९१॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदिक दो गुणस्थानोंमें, मिश्र आदिक ३ में, प्रमत्तादि ७ में, सयोगी अयोगीमें, और सिद्ध जीवोंमें उपयोग क्रमसे ५, ६, ७, २ और २ होते हैं॥ ४९१॥ इन उपयोगोंसे स्थानसंख्याका तथा प्रकृतिसंख्याका गुणा करना चाहिये॥

ऐसा होनेपर उन भेदोंकी सब संख्या कितनी हुई सो बताते हैं,—

णवणउदिसगसयाहियसत्तसहस्सप्पमाणमुदयस्स।
ठाणवियप्पे जाणसु उवजोगे मोहणीयस्स॥ ४९२॥

नवनवतिसप्तशताधिकसप्तसहस्रप्रमाणमुदयस्य।
स्थानविकल्पा जानीहि उपयोगे मोहनीयस्य॥ ४९२॥

अर्थ—इसप्रकार गुणाकार करनेसे उपयोगकी अपेक्षासे मोहनीयके उदय स्थानोंके भेद ७७९९ जानने चाहिये ॥ ४९२ ॥

अब उपयोगकी अपेक्षासे प्रकृतिसंख्या कहते हैं;—

एकावण्णसहस्सं तेसीदिसमण्णियं वियाणाहि ।
पयडीणं परिमाणं उवजोगे मोहणीयस्स ॥ ४९३ ॥

एकपञ्चाशत्सहस्रं त्र्यशीतिसमन्वितं विजानीहि ।
प्रकृतीनां परिमाणं उपयोगे मोहनीयस्य ॥ ४९३ ॥

अर्थ—उपयोगके आश्रयसे मोहनीयकी प्रकृतियोंका प्रमाण ५१०८३ जानना चाहिये ॥ ४९३ ॥

आगे योगके आश्रय (अपेक्षा) से संख्या कहते हैं,—

तिसु[1] तेरं दस मिस्से णव सत्तसु छट्ठयम्मि एक्कारा ।
जोगिम्मि सत्त जोगा अजोगिठाणं हवे सुण्णं ॥ ४९४ ॥

त्रिषु त्रयोदश दश मिश्रे नव सप्तसु षष्ठे एकादश ।
योगिनि सप्त योगा अयोगिस्थानं भवेत् शून्यम् ॥ ४९४ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि-सासादन-असंयत इन तीन गुणस्थानोंमें १३ योग हैं, मिश्र गुणस्थानमें १०, देशसंयत व अप्रमत्तादि-कुल सात गुणस्थानोंमें ९ योग हैं, छठे प्रमत्तगुणस्थानमें ११ योग हैं, सयोगकेवलीके ७ योग हैं, और अयोगी गुणस्थानमें शून्य है अर्थात् कोई योग नहीं हैं ॥ ४९४ ॥

अब मिश्रयोगसहित तथा केवल पर्याप्तयोगयुक्त गुणस्थानोंमें विशेषपना दिखाते हैं;—

मिच्छे सासण अयदे पमत्तविरदे अपुण्णजोगगदं ।
पुण्णगदं च य सेसे पुण्णगदे मेलिदं होदि ॥ ४९५ ॥

मिथ्ये सासने अयते प्रमत्तविरते अपूर्णयोगगतम् ।
पूर्णगतं च च शेषे पूर्णगते मिलितं भवति ॥ ४९५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व-सासादन-असंयत और प्रमत्तविरत इन चार गुणस्थानोंमें अपर्याप्तयोगको प्राप्त तथा पर्याप्तयोगको प्राप्त इन दोनोंको मिलाकर स्थानप्रमाण और प्रकृतियोंका प्रमाण होता है । तथा शेष गुणस्थानोंमें केवल पर्याप्तयोगहीको प्राप्त स्थानप्रमाण और प्रकृतिप्रमाण होता है ॥४९५॥

आगे जुदे स्थापन किये योगोंमें विशेषता दो गाथाओंसे कहते हैं;—

सासणअयदपमत्ते वेगुव्वियमिस्स तं च कम्मयियं ।
ओरालमिस्स हारे अडसोलडवग्ग अट्ठवीससयं ॥ ४९६ ॥

---

[1] यह गाथा जीवकांडमें भी आ गई है ।

सासनायतप्रमत्ते वैगूर्विकमिश्रं तच्च कार्मणम् ।
औरालमिश्रमाहारे अष्टषोडशाष्टवर्गं अष्टविंशशतम् ॥ ४९६ ॥

अर्थ—सासादनगुणस्थानके वैक्रियिकमिश्रयोगमें आठका वर्ग अर्थात् ६४ स्थान हैं। असंयत-गुणस्थानके वैक्रियिकमिश्रयोग और कार्माणयोगमें सोलहके वर्गप्रमाण अर्थात् २५६ स्थान हैं। तथा असंयतके औदारिकमिश्रयोगमें ६४ स्थान हैं। और प्रमत्तगुणस्थानके आहारक-आहारकमिश्रयोगमें १२८ स्थान हैं ॥ ४९६ ॥

आगे उक्त स्थानोंके प्रकृतिप्रमाणमें कम कियेहुए वेदोंका ग्रंथकर्ता आपही निषेध करते हैं;—

णत्थि णउंसयवेदो इत्थीवेदो णउंसइत्थिदुगे ।
पुव्वुत्तपुण्णजोगगचदुसुट्ठाणेसु जाणेज्जो ॥ ४९७ ॥

नास्ति नपुन्सकवेदः स्त्रीवेदो नपुंसकस्त्रीद्विकम् ।
पूर्वोक्तापूर्णयोगगचतुर्षु स्थानेषु ज्ञातव्यम् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—पहले कहे हुए अपर्याप्तयोगको प्राप्त चार स्थानोंमें क्रमसे नपुंसकवेद नहीं, स्त्रीवेद नहीं, और शेष दोमें नपुंसकवेद तथा स्त्रीवेद ये दोनोंही नहीं हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ४९७ ॥

अब योगकी अपेक्षा सब स्थानोंका जोड़ कहते हैं—

तेवण्णणवसयाहियबारसहस्सप्पमाणमुदयस्स ।
ठाणवियप्पे जाणसु जोगं पडि मोहणीयस्स ॥ ४९८ ॥

त्रिपञ्चाशन्नवशताधिकद्वादशसहस्रप्रमाणमुदयस्य ।
स्थानविकल्पान् जानीहि योगं प्रति मोहनीयस्य ॥ ४९८ ॥

अर्थ—इसप्रकार मोहनीयकर्मके उदयस्थानोंके भेद योगकी अपेक्षासे १२९५३ जानना चाहिये ॥ ४९८ ॥

आगे प्रकृतियोंके भेदोंकी संख्या कहते हैं;—

विदिये विगिपणगयदे खदुणवएक्कं खअट्ठचउरो य ।
छट्ठे चउसुण्णसगं पयडिवियप्पा अपुण्णम्हि ॥ ४९९ ॥

द्वितीये द्व्येकपञ्चकमयते खद्विनवैकं खाष्टचत्वारश्च ।
षष्ठे चतुःशून्यसप्त प्रकृतिविकल्पा अपूर्णे ॥ ४९९ ॥

अर्थ—सासादनगुणस्थानके वैक्रियिकमिश्रयोगमें दो एक पांच अर्थात् ५१२, असंयतके वैक्रियिकमिश्र और कार्माणमें शून्य दो नव एक अर्थात् १९२०, 'च' शब्दसे असंयतके औदारिकमिश्रयोगमें शून्य आठ चार अर्थात् ४८० और छठे प्रमत्तगुणस्थानके आहारक

युगलमें चार शून्य सात ७०४ अंकरूप प्रकृतियोंके भेद अपर्याप्त अवस्थामें होते हैं। इन भेदोंको पहले भेदोंमें ही जोड़कर मिलाना चाहिये ॥ ४९९ ॥

अब सब भेदोंको मिलकर जो संख्या हुई उसे बताते हैं;—

पणदालछस्सयाहियअट्ठासीदीसहस्समुदयस्स ।
पयडीणं परिसंखा जोगं पडि मोहणीयस्स ॥ ५०० ॥

पञ्चचत्वारिंशत्षट्शताधिकाष्टाशीतिसहस्रमुदयस्य ।
प्रकृतीनां परिसंख्या योगं प्रति मोहनीयस्य ॥ ५०० ॥

अर्थ—इसतरह सब भेदोंको मिलानेसे मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंकी संख्या योगकी अपेक्षा ८८६४५ होती है, ऐसा जानना ॥ ५०० ॥

आगे संयमके आश्रयसे स्थानादि कहते हैं; –

तेरससयाणि सत्तरिसत्तेव य मेलिदे हवंतित्ति ।
ठाणवियप्पे जाणसु संजमलंबेण मोहस्स ॥ ५०१ ॥

त्रयोदशशतानि सप्ततिसप्तैव च मिलिते भवन्तीति ।
स्थानविकल्पा जानीहि संयमालम्बेन मोहस्य ॥ ५०१ ॥

अर्थ—संयमकी अपेक्षासे मोहनीयके स्थानभेद १३७७ होते हैं ऐसा जानना चाहिये ॥५०१॥

अब उदयप्रकृतिभेदोंको कहते हैं;—

तेवण्णतिसदसहियं सत्तसहस्सप्पमाणमुदयस्स ।
पयडिवियप्पे जाणसु संजमलंबेण मोहस्स ॥ ५०२ ॥

त्रिपञ्चाशत्त्रिशतसहितं सप्तसहस्रप्रमाणमुदयस्य ।
प्रकृतिविकल्पान् जानीहि संयमालम्बेन मोहस्य ॥ ५०२ ॥

अर्थ—संयमहीकी अपेक्षासे मोहनीयके उदय प्रकृति भेद ७३५३ मात्र होते हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ५०२ ॥

आगे गुणस्थानोंमें संभवती लेश्याओंको कहते हैं;—

मिच्छचउक्के छक्कं देसतिये तिण्णि होंति सुहलेस्सा ।
जोगित्ति सुक्कलेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥ ५०३ ॥

मिथ्यचतुष्के षट्कं देशत्रये तिस्रो भवन्ति शुभलेश्याः ।
योगीति शुक्ललेश्या अयोगिस्थानमलेश्यं तु ॥ ५०३ ॥

अर्थ– मिथ्यादृष्टि आदिक चार गुणस्थानोंमें ६ लेश्या हैं, देशसंयतादि तीन गुणस्थानोंमें ३ शुभलेश्या हैं, उसके बाद सयोगकेवलीपर्यंत एक शुक्ललेश्या ही है, और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्यारहित है ॥ ५०३ ॥

अब कही हुई इन लेश्याओंके आश्रयसे मोहके स्थान और प्रकृतियोंकी संख्याको दो गाथासूत्रोंसे कहते हैं;—

पंचसहस्सा बेसयसत्ताणउदी हवंति उदयस्स ।
ठाणवियप्पे जाणसु लेस्सं पडि मोहणीयस्स ॥ ५०४ ॥
पञ्चसहस्राणि द्विशतसप्तनवतिः भवन्ति उदयस्य ।
स्थानविकल्पा जानीहि लेश्यां प्रति मोहनीयस्य ॥ ५०४ ॥

अर्थ—लेश्याके सम्बन्धसे मोहनीयके उदयके स्थानोंके भेद ५२९७ होते हैं ऐसा हे शिष्य तू समझ ॥ ५०४ ॥

अट्ठत्तीससहस्सा बेण्णिसया होंति सत्ततीसा य ।
पयडीणं परिमाणं लेस्सं पडि मोहणीयस्स ॥ ५०५ ॥
अष्टत्रिंशत्सहस्राणि द्विशतानि भवन्ति सप्तत्रिंशच्च ।
प्रकृतीनां परिमाणं लेश्यां प्रति मोहनीयस्य ॥ ५०५ ॥

अर्थ—लेश्याहीकी अपेक्षा मोहनीयकी प्रकृतियोंका परिमाण ३८२३७ होता हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ५०५ ॥

आगे सम्यक्त्वके आश्रयसे स्थानादिककी संख्या कहते हैं;—

अट्ठत्तरीहिं सहिया तेरसयसया हवंति उदयस्स ।
ठाणवियप्पे जाणसु सम्मत्तगुणेण मोहस्स ॥ ५०६ ॥
अष्टसप्ततिभिः सहितानि त्रयोदशकशतानि भवन्ति उदयस्य ।
स्थानविकल्पा जानीहि सम्यक्त्वगुणेन मोहस्य ॥ ५०६ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वगुणकर सहित मोहनीयके उदयस्थानोंके भेद १३७८ होते हैं ऐसा तुम जानो ॥ ५०६ ॥

अट्ठेव सहस्साइं छव्वीसा तह य होंति णादव्वा ।
पयडीणं परिमाणं सम्मत्तगुणेण मोहस्स ॥ ५०७ ॥
अष्टैव सहस्राणि षड्विंशतिस्तथा च भवन्ति ज्ञातव्याः ।
प्रकृतीनां परिमाणं सम्यक्त्वगुणेन मोहस्य ॥ ५०७ ॥

अर्थ—तथा सम्यक्त्वगुणसहित मोहनीयकी प्रकृतियोंका प्रमाण ८०२६ जानने योग्य है ॥ ५०७ ॥

आगे मोहनीयके सत्त्वप्रकरणको ११ गाथासूत्रोंसे कहते हैं;—

अट्ठ य सत्त य छक्क य चदुतिदुगेगाधिगाणि वीसाणि ।
तेरस बारेयारं पणादि एगूणयं सत्तं ॥ ५०८ ॥

अष्ट च सप्त च षट्कं च चतुस्त्रिद्विकैकमधिकानि विंशतिः ।
त्रयोदशद्वादशैकादश पञ्चादि एकोनकं सत्त्वम् ॥ ५०८ ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मके सत्त्वस्थान आठ अधिक वीस आदि अर्थात् २८, २७, २६, २४, २३, २२, २१, तथा १३, १२, ११, ५, और इससे भी एक एक कम अर्थात् ४, ३, २, १ संख्या रूप कुल १५ हैं ॥ ५०८ ॥

आगे इन १५ स्थानोंके गुणस्थानोंमें संभव होनेका प्रकार दिखाते हैं;—

तिण्णेगे एगेगं दो मिस्से चदुसु पण णियट्टीए ।
तिण्णि य थूलेयारं सुहुमे चत्तारि तिण्णि उवसंते ॥ ५०९ ॥

त्रीण्येकस्मिन्नेकस्मिन्नेकं द्वे मिश्रे चतुर्षु पञ्च निवृत्तौ ।
त्रीणि च स्थूले एकादश सूक्ष्मे चत्वारि त्रीण्युपशान्ते ॥ ५०९ ॥

अर्थ—पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें १५ मेंसे तीन स्थान हैं, सासादनमें १; मिश्रगुणस्थानमें दो, असंयतादि चार गुणस्थानोंमें पांच पांच, निवृत्ति अर्थात् अपूर्वकरणगुणस्थानमें ३, स्थूलकषाय अर्थात् नववें गुणस्थानमें ११, सूक्ष्मसांपराय में ४, उपशांतकषायनामा ११ वें गुणस्थान में ३ सत्त्वस्थान हैं ॥ ५०९ ॥

अब उन्हींको कहते हैं;—

पढमतियं च य पढमं पढमं चउवीसयं च मिस्सम्हि ।
पढमं चउवीसचऊ अविरददेसे पमत्तिदरे ॥ ५१० ॥

प्रथमत्रयं च च प्रथमं प्रथमं चतुर्विंशकं च मिश्रे ।
प्रथमं चतुर्विंशचतुष्कं अविरतदेशे प्रमत्तेतरे ॥ ५१० ॥

अर्थ—उक्त १५ स्थानोंमेंसे आदिके तीन स्थान मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें हैं। सासादनमें पहला २८ प्रकृतिरूप ही सत्त्वस्थान है, मिश्रगुणस्थानमें पहला और २४ प्रकृतिरूप ये दो स्थान हैं। अविरत-देशविरत और प्रमत्त-अप्रमत्त इन चार गुणस्थानोंमें पहला तथा २४ प्रकृतिरूप आदि चार स्थान इस तरह पांच पांच सत्त्वस्थान हैं ॥ ५१० ॥

अडचउरेक्कावीसं उवसमसेढिम्हि खवगसेढिम्हि ।
एक्कावीसं सत्ता अट्ठकसायाणियट्टित्ति ॥ ५११ ॥

अष्टचतुरेकविंशतिः उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्याम् ।
एकविंशतिः सत्ता अष्टकषायानिवृत्तिरिति ॥ ५११ ॥

अर्थ—उपशमश्रेणीमें अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानोंमें २८, २४, २१, प्रकृतिरूप तीन तीन स्थान हैं। तथा क्षपकश्रेणीमें आठवें और अनिवृत्तिकरणके अष्टकषायवाले भागमें २१ प्रकृतिरूप एक एक स्थान हैं ॥ ५११ ॥

तेरस बारेयारं तेरस बारं च तेरसं कमसो ।
पुरिसित्थिसंढवेदोदयेण गदपणगबंधम्हि ॥ ५१२ ॥

त्रयोदश द्वादशैकादश त्रयोदश द्वादश च त्रयोदश क्रमशः ।
पुरुषस्त्रीषण्ढवेदोदयेन गतपञ्चकबन्धे ॥ ५१२ ॥

अर्थ—उसके बाद १ पुरुषवेद और चार संज्वलनकषाय इसप्रकार ५ प्रकृतियोंके बंधवाले अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके भागमें जो पुरुषवेदके उदयसहित श्रेणी चढ़े उसके १३, १२, ११ प्रकृतिरूप तीन स्थान होते हैं। स्त्रीवेदके उदय सहित श्रेणी चढ़ने वालेके १३ प्रकृतिरूप स्थान हैं और नपुंसकवेदके क्षय होने पर १२ प्रकृतिरूप स्थान है। तथा जो जीव नपुंसकवेदके उदयसे श्रेणी चढ़े उसके १३ प्रकृतिरूप स्थान है क्योंकि उसके नपुंसकवेद और स्त्रीवेद इन दोनोंके क्षय होनेका प्रारम्भ एककाल ही होता है ॥ ५१२ ॥

पुरिसोदयेण चडिदे अंतिमखंडंतिमोत्ति पुरिसुदओ ।
तप्पणिधिम्मिदराणं अवगदवेदोदयं होदि ॥ ५१३ ॥

पुरुषोदयेन चटिते अन्तिमखण्डान्तिम इति पुरुषोदयः ।
तत्प्रणिधौ इतरयोरपगतवेदोदयो भवति ॥ ५१३ ॥

अर्थ—पुरुषवेदके उदयसहित क्षपकश्रेणी चढ़ने वालेके अंतके खंडके अंतसमयपर्यंत अर्थात् पुरुषवेदके उदयकी स्थितिके पहले समयमें नपुंसकवेद क्षपणाखण्ड स्त्रीवेद क्षपणाखण्ड-पुरुषवेद क्षपणाखण्डोंमें अंतके खण्ड (भाग) के अंतसमयतक हमेशा पुरुषवेदका उदय और बंध पाया जाता है। तथा उसी पुरुषवेदक्षपणाके अंतके खंडके समीप अन्य वेद अर्थात् नपुंसक-स्त्रीवेद इन दोनोंके उदयका अभाव होता है ॥ ५१३ ॥

ऐसा होने पर जो सिद्धान्त सिद्ध हुआ उसे कहते हैं,—

तट्ठाणे एक्कारस सत्ता तिण्होदयेण चडिदाणं ।
सत्तण्हं समग छिदी पुरिसे छण्हं च णवगमत्थित्ति ॥ ५१४ ॥

तत्स्थाने एकादश सत्ताः त्रिकोदयेन चटितानाम् ।
सप्तानां समकं छित्तिः पुरुषे षण्णां च नवकमस्तीति ॥ ५१४ ॥

अर्थ—उन पूर्वोक्त दोनों स्थानोंमें सात नोकषाय और ४ संज्वलन इसतरह ११ प्रकृतिरूप सत्वस्थान हैं। तीन वेदोंमेंसे किसीभी वेदके उदयसहित श्रेणी चढ़नेवालेके ७ नोकषायकी व्युच्छित्ति एककालमें ही होती है, परंतु विशेष यह है कि पुरुषवेदके उदय सहित श्रेणी चढ़नेवालेके पुरुषवेदके नूतनसमयप्रबद्ध पाये जाते हैं इसलिए उसके ६ नोकषायकी सत्वव्युच्छित्ति होती है ॥ ५१४ ॥

अव पूर्वोक्त अर्थको कहके अनिवृत्तिकरणमें सत्वस्थानोंकी विशेषता कहते हैं;—

इदि चदुबंधक्खवगे तेरस बारस एगार चउसत्ता ।
तिदुइगिबंधे तिदुइगि णवगुच्छिट्ठाणमविवक्खा ॥ ५१५ ॥

इति चतुर्बन्धक्षपके त्रयोदश द्वादशैकादश चतुःसत्ता ।
त्रिद्विकैकबन्धे त्रिद्विकैकं नवकोच्छिष्टयोरविवक्षा ॥ ५१५ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे क्षपकश्रेणी चढ़नेवालेके चार प्रकृतियोंके बंधवाले अनिवृत्तिकरणके भागमें १३, १२, ११, और ४ प्रकृतिरूप सत्व हैं । तथा ३, २, १ प्रकृतिके बंध होनेवाले भागोंमें ३, २, १ प्रकृतिरूप सत्व स्थान पाया जाता है। यहाँ नूतनसमयप्रवद्ध और उच्छिष्टावलि (उदय वचे हुये प्रथम स्थितिके निषेक) की विवक्षा ग्रहण नहीं की है ॥ ५१५ ॥

आगे मोहनीयके वंधस्थानोंमें सत्वस्थानोंकी संख्या जो पाई जाती है उसे दो गाथाओंसे कहते हैं,—

तिण्णेव दु बावीसे इगिवीसे अट्ठवीस कम्मंसा ।
सत्तरतेरेणवबंधगेसु पंचेव ठाणाणि ॥ ५१६ ॥
पंचविधचदुविधेसु य छ सत्त सेसेसु जाण चत्तारि ।
उच्छिट्ठावलिणवकं अविवेक्खिय संतठाणाणि ॥ ५१७ ॥ जुम्मम् ।

त्रय एव तु द्वाविंशतौ एकविंशतौ अष्टविंशतिः कर्मांशाः ।
सप्तदशत्रयोदशनवबन्धकेपु पञ्चैव स्थानानि ॥ ५१६ ॥
पञ्चविधचतुर्विधेपु च शट् सप्त शेषेषु जानीहि चत्वारि ।
उच्छिष्टावलिनवकमविवक्ष्य सत्त्वस्थानानि ॥ ५१७ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—मोहनीयके २२ प्रकृतिरूप वंधस्थानमें कर्मांश अर्थात् सत्वस्थान २८-२७-२६ प्रकृतिरूप ३ हैं । २१ प्रकृतिरूप वंधस्थानमें २८ प्रकृतिरूप सत्वस्थान है। १७-१३-९ के वंधस्थानोंमें २८ प्रकृतिरूप आदि पाँच पांच सत्वस्थान हैं। पांच के वंधस्थानमें आदिके ६ सत्वस्थान हैं, चारके वंधस्थानमें ७ सत्वस्थान हैं, तथा शेष तीन-दो-एकके वंधस्थानमें चार चार सत्वस्थान हैं । ये सत्वस्थान उच्छिष्टावली और नूतनवंधरूप समयप्रवद्धकी अपेक्षा नहीं करके ही कहे गये हैं। इसप्रकार वंधस्थानके होनेपर सत्वस्थान पाये जाते हैं ॥ ५१६ ॥ ५१७ ॥

दसणवपण्णरसाइं बंधोदयसत्तपयडिठाणाणि ।
भणिदाणि मोहणिज्जे एत्तो णामं परं वोच्छं ॥ ५१८ ॥

दशनवपञ्चदश बन्धोदयसत्त्वप्रकृतिस्थानानि ।
भणितानि मोहनीये इतो नाम परं वक्ष्यामि ॥ ५१८ ॥

अर्थ—इसप्रकार मोहनीयके १० बन्धस्थान, ९ उदयस्थान और १५ सत्वस्थान कहे। इससे आगे अब नामकर्मके बंधादिके स्थान कहेंगे ॥ ५१८ ॥

उसमें पहले नामकर्मके स्थानोंके आधारभूत ४१ जीवपदोंको दो गाथाओंसे कहते हैं;—

णिरया पुण्णा पणहं बादरसुहुमा तहेव पत्तेया ।
वियलाऽसण्णी सण्णी मणुवा पुण्णा अपुण्णा य ॥ ५१९ ॥
सामण्णतित्थकेवलि उहयसमुग्घादगा य आहारा ।
देवावि य पज्जत्ता इदि जीवपदा हु इगिदाला ॥ ५२० ॥ जुम्मम्

निरयाः पूर्णाः पञ्च बादरसूक्ष्माः तथैव प्रत्येकाः ।
विकला असंज्ञिनः संज्ञिनो मनुष्याः पूर्णा अपूर्णाश्च ॥ ५१९ ॥
सामान्यतीर्थकेवलिन उभयसमुद्घातगाश्च आहाराः ।
देवा अपि च पर्याप्ता इति जीवपदा हि एकचत्वारिंशत् ॥ ५२० ॥ युग्मम्

अर्थ—नारकी सब पर्याप्त हैं इस कारण उनका १ भेद, और पृथिवीकाय १ जलकाय २ तेजकाय ३ वायुकाय ४ साधारणवनस्पतिकाय ५ ये पांच बादर और सूक्ष्म हैं इससे १० भेद हुए, इसीतरह प्रत्येक वनस्पतिकाय, दो इन्द्री आदि ३ विकलत्रय, असंज्ञी पंचेंद्री, संज्ञी पंचेंद्री, और मनुष्य ये १७ पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं इस प्रकार कुल ३४ भेद हुये। तथा सामान्यकेवली, तीर्थंकरकेवली, और दोनों ही समुद्घात करनेवाले, आहारक शरीरवाले, और देव—ये ६ पर्याप्त ही होते हैं। इसतरह १+३४+६=सब ४१ भेद जीवोंके हैं। इसकारण इनको जीवपद अर्थात् जीवस्थान कहते हैं। और ये नाम कर्मके बंधस्थानोंके निमित्तसे होते हैं, इसलिये इनको कर्मपद भी कहते हैं।

यहां पर कर्मके निमित्तसे ३६ ही स्थान होते हैं इस कारण कर्मपद ३६ ही हैं। क्योंकि चार केवलि पदोंमें कर्मको अपेक्षा नहीं है, और आहारपदका देवगतिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव नामकर्मके बंधको अपेक्षा तो ये कर्मपद कहे जाते हैं; परन्तु उदय और सत्व की अपेक्षा इन इकतालीसों स्थानोंको जीवपद समझना चाहिये ॥ ५१९ ॥ ५२० ॥

तेवीसं पणवीसं छव्वीसं अट्ठवीसमुगतीसं ।
तीसेक्कतीसमेवं एक्को बंधो दुसेढिम्हि ॥ ५२१ ॥

त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टविंशमेकोनत्रिंशत् ।
त्रिंशदेकत्रिंशदेवमेको वन्धो द्विश्रेण्याम् ॥ ५२१ ॥

अर्थ—नामकर्मके बंधस्थान २३, २५, २६, २८, २९; ३०, ३१ प्रकृतिरूप सात तो अपूर्वकरणके छठे भाग तक यथासंभव पाये जाते हैं, और १ प्रकृतिरूप आठवां बंधस्थान दोनों श्रेणियोंमें बंधता है ॥ ५२१ ॥

आगे वे बंधस्थान किस किस कर्मपदसहित बंधते हैं यह बात दो गाथाओंसे कहते हैं;—

ठाणमपुण्णेण जुदं पुण्णेण य उवरि पुण्णगेणेव ।
तावदुगाणण्णदरेणण्णदरेणमरणिरयाणं ॥ ५२२ ॥
णिरयेण विणा तिण्हं एक्कदरेणेवमेव सुरगइणा ।
बंधंति विणा गइणा जीवा तज्जोगपरिणामा ॥ ५२३ ॥ जुम्मं ।

स्थानमपूर्णेन युतं पूर्णेन चोपरि पूर्णकेनैव ।
आतापद्विकयोरन्यतरेणान्यतरेणामरनिरययोः ॥ ५२२ ॥
निरयेन विना त्रयाणामेकतरेणैवमेव सुरगतिना ।
बध्नन्ति विना गतिना जीवा तद्योग्यपरिणामाः ॥ ५२३ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—ऊपर कहे हुए आठस्थानोंमें क्रमसे पहला २३ प्रकृतिरूप स्थान अपर्याप्त प्रकृति सहित बंधता है, दूसरा स्थान पर्याप्तप्रकृति सहित और 'च' शब्दसे अपर्याप्तसहित भी बंधता हैं। इससे आगे पर्याप्तप्रकृतिसहित ही बंधते हैं। उनमें भी २६ प्रकृतिरूपस्थान आतप—उद्योत इन दोनोंमेंसे कोई एक प्रकृतिसहित बंधता है, २८ प्रकृतिरूपस्थान देवगति और नरकगति इन दोनोंमेंसे कोई एक गति सहित बंधता है, २९ प्रकृतिरूप और ३० प्रकृति-रूप ये दो स्थान नरक गतिके विना तिर्यंच आदि ३ गतियोंमेंसे कोई एक गति सहित बंधते हैं, ३१ प्रकृतिरूपस्थान देवगतिके साथ बंधता है और एक प्रकृतिरूप स्थान किसी गति कर्मके साथ नहीं बंधता। इसप्रकार इन स्थानोंके योग्य परिणामोंवाले जीव इन स्थानोंको बांधते हैं ॥ ५२२ । ५२३ ॥

आताप और उद्योत ये दो प्रकृतियां प्रशस्त (पुण्यरूप) हैं, वे किस पदके साथ बंधती हैं, यह बताते हैं;—

भूबादरपज्जत्तेणादावं बंधजोग्गमुज्जोवं ।
तेउतिगूणतिरिक्खपसत्थाणं एयदरगेण ॥ ५२४ ॥

भूबादरपर्याप्तेनातापो बन्धयोग्य उद्योतः ।
तेजस्त्रिकोनतिर्यक्प्रशस्तानामेकतरकेण ॥ ५२४ ॥

अर्थ—आतप प्रकृति पृथिवीकायबादरपर्याप्त सहित ही बंधयोग्य है, और उद्योग प्रकृति तेजःकायादि तीनके बिना शेष तिर्यंचसंबंधी पुण्यप्रकृतियोंमेंसे किसीभी एक प्रकृति के साथ बंधयोग्य कही है ॥ ५२४ ॥

णरगइणामरगइणा तित्थं देवेण हारमुभयं च ।
संजदबंधट्ठाणं इदराहि गईहि णत्थित्ति ॥ ५२५ ॥

नरगतिनामरगतिना तीर्थं देवेनाहारमुभयं च ।
संयतबन्धस्थानमितराभिर्गतिभिः नास्तीति ॥ ५२५ ॥

अर्थ—तीर्थंकरप्रकृतिको देव और नारक असंयत तो मनुष्यगति सहित ही बांधते हैं, और असंयतादि चारगुणस्थानवाले मनुष्य देवगतिसहित ही बांधते हैं। तथा आहारकयुगलको अथवा तीर्थंकर आहारक दोनोंको देवगतिसहित ही बांधते हैं, क्योंकि संयतके योग्य बंधस्थान देवगतिके विना अन्य गतियों सहित बंधता ही नहीं हैं ॥ ५२५ ॥

आगे २३ आदि स्थानों की प्रकृतियोंको जाननेकेलिये उनके पाठका क्रम तीन गाथाओं द्वारा बताते हैं;—

णामस्स णव धुवाणि य सरूणतसजुम्मगाणमेक्कदरं ।
गइजाइदेहसंठाणाणूणेक्कं च सामण्णा ॥ ५२६ ॥
तसबंधेण हि संहदिअंगोवंगाणमेक्कदरगं तु ।
तप्पुण्णेण य सरगमणाणं पुण एगदरगं तु ॥ ५२७ ॥
पुण्णेण समं सव्वेणुस्सासो णियमदो दु परघादो ।
जोगट्ठाणे तावं उज्जोवं तित्थमाहारं ॥ ५२८ ॥ विसेसयं ।

नाम्नो नव ध्रुवाश्च स्वरोनत्रसयुग्मकानामेकतरं ।
गतिजातिदेहसंस्थानानूनामेका च सामान्याः ॥ ५२६ ॥
त्रसवन्धेन हि संहत्याङ्गोपाङ्गानामेकतरकं तु ।
तत्पूर्णेन च स्वरगमनानां पुनः एकतरकं तु ॥ ५२७ ॥
पूर्णेन समं सर्वेणोच्छ्वासो नियमतस्तु परघातः ।
योगस्थाने आतप उद्योत तीर्थमाहारम् ॥ ५२८ ॥ विशेषकम् ।

अर्थ—नामकर्मकी तैजस आदि ९ ध्रुववंधी प्रकृतियां, स्वरके विना त्रसादि नौ युगलमेंसे एक एक इसप्रकार ९, गति ४ जाति ५ शरीर ३ संस्थान ६ आनुपूर्वी ४ इनमेंसे एक एक इसप्रकार ५ सब मिलकर २३ प्रकृतियां सामान्य बंधरूप हैं। त्रसप्रकृतिके साथ ही ६ संहनन ३ अंगोपागोंमेंसे किसी एकका बंध होता है। त्रसपर्याप्त प्रकृति सहित स्वरयुगल तथा विहायोगति युगलमेंसे एक एकका बंध होता है। पर्याप्त प्रकृति सहित जो सब त्रस स्थावर हैं उनके साथ उच्छ्वास और परघात नियमसे बंध योग्य हैं। तथा आताप, उद्योत, तीर्थंकर, आहारकयुगल—ये प्रकृतियां पहले कहे हुए योग्य नाम पदोंमें बंध योग्य हैं ॥ ५२६ । ५२७ । ५२८ ॥

तित्थेणाहारदुगं एक्कसराहेण बंधमेदीदि ।
पक्खित्ते ठाणाणं पयडीणं होदि परिसंखा ॥ ५२९ ॥

तीर्थनाहारद्विकमेकसराहेण बन्धमेतीति ।
प्रक्षिप्ते स्थानानां प्रकृतीनां भवति परिसंख्या ॥ ५२९ ॥

अर्थ—तीर्थंकर प्रकृति सहित आहारकयुगल एक काळ ही बंधको प्राप्त होता है, इसकारण पूर्वोक्त २३ के बंधमें यथासंभव प्रकृतियोंके मिलानेसे स्थानों और प्रकृतियोंकी संख्या हो जाती है ॥ ५२९ ॥

इसी बातको दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट कहते हैं :—

एयक्खअपज्जत्तं इगिपज्जत्त वितिचपणरापज्जत्तं ।
एइंदियपज्जत्तं सुरणिरयगईहिं संजुत्तं ॥ ५३० ॥
पज्जत्तगवितिचप मणुसदेवग दिसंजुदाणि दोण्णि पुणो ।
सुरगइजुदमगइजुदं बंधट्ठाणाणि णामस्स ॥ ५३१ ॥ जुम्मं ।

एकाक्षापर्याप्तमेकपर्याप्तं द्वित्रिचपनरापर्याप्तम् ।
एकेन्द्रियपर्याप्तं सुरनिरयगतिभ्यां संयुक्तम् ॥ ५३० ॥
पर्याप्तकद्वित्रिचपं मानुषदेवगतिसंयुते द्वे पुनः ।
सुरगतियुतमगतियुतं बन्धस्थानानि नाम्नः ॥ ५३१ ॥

अर्थ—एकेंद्री अपर्याप्त सहित २३ का १ स्थान है, एकेन्द्री पर्याप्त-दोइन्द्री-तेइन्द्री चौइन्द्री-पंचेन्द्री तथा मनुष्य अपर्याप्त सहित २५ के ६ स्थान हैं, एकेन्द्री पर्याप्त आतप तथा एकेन्द्री पर्याप्त उद्योत सहित २६ के २ स्थान हैं, देवगति तथा नरकगति सहित २८ के २ स्थान हैं, दो इन्द्री—तेइन्द्री—चौइंद्री—पंचेन्द्री पर्याप्त सहित ४ स्थान और मनुष्यगति तथा देवगति पर्याप्त इन दोनोंकर सहित दो स्थान—इसप्रकार २९ के ६ स्थान हैं, दो इन्द्री पर्याप्त उद्योतादि सहित ६ स्थान ३० के हैं, देवगति आहारक तीर्थ सहित १ स्थान ३१ का है, और यशस्कीर्तिप्रकृति सहित १ का १ स्थान है। इसप्रकार नामकर्मके बंधस्थानोंका कथन जानना ॥ ५३० । ५३१ ॥

आगे इन बंधस्थानोंके भंग कहते हैं:—

संठाणे संहडणे विहायजुम्मे य चरिमछज्जुम्मे ।
अविरुद्धेक्कदरादो बंधट्ठासुणे भंगा हु ॥ ५३२ ॥

संस्थाने संहनने विहायोयुग्मे च चरमपड्युग्मे ।
अविरुद्धे एकतमाव् बन्धस्थानेषु भङ्गा हि ॥ ५३२ ॥

अर्थ—६ संस्थान, ६ संहनन, विहायोगगतिका जोड़ा और अंतके स्थिरआदिके ६ युगल इनमें अविरुद्ध एक एकका ग्रहण करनेसे और उनका आपसमें गुणाकार करनेपर बंधस्थानोंमें ४६०८ भङ्ग होते हैं ऐसा नियमसे जानना ॥ ५३२ ॥

तत्थासत्थो णारयसव्वापुण्णेण होदि बंधो दु ।
एक्कदराभावादो तत्थेक्को चेव भंगो दु ॥ ५३३ ॥

तत्राशस्तो नारकसर्वापूर्णेन भवति बन्धस्तु ।
एकतराभावात् तत्रैकश्चैव भङ्गस्तु ॥ ५३३ ॥

अर्थ—उन प्रशस्त तथा अप्रशस्त बंधरूप प्रकृतियोंमें नरकगति सहित तथा त्रसस्थावर युक्त सब अपर्याप्त सहित दुर्भगादि अप्रशस्तप्रकृतियोंका ही बंध होता है, क्योंकि इनमें बंधयोग्य प्रकृतियोंकी प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बंध नहीं होता। इसलिए उक्त २८—२३—२५ के स्थानोंमें अप्रशस्त एक एक प्रकृतिका ही बंध होनेसे एक एक ही भंग हैं ॥ ५३३ ॥

तत्थासत्थं एदि हु साहारणथूलसव्वसुहुमाणं ।
पज्जत्तेण य थिरसुहजुम्मेक्कदरं तु चदुभंगा ॥ ५३४ ॥

तत्राशस्ता एति हि साधारणस्थूलसर्वसूक्ष्मानाम् ।
पर्याप्तेन च स्थिरशुभयुग्मैकतरं तु चतुर्भङ्गाः ॥ ५३४ ॥

अर्थ—उन एकेन्द्रियके ग्यारह भेदोंमें साधारण वनस्पति बादरपर्याप्त तथा सर्व सूक्ष्मपर्याप्त सहित २५ के बंधस्थानमें एक एक अप्रशस्त प्रकृति ही बंधको प्राप्त होती है। विशेषता यह है कि स्थिर-शुभके युगलोंमेंसे किसी एकका बंध होनेसे २५ के ५ स्थानोंमें चार चार भंग होते हैं ॥५३४॥

पुढवीआऊतेऊवाऊपत्तेयवियलसण्णीणं ।
सत्थेण असत्थं थिरसुहजसजुम्मट्ठभंगा हु ॥ ५३५ ॥

पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकविकलासंज्ञिनाम् ।
शस्तेनाशस्तं स्थिरशुभयशोयुग्ममष्टभङ्गा हि ॥ ५३५ ॥

अर्थ—पृथिवीकाय-जलकाय—तेजकाय—वायुकाय—प्रत्येक वनस्पति—द्विइन्द्रियादि विकल ३—असंज्ञी पंचेन्द्री और इनके अविरोधी त्रस बादर पर्याप्तादिसे हुये जो २५ प्रकृतिरूप आदि ४ स्थान हैं, उनमें त्रस बादर आदि प्रशस्त प्रकृतियोंके साथ यथासंभव एक एक दुर्भगादि अप्रशस्त प्रकृतियोंका ही बंध होता है, और स्थिर-शुभ यशस्कीर्ति इन तीन युगलोंमेंसे एक एक प्रशस्त अथवा अप्रशस्त किसीका भी बंध होता है। अतएव इन तीन युगलोंकी प्रकृति बदलनेकी अपेक्षा आठ आठ भंग होते हैं ॥ ५३५ ॥

आगे शेष तिर्यंच पंचेंद्री पर्याप्तसहित कर्मपदोंमें और मनुष्यगति पर्याप्तसहित मनुष्यकर्मपदमें २९ तथा ३० के स्थानोंमें भंग कहनेके लिये गुणस्थानोंमें विभाग करते हैं;—

सण्णिस्स मणुस्सस्स य ओघेक्कदरं तु मिच्छभंगा हु ।
छादालसयं अट्ठ य विदिये बत्तीससयभंगा ॥ ५३६ ॥

संज्ञिनो मनुष्यस्य च ओघैकतरं तु मिथ्यभङ्गा हि।
षट्चत्वारिंशच्छतमष्ट च द्वितीये द्वात्रिंशच्छतभङ्गाः॥ ५३६॥

अर्थ—तिर्यंचगतिपर्याप्तिसहित सैनीके २९ के स्थान और उद्योतसहित ३० के स्थानमें, तथा मनुष्यगति पर्याप्तिसहित २९ के स्थानमें सामान्य छह संस्थान, छह संहनन, विहायोगति आदि सात युगल, इनमें एक एक कर सभी प्रकृतियोंका बंध संभव है। अतएव पूर्वोक्त एक एक स्थानमें संस्थानादिकी एक एक प्रकृतिके बदलनेसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ४६०८ भंग होते हैं। और दूसरे गुणस्थानमें २९ के और ३० के दोनोंही स्थानोंमें ३२००-३२०० भंग होते हैं। मनुष्यगति सहित तीसका स्थान मिथ्यादृष्टिके बंधस्थान भगोंमें इसलिये नहीं बताया है कि उसका बंध तीर्थंकर सहित होनेसे असंयत देवनारकियोंके ही होता है॥ ५३६॥

मिस्साविरदमणुस्सट्ठाणे मिच्छादिदेवजुदठाणे।
सत्थं तु पमत्तंते थिरसुहजसजुम्मगट्ठभंगा हु॥ ५३७॥

मिश्राविरतमनुष्यस्थाने मिथ्यादिदेवयुतस्थाने।
शस्तं तु प्रमत्तान्ते स्थिरशुभयशोयुग्मकाष्टभङ्गा हि॥ ५३७॥

अर्थ—देव नारकी मिश्र और अविरत गुणस्थानवाले पर्याप्त मनुष्यगति सहित २९ के स्थानमें, देवनारकी असंयतके मनुष्यगति पर्याप्त तीर्थंकरसहित ३० के स्थानमें, मिथ्यात्वादि प्रमत्त-गुणस्थानपर्यंत जीवोंके देवगतिसहित स्थानमें प्रशस्तप्रकृतिका बंध अप्रशस्त प्रकृतिके साथ होता है, इससे स्थिर-शुभ-यशस्कीर्ति इन तीन युगलोंकी अपेक्षा आठ आठ भंग कहे हैं। किन्तु अप्रमत्तसे लेकर सूक्ष्मसांपरायतक एक एक ही भंग माना है॥ ५३७॥

आगे एक पर्यायको छोड़ना तथा दूसरी पर्यायमें उत्पन्न होना यथासंभव दिखाते हैं,—

णेरयियाणं गमणं सण्णीपज्जत्तकम्मतिरियणरे।
चरिमचऊतित्थूणे तेरिच्छे चेव सत्तमिया॥ ५३८॥

नैरयिकानां गमनं संज्ञिपर्याप्तकर्मतिर्यङ्नरे।
चरमचतुष्काः तीर्थोने तिरश्चि चैव सप्तमिकाः॥ ५३८॥

अर्थ—घर्मादि तीन पृथिवीवाले नारकी जीवोंकी मरणकर उत्पत्ति गर्भज पर्याप्त सैनी पंचेन्द्री कर्मभूमिया तिर्यंच अथवा मनुष्यपर्यायमें होती है। अन्तके चार नरकोंवाले जीव तीर्थंकरादिके सिवाय पूर्वोक्त तिर्यंच अथवा मनुष्यपर्यायमें उत्पन्न होते हैं। परन्तु इतनी विशेषता है कि सातवें नरकवाले पूर्वोक्त तिर्यंच पर्यायमें ही उत्पन्न होते हैं॥ ५३८॥

तत्थतणऽविरदसम्मो मिस्सो मणुवदुगमुच्चयं णियमा।
बंधदि गुणपडिवण्णा मरंति मिच्छेव तत्थ भवा॥ ५३९॥

तत्रतनोऽविरतसम्यक् मिश्रो मानवद्विकमुच्चकं नियमात् ।
बध्नाति गुणप्रतिपन्ना म्रियन्ते मिथ्ये एव तत्र भवाः ॥ ५३९ ॥

अर्थ—उस सातवीं पृथिवीमें उत्पन्न हुआ असंयतसम्यग्दृष्टि और मिश्रगुणस्थानवर्ती अपने अपने गुणस्थानोंमें मनुष्यगति युगल तथा ऊंच गोत्र इनको नियमसे बांधता है। किंतु वहां पर उत्पन्न हुए सासादन–मिश्र–असंयत गुणस्थानवाले जीव जिस समय मरणको प्राप्त होते हैं उस समय मिथ्यात्वगुणस्थानको प्राप्त होकर ही मरण करते हैं ॥ ५३९ ॥

तेउदुगं तेरिच्छे सेसेगअपुण्णवियलगा य तहा ।
तित्थूणणरेवि तहाऽसण्णी धम्मे य देवदुगे ॥ ५४० ॥
तेजोद्विकं तिरश्चि शेषैकापूर्णविकलकाश्च तथा ।
तीर्थोननरेपि तथा असंज्ञी धर्मे च देवद्विके ॥ ५४० ॥

अर्थ—तिर्यंच गतिमें तेजकायिक-वायुकायिक ये दोनों मरणकरके तिर्यंच गतिमें ही उत्पन्न होते हैं। शेष एकेन्द्री अर्थात् पृथिवीकाय–जलकाय और वनस्पतिकाय ये बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त इन सब अवस्थाओंवाले तथा इसीप्रकार दो इन्द्री आदि विकलत्रय—ये सब जीव तिर्यंच गतिमें उत्पन्न होते हैं, और तीर्थंकरादि त्रेसठ शलाका (पदवीधारक) पुरुषोंके विना शेष मनुष्य पर्यायमें भी उत्पन्न होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्री मरण करके पूर्वोक्त तिर्यंच–मनुष्यगतिमें तथा धर्मा नामवाले पहले नरकमें और देवयुगलमें अर्थात् भवनवासीव्यंतरदेवोंमें उत्पन्न होता है ॥ ५४० ॥

सण्णीवि तहा सेसे णिरये भोगेवि अच्चुदंतेवि ।
मणुवा जंति चउग्गदिपरियंतं सिद्धिठाणं च ॥ ५४१ ॥
संज्ञी अपि तथा शेषे निरये भोगेपि अच्युतान्तेपि ।
मानवा यान्ति चतुर्गतिपर्यन्तं सिद्धिस्थानं च ॥ ५४१ ॥

अर्थ—इसीप्रकार संज्ञी पंचेन्द्री तिर्यंच भी शेष अर्थात् असंज्ञी पंचेन्द्रीकी तरह पूर्वोक्त गतियोंमें, सब नारकी पर्यायोंमें, सब भोगभूमिया पर्यायोंमें और अच्युतस्वर्ग पर्यंत सब देवोंमें उत्पन्न होता है। और मनुष्य मरण करके चारोंही गतियोंमें तथा सिद्धिस्थान (मोक्ष) में प्राप्त होते हैं ॥ ५४१ ॥

आहारगा दु देवे देवाणं सण्णिकम्मतिरियणरे ।
पत्तेयपुढविआऊबादरपज्जत्तगे गमणं ॥ ५४२ ॥
भवणतियाणं एवं तित्थूणणरेसु चेव उप्पत्ती ।
ईसाणंताणेगे सदरदुगंताण सण्णीसु ॥ ५४३ ॥ जुम्मं ।

आहारकास्तु देवे देवानां संज्ञिकर्मतिर्यग्नरे ।
प्रत्येकपृथिव्यब्बादरपर्याप्तके गमनम् ॥ ५४२ ॥
भवनत्रिकाणामेवं तीर्थोननरेषु चैवोत्पत्तिः ।
ईशानान्तयोरेकस्मिन् शतारद्विकान्तानां संज्ञिषु ॥ ५४३ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—आहारकशरीरसहित प्रमत्तगुणस्थानवाले मरण करके कल्पवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। सब देवोंकी उत्पत्ति सामान्यसे संज्ञी पंचेन्द्री कर्मभूमिया तिर्यंच तथा मनुष्यपर्यायमें, और प्रत्येक वनस्पतिकाय-पृथिवीकाय-जलकाय बादरपर्याप्त जीवोंमें होती है। विशेष यह है कि भवनवासी आदि ३ प्रकारके देवोंकी उत्पत्ति तीर्थंकरादिकोंमें नहीं होती, अन्य मनुष्योंमें ही होती है। ईशानस्वर्गपर्यंतके देवोंका उत्पत्ति पूर्वोक्त मनुष्य तिर्यंचोंमें तथा एकेन्द्रिय पर्यायमें होती है। और शतार-सहस्रार पर्यन्त स्वर्गोंवाले देवोंकी उत्पत्ति भी पूर्वोक्त संज्ञीपंचेंन्द्री मनुष्य तिर्यंचोंमें होती है। इसप्रकार चारों गतिके जीवोंकी संक्षेपसे मरण और उत्पत्ति कही है ॥ ५४२ ॥ ५४३ ॥

आगे नामकर्मके बंधस्थानोंको चौदह मार्गणाओंमें आठ गाथाओंसे कहते हैं;—

णामस्स बंधठाणा णिरयादिसु णवयवीस तीसमदो ।
आदिमछक्कं सव्वं पणछण्णववीस तीसं च ॥ ५४४ ॥

नाम्नः बन्धस्थानानि निरयादिषु नवकविंशं त्रिंशदतः ।
आदिमषट्कं सर्वं पञ्चषट्नवविंशं त्रिंशच्च ॥ ५४४ ॥

अर्थ—नामकर्मके बंधस्थान नरकादिगतिमेंसे क्रमसे नरकगतिमें २९-३० के दो, इसके बाद तिर्यंचगतिमें आदिके ६, मनुष्यगतिमें सब स्थान, तथा देवगतिमें २५-२६-२९-३० स्वरूप ४ स्थान जानना चाहिये। इसप्रकार गतिमार्गणाओंमें बंधस्थान कहे हैं ॥ ५४४ ॥

आगे इन्द्रियादि मार्गणाओंमें बंधस्थानोंको कहते हैं—

पंचक्खतसे सव्वं अडवीसूणादिछक्कयं सेसे ।
चउमणवयणोराले सड देवं वा विगुव्वदुगे ॥ ५४५ ॥

पञ्चाक्षत्रसे सर्वमष्टविंशोनादिषट्कं शेषे ।
चतुर्मनोवचनौराले सर्वं देवं वा वैगूर्वद्विके ॥ ५४५ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रीमें और त्रसकायमें तो सब बंधस्थान हैं। और शेष एकेन्द्रियादि चार इन्द्रियोंमें तथा पृथिवीकायादि पाँच स्थावरोंमें अट्ठाईसवें स्थानके सिवाय आदिके ६ स्थान अर्थात् ५ स्थान हैं। चार मनोयोग, चार वचनयोग, तथा औदारिककाययोगमें सब बंधस्थान हैं। और वैक्रियिक काययोग-वैक्रियकमिश्रयोग इन दोनोंमें देवगतिकी तरह ४ स्थान होते हैं ॥ ५४५ ॥

अडवीसदु हारदुगे सेसदुजोगेसु छक्कमादिल्लं ।
वेदकसाये सव्वं पढमिल्लं छक्कमण्णाणे ॥ ५४६ ॥

अष्टविंशद्विकमाहारद्विके शेषद्वियोगयोः षट्कमादिमम् ।
वेदकषाये सर्वं प्राथमिकं षट्कमज्ञाने ॥ ५४६ ॥

अर्थ—आहारक-आहारकमिश्रयोगमें २८ तथा २९ के दो स्थान हैं। शेष कार्माण और औदारिकमिश्र इन दो योगोंमें आदिके ६ स्थान हैं। पुरुषादि तीन वेद तथा अनंतानुबंधी आदि कषायोंमें सब बंधस्थान हैं। और ज्ञान मार्गणामेंसे तीन कुज्ञानमें आदिके ६ स्थान हैं॥ ५४६॥

सण्णाणे चरिमपणं केवलजहखादसंजमे सुण्णं ।
सुदमिव संजमतिदए परिहारे णत्थि चरिमपदं ॥ ५४७ ॥

सद्ज्ञाने चरमपञ्च केवलयथाख्यातसंयमे शून्यम् ।
श्रुतमिव संयमत्रितये परिहारे नास्ति चरमपदम् ॥ ५४७ ॥

अर्थ—मतिज्ञानादि चार सम्यग्ज्ञानोंमें अंतके ५ स्थान हैं। केवलज्ञान और यथाख्यातसंयममें शून्य अर्थात् बन्धस्थानका अभाव है। सामायिक आदि तीन संयमोंमें श्रुतज्ञानकी तरह ५ स्थान हैं। परिहारविशुद्धि संयममें अंतका स्थान नहीं है, बाकी ४ स्थान हैं ॥ ५४७ ॥

अंतिमठाणं सुहुमे देसाविरदीसु हारकम्मं वा ।
चक्खूजुगले सव्वं सगसगणाणं व ओहिदुगे ॥ ५४८ ॥

अन्तिमस्थानं सूक्ष्मे देशाविरत्योः आहारकर्म्म वा ।
चक्षुर्युगले सर्वं स्वकस्वकज्ञानं वा अवधिद्विके ॥ ५४८ ॥

अर्थ—सूक्ष्मसांपरायसंयममें अन्तका एक ही स्थान है। देशसंयममें आहारककी तरह २८ और २९ के दो स्थान हैं। असंयतमें कार्माणयोगवत् आदिके ६ स्थान हैं। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन इन दोनोंमें सब स्थान हैं। अवधिदर्शन-केवलदर्शन इन दोनोंमें अपने अपने ज्ञानकी तरह बंधस्थान समझ लेना ॥ ५४८ ॥

कम्मं वा किण्हतिये पणुवीसाछक्कमट्ठवीसचऊ ।
कमसो तेऊजुगले सुक्काए ओहिणाणं वा ॥ ५४९ ॥

कर्म वा कृष्णत्रये पञ्चविंशतिषट्कमष्टाविंशचतुष्कम् ।
क्रमशः तेजोयुगले शुक्लायामवधिज्ञानं वा ॥ ५४९ ॥

अर्थ—कृष्णआदि तीन लेश्याओंमें कार्मणयोगकी तरह आदिके ६ बंधस्थान हैं। तेजोलेश्या और पद्मलेश्या इन दोनोंमें क्रमसे २५ आदिके ६ स्थान, तथा २८ आदिके चार स्थान हैं। शुक्ललेश्यामें अवधिज्ञानकी तरह अंतके पांच स्थान हैं ॥ ५४९ ॥

भव्वे सव्वमभव्वे किण्हं वा उवसमम्मि खइए य।
सुक्कं वा पम्मं वा वेदगसम्मत्तठाणाणि ॥ ५५० ॥

भव्ये सर्वमभव्ये कृष्णा वा उपशमे क्षायिके च।
शुक्लं वा पद्मं वा वेदकसम्यक्त्वस्थानानि ॥ ५५० ॥

अर्थ—भव्यमार्गणामें सब बंधस्थान हैं। अभव्यमें कृष्णलेश्याकी तरह आदिके ६ स्थान हैं। सम्यक्त्वमार्गणामेंसे उपशमसम्यक्त्वमें तथा क्षायिकसम्यक्त्वमें शुक्ललेश्यावत् ५ स्थान हैं। तथा वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्वमें पद्मलेश्यावत् २८ को आदिलेकर ४ बंधस्थान हैं॥ ५५० ॥

अडवीसतियं दु साणे मिस्से मिच्छे दु किण्हलेस्सं वा।
सण्णीआहारिदरे सव्वं तेवीसछक्कं तु ॥ ५५१ ॥

अष्टविंशत्रयं तु साने मिश्रे मिथ्ये तु कृष्णलेश्या वा।
संज्ञिआहारेतरयोः सर्वं त्रयोविंशषट्कं तु ॥ ५५१ ॥

अर्थ—सासादन सम्यक्त्वमें २८ को आदि लेकर ३ स्थान हैं। मिश्रसम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व में कृष्णलेश्यावत् आदिके ६ स्थान हैं। संज्ञीमार्गणामें और आहार मार्गणामें सब बंधस्थान हैं। और असंज्ञी-अनाहारमार्गणामें २३ को आदिलेकर ६ बंधस्थान हैं ॥ ५५१ ॥

आगे नामके बंधस्थानोंमें पुनरुक्त (बार बार कहेगये) भंगोंको कहते हैं;—

णिरयादिजुदट्ठाणे भंगेणप्पप्पणम्मि ठाणम्मि।
ठविदूण मिच्छभंगे सासणभंगा हु अत्थित्ति ॥ ५५२ ॥
अविरदभंगे मिस्सयदेसपमत्ताण सव्वभंगा हु।
अत्थित्ति ते दुअवणिय मिच्छाविरदापमादेसु ॥ ५५३ ॥ जुम्मं।

निरयादियुतस्थाने भङ्गेनात्मात्मनि स्थाने।
स्थापयित्वा मिथ्यभङ्गे सासनभङ्गा हि अस्तीति ॥ ५५२ ॥
अविरतभङ्गे मिश्रकदेशप्रमत्तानां सर्वभङ्गा हि।
अस्तीति तांस्तु अपनीय मिथ्याविरताप्रमादेषु ॥ ५५३ ॥ युग्मम्।

अर्थ—नरकादि गतिसहित स्थानोंको अपने अपने भंगोंके साथ अपने अपने गुणस्थानोंमें स्थापन करनेसे मिथ्यदृष्टिके बंधस्थानोंके भङ्गोंमें सासादनके भंग गर्भित हो जाते हैं। और असंयतके भङ्गोंमें मिश्र-देशविरत-प्रमत्तके सब बंधस्थानोंके भंग आ जाते हैं। इसकारण सासादनके भङ्गोंको तथा मिश्र-देशसंयत-प्रमत्तके भंगोंको घटानेसे मिथ्यादृष्टि-असंयत-प्रमत्तगुणस्थानोंमें बंधस्थानोंके भंग होते हैं, ऐसा निश्चयसे समझना चाहिए ॥ ५५२। ५५३ ॥

भुजगारा अप्पदरा अवट्ठिदावि य सभंगसंजुत्ता ।
सव्वपरट्ठाणेण य णेदव्वा ठाणबंधम्मि ॥ ५५४ ॥
भुजाकारा अल्पतरा अवस्थिता अपि च स्वभङ्गसंयुक्ताः ।
सर्वपरस्थानेन च नेतव्याः स्थानबन्धे ॥ ५५४ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त जो बंध हैं वे भुजाकार १ अल्पतर २ अवस्थित ३ और 'च' शब्दसे अवक्तव्य इस तरह चार प्रकारके हैं। वे अपने अपने भंगोंकरसहित नामकर्मके बंधस्थानों में स्वस्थान-परस्थान दोनों अथवा सब परस्थानोंके साथ लगाना चाहिये ॥ ५५४ ॥

अब उन स्वस्थानादिकोंका लक्षण कहते हैं;—

अप्पपरोभयठाणे बंधट्ठाणाण जो दु बंधस्स ।
सट्ठाण परट्ठाणं सव्वपरट्ठाणमिदि सण्णा ॥ ५५५ ॥
आत्मपरोभयस्थानानि बन्धस्थानानां यत्तु बन्धस्य ।
स्वस्थानं परस्थानं सर्वपरस्थानमिति संज्ञा ॥ ५५५ ॥

अर्थ—अपना विवक्षितगुणस्थान, अन्यगुणस्थान, अन्यगति और अन्यही गुणस्थानस्वरूप उभयस्थान—इन तीनोंमें मिथ्यादृष्टि-असंयत-अप्रमत्तके बन्धस्थानसंबंधी जो भुजाकारादि बंध हैं उनके क्रमसे स्वस्थानभुजाकारादि, परस्थानभुजाकारादि, और सर्वपरस्थानभुजाकारादिक ऐसे तीन नाम हैं ॥ ५५५ ॥

चदुरेक्कदुपण पंच य छत्तिगठाणाणि अप्पमत्तंता ।
तिसु उवसमगे संते त्ति य तियतिय दोण्णि गच्छंति ॥ ५५६ ॥
चतुरेकद्विपञ्च पञ्च च षट्त्रिकस्थानानि अप्रमत्तान्ताः ।
त्रिषु उपशामके शान्ते इति च त्रिकत्रिकं द्वे गच्छन्ति ॥ ५५६ ॥

अर्थ—अप्रमत्तपर्यंत गुणस्थानवाले जीव अपने अपने मिथ्यादृष्टि आदिक गुणस्थानोंको छोड़के क्रमसे ४, १, २, ५, ५, ६, ३ गुणस्थानोंको प्राप्त होते हैं। अपूर्वकरणादि तीन उपशम श्रेणीवाले तीन तीन गुणस्थानोंको तथा उपशांत कषायवाले दो गुणस्थानोंको प्राप्त होते हैं ॥ ५५६ ॥

आगे उन्हीं गुणस्थानोंको कहते हैं;—

सासणपमत्तवज्जं अपमत्तंतं समल्लियइ मिच्छो ।
मिच्छत्तं बिदियगुणो मिस्सो पढमं चउत्थं च ॥ ५५७ ॥
अविरदसम्मो देसो पमत्तपरिहीणमप्पमत्तंतं ।
छट्ठाणाणि पमत्तो छट्ठगुणं अप्पमत्तो दु ॥ ५५८ ॥ जुम्मं ।

सासनप्रमत्तवर्ज्यमप्रमत्तान्तं समाश्रयति मिथ्यः ।
मिथ्यात्वं द्वितीयगुणो मिश्रः प्रथमं चतुर्थं च ॥ ५५७ ॥
अविरतसम्यो देशः प्रमत्तपरिहीनमप्रमत्तान्तम् ।
षट् स्थानानि प्रमत्तः षष्ठगुणमप्रमत्तस्तु ॥ ५५८ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवाला सासादन और प्रमत्तगुणस्थानको छोड़कर अप्रमत्तपर्यंत चार गुणस्थानोंको प्राप्त होता है। दूसरे गुणस्थानवाला मिथ्यात्वको तथा मिश्रगुणस्थानवाला पहले-चौथे दो गुणस्थानोंको प्राप्त होता है। अविरतसम्यग्दृष्टि तथा देशसंयत ये दोनों प्रमत्त-गुणस्थानके सिवाय अप्रमत्त गुणस्थानतक पांचोंमें जाते हैं। प्रमत्तगुणस्थानवाला अप्रमत्तगुणस्थानपर्यंत ६ गुणस्थानोंमें जाता है। और अप्रमत्तगुणस्थानवाला छठे गुणस्थानको तथा तु शब्दसे उपशमक क्षपक अपूर्वकरणको और मरणकी अपेक्षासे देवासंयतको इसतरह कुल तीन गुणस्थानोंको प्राप्त होता है ॥ ५५७ । ५५८ ॥

उवसामगा दु सेढिं आरोहंति य पडंति य कमेण ।
उवसामगेसु मरिदो देवतमत्तं समल्लियई ॥ ५५९ ॥

उपशामकास्तु श्रेणिमारोहयन्ति च पतन्ति च क्रमेण ।
उपशामकेषु मृतो देवतमत्वं समाश्रयति ॥ ५५९ ॥

अर्थ—अपूर्वकरणादि उपशमश्रेणीवाले उपशमश्रेणीको क्रमसे चढ़ते भी हैं और उससे उतरते भी हैं। तथा उपशमश्रेणीमें मरेहुए जीव महान् ऋद्धिवाले देव भी होते हैं; अतएव चढ़नेकी अपेक्षा ऊपरका और उतरनेकी अपेक्षा नीचेका तथा मरणकी अपेक्षा चौथा इसतरह उपशमश्रेणीवालोंके तीन तीन गुणस्थान होते हैं। उपशांत कषायके १० वां और चौथा दो ही है ॥ ५५९ ॥

आगे उपशमश्रेणीमें मरण किस जगह होता हैं यह दिखाते हैं;—

"मिस्सा आहारस्स य खवगा चडमाणपढमपुव्वा य ।
पढमुवसम्मा तमतमगुणपडिवण्णा य ण मरंति ॥ ५६० ॥
अणसंजोजिदमिच्छे मुहुत्तअंतं तु णत्थि मरणं तु ।
किदकरणिज्जं जाव दु सव्वपरट्ठाण अट्ठपदा ॥ ५६१ ॥"

अर्थ—मिश्रगुणस्थानवाले, निर्वृत्यपर्याप्त अवस्थाके धारण करनेवाले मिश्रकाययोगी, क्षपकश्रेणीवाले, उपशमश्रेणीको चढ़नेकी हालतमें अपूर्वकरणके पहले भागवाले, प्रथमोपशमसम्यक्त्वी, सातवें नरकके द्वितीय तृतीय चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव मरणको प्राप्त नहीं होते। और अनंतानुबंधी का विसंयोजन करके मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवालेका अन्तर्मुहूर्त तक मरण नहीं होता। तथा

१. ये दो गाथा १४४ वें पृष्ठमें क्षेपकरूपसे लिखी गई थीं, उस जगह भी इनका अर्थ लिखा गया है तथा वहीं पर इनकी छाया भी लिखी है।

दर्शनमोहनीयका क्षय करनेवाला जबतक कृतकृत्यता होती है तबतक नहीं मरता, कृतकृत्यता हो जाने पर मरता है ॥ ५६० । ५६१ ॥

अब बद्धायु कृतकृत्यके प्रति पूर्वोक्त तीन स्थानोंमें सर्वपरस्थानोंके अर्थवान् पदोंको कहते हैं—

देवेसु देवमणुवे सुरणरतिरिये चउग्गईसुंपि ।
कदकरणिज्जुप्पत्ती कमसो अंतोमुहुत्तेण ॥ ५६२ ॥
देवेषु देवमनुष्ये सुरनरतिरश्चि चतुर्गतिष्वपि ।
कृतकरणीयोत्पत्तिः क्रमश अन्तर्मुहूर्तेन ॥ ५६२ ॥

अर्थ—कृतकृत्यवेदकसम्यक्दृष्टिपनेका काल अंतर्मुहूर्त है, उसके चार भाग करना । जिनमेंसे क्रमसे पहलेमें मरणको प्राप्त हुआ जीव देवोंमें, दूसरेमें मराहुआ देव-मनुष्योंमें, और तीसरेमें मरा हुआ देव-मनुष्यतिर्यंचोंमें तथा चौथेमें मराहुआ चारोंगतियोंमेंसे किसीमें भी उत्पन्न होता हैं ॥ ५६२ ॥

आगे नामकर्मके बंधस्थानोंके भेद कहते हैं;—

तिविहो दु ठाणबंधो भुजगारप्पदरवट्ठिदो पढमो ।
अप्पं बंधंतो बहुबंधे बिदियो दु विवरीयो ॥ ५६३ ॥
तदियो सणामसिद्धो सव्वे अविरुद्धठाणबंधभवा ।
ताणुप्पत्तिं कमसो भंगेण समं तु वोच्छामि ॥ ५६४ ॥ जुम्मं ।
त्रिविधस्तु स्थानबन्धो भुजाकाराल्पतरावस्थितः प्रथमः ।
अल्पं बध्नन् बहुबन्धे द्वितीयस्तु विपरीतः ॥ ५६३ ॥
तृतीयः स्वनामसिद्धः सर्वे अविरुद्धस्थानबन्धभवाः ।
तेषामुत्पत्तिं क्रमशो भङ्गेन समं तु वक्ष्यामि ॥ ५६४ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—नामकर्मके बंधस्थान तीन प्रकारके हैं - भुजाकार १ अल्पतर २ अवस्थित ३ । इनमेंसे पहला "भुजाकार बंध' पूर्व थोड़ो प्रकृति बांधता था पीछे बहुत बांधे उस जगह होता है । दूसरा इससे उलटा है । अर्थात् पहले बहुत बांधता था अब थोड़ी बांधे वहां "अल्पतर बंध" होता है । "तीसरा अवस्थित बंध" तो अपने नामसे ही प्रसिद्ध है । अर्थात् जितनी प्रकृतियां पहले बंधें उतनी ही पीछेके समयमें जहां बंधें वहां अवस्थित बंध होता है । ये सब भुजाकारादिबंध अविरुद्ध-बंधस्थानोंसे उत्पन्न होते हैं, इसकारण मैं ग्रन्थकर्ता उनकी उत्पत्तिको क्रमसे भंगों सहित कहता हूं ॥ ५६३ । ५६४ ॥

अब उसीको दिखाते हैं;—

भूबादरतेवीसं बंधंतो सव्वमेव पणुवीसं ।
बंधदि मिच्छाइट्ठी एवं सेसाणमाणेज्जो ॥ ५६५ ॥

भूबादरत्रयोविंशं बध्नन् सर्वमेव पञ्चविंशतिः ।
बध्नाति मिथ्यादृष्टिः एवं शेषाणामानेयः ॥ ५६५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवाला बादर पृथिवीकाय २३ के स्थानको बांधता हुआ २५ को आदि लेकर सब स्थानोंको बांधता है । इसीप्रकार त्रैराशिक गणितसे शेष बंधस्थानोंमें भी बंध भेद समझ लेना । त्रैराशिकका विधान बड़ी टीकामें खुलासा किया है सो वहां देखना चाहिये ॥ ५६५ ॥

तेवीसट्ठाणादो मिच्छत्तीसोत्ति बंधगो मिच्छो ।
णवरि हु अट्ठावीसं पंचिंदियपुण्णगो चेव ॥ ५६६ ॥

त्रयोविंशतिस्थानात् मिथ्यात्वत्रिंदिति बन्धको मिथ्यः ।
नवरि हि अष्टाविंशं पञ्चेन्द्रियपूर्णकश्चैव ॥ ५६६ ॥

अर्थ—२३ के स्थानसे लेकर मिथ्यात्वमें बंधयोग्य ३० के स्थान पर्यंत स्थानोंके भुजाकारोंको मिथ्यादृष्टि जीव बांधनेवाला कहा है । विशेषता यह है कि २८ के स्थानको जो पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि हो वही बांधता है ॥ ५६६ ॥

आगे भोगभूमियाके बन्धस्थान कहते हैं;—

भोगे सुरट्ठवीसं सम्मो मिच्छो य मिच्छगअपुण्णे ।
तिरिउगतीसं तीसं णरउगुतीसं च बंधदि हु ॥ ५६७ ॥

भोगे सुराष्टविंशं सम्यो मिथ्यश्च मिथ्यकापूर्णे ।
तिर्यगेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् नरैकोनत्रिंशत् च बध्नाति हि ॥ ५६७ ॥

अर्थ—भोगभूमिमें पर्याप्तपंचेन्द्री सम्यग्दृष्टि वा मिथ्यादृष्टि, च शब्दसे निर्वृत्यपर्याप्त सम्यग्दृष्टि जीव देवगतिसहित २८ के स्थानको बांधते हैं । निर्वृत्यपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव तिर्यंचगतिसहित २९ के वा ३० के स्थानको बाँधते हैं, और मनुष्यगतिसहित २९ के स्थानका भी बंध करते हैं ॥ ५६७ ॥

मिच्छस्स ठाणभंगा एयारं सदरि दुगुणसोल णवं ।
अडदालं बाणउदी सदाण छादाल चत्तधियं ॥ ५६८ ॥

मिथ्यस्य स्थानभङ्गा एकादश सप्ततिः द्विगुणषोडश नव ।
अष्टचत्वारिंशत् द्वानवतिः शतानाम् षट्चत्वारिंशत् चत्वारिंशदधिकम् ॥ ५६८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिके स्थानोंके भंग (भेद) २३ के ११, २५ के ७०, २६ के ३२, २८ के ९, २९ के ९२४८, ३० के ४६४० जानने ॥ ५६८ ॥

आगे अल्पतर भंगोंको कहते हैं;—

विवरीयेणप्पदरा होंति हु तेरासिएण भंगा हु ।
पुव्वपरट्ठाणाणं भंगा इच्छा फलं कमसो ॥ ५६९ ॥

विपरीतेनाल्पतरा भवन्ति हि त्रैराशिकेन भङ्गा हि ।
पूर्वापरस्थानानां भङ्गा इच्छा फलं क्रमशः ॥ ५६९ ॥

अर्थ—भुजाकार बंधके भंगोंकी त्रैराशिकसे उलटी त्रैराशिक करनेपर अल्पतरके भंग होते हैं। उसमें पहले स्थानरूप भंगोंको इच्छा राशि तथा पिछले स्थानोंको फलराशि करनेपर क्रमसे भेद होते हैं ॥ ५६९ ॥

आगे कहे हुए इन भेदोंको त्रैराशिक विना थोड़े उपायसे जाननेकी विधि दिखाते हैं;—

लघुकरणं इच्छंतो एयारादीहिं उवरिमं जोग्गं ।
संगुणिदे भुजगारा उवरीदो होंति अप्पदरा ॥ ५७० ॥

लघुकरणमिच्छता एकादशादिभिरुपरिमं योग्यम् ।
संगुणिते भुजाकारा उपरितो भवन्ति अल्पतराः ॥ ५७० ॥

अर्थ—जो थोड़ेमें जानना चाहता है उसको समझना चाहिये कि ११ आदि अंकोंसे ऊपरके अंकोंके जोड़का गुणा करे तब भुजाकार भंग होते हैं। और ऊपरके ३० आदि स्थानोंके भंगोंसे नीचेके भंगोंको परस्परमें जोड़नेसे जो प्रमाण हो उसके साथ गुणा करे तब अल्पतर भंग होते हैं ॥५७०॥

आगे गुणा करनेसे जितने भंग हुए उन्हींको कहते हैं;—

भुजगारप्पदराणं भंगसमासो समो हु मिच्छस्स ।
पणतीसं चउणउदी सट्ठी चोदालमंककमे ॥ ५७१ ॥

भुजाकाराल्पतरयोः भङ्गसमासो समो हि मिथ्यस्य ।
पञ्चत्रिंशत् चतुर्नवतिः षष्टिः चतुश्चत्वारिंशदङ्कक्रमेण ॥ ५७१ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिमें कहे हुए भुजाकार और अल्पतरकी भंगसंख्या समान है। वह पैंतीस चौरानवे साठ और चवालीसके अंकोंको अंकानां वामतो गतिः के क्रमसे रखनेपर ४४६०९४३५ प्रमाण होती है। सो यह भुजाकारोंकी संख्या है, इतनीही अल्पतरोंकी संख्या होती है। और इन दोनोंकी संख्याओंको मिलानेसे ८९२१८८७० प्रमाण अवस्थित भंगोंकी संख्या होती है ॥ ५७१ ॥

अब असंयत गुणस्थानमें भुजाकारादि भंगोंको कहते हैं;—

देवट्ठवीसं णरदेवुगुतीस मणुस्सतीस बंधयदे ।
तिछणवणवदुगभंगा तित्थविहोणा हु पुणरुत्ता ॥ ५७२ ॥

देवाष्टविंशं नरदेवैकोनत्रिंशत् मनुष्यत्रिंशत् बन्धोऽयते ।
त्रिषट्नवनवद्विकभङ्गाः तीर्थविहीना हि पुनरुक्ताः ॥ ५७२ ॥

अर्थ—असंयत गुणस्थानमें, देवगतिसहित २८ के स्थानमें, मनुष्यगतिसहित तथा देवगतिसहित २९ के स्थानमें, मनुष्यगतिसहित तीसके बंध स्थानमें ३६९९२ भुजाकारके भंग होते हैं।

इनमें जो तीर्थंकर रहित हैं वे पुनरुक्त भंग होते हैं, क्योंकि वे मिथ्यादृष्टिके भंगोंमें अन्तर्हित हो जाते हैं ॥ ५७२ ॥

यही दिखाते हैं;—

देवट्ठवीसबंधे देवुगुतीसम्मि भंग चउसट्ठी ।
देवुगुतीसे बंधे मणुवत्तीसेवि चउसट्ठी ॥ ५७३ ॥
देवाष्टविंशबन्धे देवैकोनत्रिंशति भङ्गाः चतुष्षष्टिः ।
देवैकोनत्रिंशति बन्धे मानवत्रिंशत्यपि चतुष्पष्टिः ॥ ५७३ ॥

अर्थ—मनुष्य असंयत गुणस्थानमें देवगतिसहित अट्ठाईसका बंध करके देवगतिसहित तथा तीर्थंकरप्रकृतिसहित २९ का बंध करता है तब दोनोंके भंगोंको गुणा करनेसे ६४ भंग होते हैं । और तीर्थंकर तथा देवगतिसहित २९ का बंधकरके मनुष्यासंयत देवासंयत या नारकासंयत होकर तीर्थंकर और मनुष्यगति सहित ३० का जब बंध करता है तब भी ६४ ही भंग होते हैं ॥ ५७३ ॥

तित्थयरसत्तणारयमिच्छो णरऊणतीसबंधो जो ।
सम्मम्मि तीसबंधो तियछक्कडछक्कचउभंगा ॥ ५७४ ॥
तीर्थंकरसत्त्वनारकमिथ्यो नरैकोनत्रिंशबन्धो यः ।
सम्यक्त्वे त्रिंशबन्धः त्रिकषट्काष्टषट्कचतुर्भङ्गाः ॥ ५७४ ॥

अर्थ—तीर्थंकरके सत्त्वसहित नारकी मिथ्यादृष्टि जब तक अपर्याप्त शरीर है तबतक ४६०८ भंगोंकर मनुष्यगति सहित २९ के स्थानका बंध करता है । उसके बाद शरीरपर्याप्ति पूर्ण करके सम्यक्त्वसहित हुआ तीर्थंकरमनुष्यसहित ३० को बांधता है । उसके ३६८६४ भंग होते हैं । इनमें पूर्वकथित १२८ भंग मिलानेसे ३६९९२ असंयतके भुजाकार भंग होते हैं ॥ ५७४ ॥

आगे असंयतके अल्पतर भंगोंको कहते हैं;—

बावत्तरि अप्पदरा देवुगुतीसा दु णिरयअडवीसं ।
बंधंत मिच्छभंगेणवगयतित्था हु पुणरुत्ता ॥ ५७५ ॥
द्वासप्ततिः अल्पतरा देवैकोनत्रिंशत्तु निरयाष्टविंशति ।
बध्नन् मिथ्यभङ्गेनापगततीर्था हि पुनरुक्ताः ॥ ५७५ ॥

अर्थ—पहले जिसने नरकायुका बंध किया है ऐसा मनुष्य असंयत तीर्थंकरबंधका प्रारम्भ करके तीर्थंकर और देवसहित २९ का बंध करता हुआ, नरकगतिके संमुख होकर अंतर्मुहूर्ततक मिथ्यादृष्टि होता हुआ नरकगतिसहित २८ का बंध करता है, तब ८ भंग होते हैं । और देव वा नारकी असंयत तीर्थ मनुष्यसहित ३० के स्थानको बांधता है उसके ८ भंग होते हैं । तथा पीछे वह मरणकर तीर्थंकरपनेसे माताके गर्भमें उत्पन्न हुआ वहां पर तीर्थ-देव-सहित २९ के स्थानका बंध करता है उसके भी ८ भंग होते हैं । इनको आपसमें गुणा करनेसे ८×८=६४ भंग हुए । इनमें

पहले ८ मिलानेसे ६४+८=७२ अल्पतर भंग असंयतमें होते हैं। यहां तीर्थंकरसे रहित मनुष्यगति वाले २९ को बांधके पीछे देवयुत २८ को बांधे उसके ६४ पुनरुक्त भंग मिथ्यादृष्टिके भंगोंके साथ कह आये हैं इससे यहां नहीं कहे हैं ॥ ५७५ ॥

आगे अप्रमत्तादि गुणस्थानोंमें भुजाकार भंगोंको कहते हैं,—

देवजुदेक्कट्ठाणे णरतीसे अप्पमत्तभुजयारा ।
पणदालिगिहारुभये भंगा पुणरुत्तगा होंति ॥ ५७६ ॥

देवयुतैकस्थाने नरत्रिंशति अप्रमत्तभुजाकाराः ।
पञ्चचत्वारिंशदेकाहारोभयेषु भङ्गाः पुनरुक्तका भवन्ति ॥ ५७६ ॥

अर्थ—देवगतिसहित एकके स्थानमें और मनुष्यगतितीर्थंकरयुक्त तीसके स्थानमें अप्रमत्तगुणस्थानमें ४५ भुजाकार भंग होते हैं। और तीर्थंकर प्रकृतिसहित, आहारकसहित और दोनों ही सहित–इन तीन स्थानोंमें जो भंग हैं वे पुनरुक्त हैं ॥ ५७६ ॥

अब उक्त ४५ भुजाकार बंधोंके भंगोंका विधान कहते हैं;—

इगि अड अट्ठिगि अट्ठिगिभेदड अट्ठड दुणव य वीस तीसेक्के ।
अडिगिगि अडिगिगि बिहि उणखिगि इगिइगितीस देवचउ कमसो ॥ ५७७ ॥

एकमष्ट अष्टैकमष्टैकभेदमष्टाष्टाष्ट द्विनव च विंशतिः त्रिंशदेकात् ।
अष्टैकमेकमष्टैकैकं द्वाभ्यामेकोनखैकैकत्रिंशत् देवचतुष्कं क्रमशः ॥ ५७७ ॥

अर्थ—नीचेकी पंक्तिके १, ८, ८, १, ८, १, १, १, १, १ भंगोंकर सहित २८, २८, २८, २९, २९, ३०, ३१, ३१, ३१, ३१ प्रकृतिरूप स्थानोंमें ऊपरको पंक्तिके ८, १, १, ८, १, १, १; १, १, १, भंगोंसहित २९, ३०, ३१; ३० ३१, ३१, और देवसहित चार स्थानोंको क्रमसे बांधता है। सो एक एक ऊपरको पंक्तिके स्थानभंगोंको एक एक नीचेकी पंक्तिके स्थानभंगोंके साथ गुणाकरनेसे सब ४५ भुजाकारभंग होते हैं। इसका खुलासा बड़ी टीकामें देखना चाहिये ॥ ५७७ ॥

आगे अप्रमत्तके अल्पतर भंगोंको कहते हैं;—

इगिविहिगिगि खखतीसे दस णव णवडधियवीसमट्ठविहं ।
देवचउक्केक्केक्के अपमत्तप्पदरछत्तीसा ॥ ५७८ ॥

एकविधिकमेकखखत्रिंशत् दशनव नवाष्टाधिकविंशमष्टविधम् ।
देवचतुष्कमेकैकेन अप्रमत्ताल्पतरषट्त्रिंशत् ॥ ५७८ ॥

अर्थ—एक एक भंगसहित एक एक शून्य शून्यसे अधिक तीस प्रकृतिरूप स्थानोंको बांधके आठ आठ भंगोंसहित दस नौ नौ और आठसे अधिक वीस प्रकृतिरूप स्थानोंको

तथा एक एक भंगसहित देवगतियुक्त चार स्थानोंको बांधता है। इस प्रकार अप्रमत्तगुणस्थानमें ३६ अल्पतर भंग होते हैं ॥ ५७८ ॥

आगे भुजाकारादि भंगोंको एकत्र (इकट्ठे) करके कहते हैं,—

सव्वपरट्ठाणेण य अयदपमत्तिदरसव्वभंगा हु ।
मिच्छस्स भंगमज्झे मिलिदे सव्वे हवे भंगा ॥ ५७९ ॥

सर्वपरस्थानेन च अयतप्रमत्तेतरसर्वभंगा हि ।
मिथ्यत्व भङ्गमध्ये मिलिते सर्वे भवन्ति भङ्गाः ॥ ५७९ ॥

अर्थ—सर्वपरस्थानोंकर तथा 'च' शब्दसे स्वस्थान और परस्थानकर सहित जो असंयत और अप्रमत्तआदिके सब भुजाकारादि भंग हैं वे मिथ्यादृष्टिके भंगोंमें मिलाये जानेपर नामकर्मके भुजाकारादि भंग नियमसे होते हैं ॥ ५७९ ॥

आगे उन भंगोंकी सिद्धिका साधारण उपाय दो गाथाओंसे कहते हैं;—

भुजगारा अप्पदरा हवंति पुव्ववरठाणसंताणे ।
पयडिसमोऽसंताणोऽपुणरुत्तेत्ति य समुद्दिट्ठो ॥ ५८० ॥

भुजाकारा अल्पतरा भवन्ति पूर्वापरस्थानसंताने ।
प्रकृतिसमः असंतानोऽपुनरुक्त इति च समुद्दिष्टः ॥ ५८० ॥

अर्थ—पहले स्थानको तथा पीछेके स्थानको बहुत प्रकृति तथा थोड़ी प्रकृतियों करके यथासंभव मिलान किया जाय तो क्रमसे भुजाकार और अल्पतर भंग होते हैं। और प्रकृतियोंकी समान संख्या होनेपर भी प्रकृतियोंका समुदाय प्रकृतिभेद सहित हो तो वह अपुनरुक्त भंग कहा गया है। अर्थात् जहां पहला स्थान थोड़ी प्रकृतिरूप हो उसको यथासंभव अधिक प्रकृतिवाले स्थानोंके साथ लगानेसे भुजाकार होते हैं, और पीछेके अधिक प्रकृतिवाले स्थानको थोड़ी प्रकृतिवालोंसे यथासंभव लगानेपर अल्पतर होते हैं। जहां प्रकृति-भेदके साथ प्रकृति-समुदायकी समान संख्या हो वहां अपुनरुक्त भंग होता है ॥ ५८० ॥

भुजगारे अप्पदरेऽवत्तव्वे ठाइदूण समबंधो ।
होदि अवट्ठिदबंधो तब्भंगा तस्स भंगा हु ॥ ५८१ ॥

भुजाकारानल्पतरानवक्तव्यान् स्थापयित्वा समबन्धः ।
भवति अवस्थितबन्धः तद्भङ्गाः तस्य भङ्गा हि ॥ ५८१ ॥

अर्थ—भुजाकार, अल्पतर और अवक्तव्यभंगोंको स्थापन करके जिन जिन भंगोंसहित प्रकृतियोंका एक समयमें बंध होता है उन्हीं भंगोंके साथ उन प्रकृतियोंका द्वितीयादि समयमें भी जहां समान बंध हो वहां उसे अवस्थित बंध कहते हैं। अत एव उन तीनोंके जितने भंग हैं उतने ही अवस्थितके भंग होते हैं ॥ ५८१ ॥

आगे उन अवक्तव्यभंगोंको कहते हैं;—

पडिय मरियेक्कमेक्कूणतीस तीसं च बंधगुवसंते ।
बंधो दु अवत्तव्वो अवट्ठिदो बिदियसमयादी ॥ ५८२ ॥

पतित्वा मृत्वा एकमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च बन्धकोपशान्ते ।
बन्धस्तु अवक्तव्य अवस्थितो द्वितीयसमयादिः ॥ ५८२ ॥

अर्थ—उपशांतकषायगुणस्थानमें नामकर्मकी किसीभी प्रकृतिको न बांधकर वहांसे पड़कर एकके स्थानको बांधै सो एक तो यह, और मरणकर देव असंयत होनेपर आठ आठ भंगोंसहित मनुष्यगतियुक्त २९ के स्थान को तथा तीर्थंकर मनुष्यसहित ३० के स्थानको बांधे सो इन दोनोंके १६—इसतरह १७ अवक्तव्यभंगके भेद जानना चाहिये । और द्वितीयादि समयमें भी उन्हींके समान बंध हो वहांपर उतने ही अवस्थि बंध होते हैं ॥ ५८२ ॥ इस प्रकार नामकर्मके बंधस्थान कहे हैं ।

आगे नामकर्मके उदयस्थानोंको २२ गाथाओंसे कहते हैं;—

विग्गहकम्मसरीरे सरीरमिस्से सरीरपज्जत्ते ।
आणावचिपज्जत्ते कमेण पंचोदये काला ॥ ५८३ ॥

विग्रहकार्मशरीरे शरीरमिश्रे शरीरपर्याप्ते ।
आनवचःपर्याप्ते क्रमेण पञ्च उदये कालाः ॥ ५८३ ॥

अर्थ—नामकर्मके उदयस्थान विग्रहगति अथवा कार्माण शरीरमें, मिश्र (अपर्याप्त) शरीरमें, शरीरपर्याप्तिमें, आनपर्याप्ति अर्थात् श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिमें, और वचनपर्याप्तिमें नियतकाल हैं अर्थात् जिस कालमें उदय योग्य हैं उसी कालमें उदय होते हैं । इसतरह इनके पांच काल नियत हैं । भावार्थ—जहां कार्माण शरीर पाया जाय वह कार्माणकाल है, जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक शरीरमिश्रकाल होता है, शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होजानेपर जबतक श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक शरीरपर्याप्तिका काल है, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण होनेपर जबतक भाषापर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक आन-प्राणपर्याप्तिकाल है, और भाषापर्याप्तिके पूर्ण होनेपर सम्पूर्ण आयुप्रमाण भाषापर्याप्तिकाल है । इसतरह नामकर्मके ये पांच उदयस्थान नियतकाल हैं । यहांपर गाथामें विग्रहगति और कार्माण इसतरह दोका जो उल्लेख किया है वह समुद्घात-केवलीके कार्माण शरीरको भी ग्रहण करना चाहिये इस विशेष अर्थको सूचित करनेके लिये है ॥ ५८३ ॥

अब इन कालोंका प्रमाण कहते हैं;—

एक्कं व दो व तिण्णि व समया अंतोमुहुत्तयं तिसुवि ।
हेट्ठिमकालूणाओ चरिमस्स य उदयकालो दु ॥ ५८४ ॥

एको व द्वौ वा त्रयो वा समया अन्तर्मुहूर्त्तकः त्रिष्वपि ।
अधस्तनकालोनः चरमस्य च उदयकालस्तु ॥ ५८४ ॥

अर्थ—उन उदय कालोंका प्रमाण क्रमसे १ समय वा २ समय अथवा ३ समय विग्रहगतिमें, और शरीरमिश्रादि ३ में अंतर्मुहूत २ प्रमाण है, और अंतको भाषापर्याप्तिका पूर्वकथित चारोंका काल घटानेसे शेष भुज्यमान आयुप्रमाण काल जानना ॥ ५८४ ॥

आगे उन पांच कालोंको जीवसमासोंमें घटित करते हैं;—

सव्वापज्जत्ताणं दोण्णिवि काला चउक्कमेयक्खे ।
पंचवि होंति तसाणं आहारस्सुवरिमचउक्कं ॥ ५८५ ॥

सर्वापर्याप्तानां द्वावपि कालौ चतुष्कमेकाक्षे ।
पञ्चापि भवन्ति त्रसानामाहारस्योपरिमचतुष्कम् ॥ ५८५ ॥

अर्थ—सब लब्ध्यपर्याप्तकोंमें पहलेके २ काल, एकेन्द्रोंमें ४ काल, त्रसोंमें ५ काल और आहारकशरीरमें पहलेके बिना आगेके ४ काल हैं ॥ ५८५ ॥

कम्मोरालियमिस्सं ओरालुस्सासभास इति कमसो ।
काला हु समुग्घादे उवसंहरमाणगे पंच ॥ ५८६ ॥

कर्मौरालिकमिश्रमौरालोच्छ्वासभाषेति क्रमशः ।
काला हि समुद्घाते उपसंहरमाणके पञ्च ॥ ५८६ ॥

अर्थ—समुद्घातकेवलीके कार्माण १ औदारिकमिश्र २ औदारिकशरीरपर्याप्ति ३ उश्वासनिश्वासपर्याप्ति ४ भाषापर्याप्ति काल ५ इस प्रकार पांच काल क्रमसे अपने प्रदेशोंका संकोच करने (समेटने) के समय ही होते हैं। किंतु विस्तार (फैलाने) के समय ३ ही काल हैं ॥ ५८६ ॥

अब इन्हीं तीन कालोंका खुलासा करते हैं,—

ओरालं दंडदुगे कवाडजुगले य तस्स मिस्सं तु ।
पदरे य लोगपूरे कम्मे व य होदि णायव्वो ॥ ५८७ ॥

औरालं दण्डद्विके कपाटयुगले च तस्य मिश्रं तु ।
प्रतरे च लोकपूरे कर्मणि वा च भवति ज्ञातव्यः ॥ ५८७ ॥

अर्थ—दंडसमुद्घातके करने वा समेटनेरूप युगलमें अर्थात् दो समयोंमें औदारिक शरीर पर्याप्ति काल है, कपाट समुद्घातके करने और समेटनेरूप युगलमें औदारिकमिश्रशरीर काल है, प्रतरसमुद्घातमें और लोकपूरणसमुद्घातमें कार्माणकाल है। इसप्रकार प्रदेशोंके विस्तार करनेपर ३ ही काल होते हैं ऐसा जानना चाहिये। किन्तु श्वासोच्छ्वास और भाषापर्याप्ति समेटते समयही होती हैं। क्योंकि मूलशरीरमें प्रवेश करते समयसेही संज्ञी पंचेन्द्रियकी तरह क्रमसे पर्याप्ति पूर्ण करता है। अतएव वहां पांचों काल संभव हैं ॥ ५८७ ॥

आगे नामकर्मके उदयस्थानोंकी उत्पत्तिका क्रम ४ गाथाओंसे कहते हैं,—

णामधुवोदयबारस गइजाईणं च तसतिजुम्माणं ।
सुभगादेज्जजसाणं जुम्मेक्कं विग्गहे वाणू ॥ ५८८ ॥

नामध्रुवोदयद्वादश गतिजातीनां च त्रसत्रियुग्मानाम् ।
सुभगादेययशसां युग्मैकं विग्रहे वानुः ॥ ५८८ ॥

अर्थ—"तेजदुगं वण्णचऊ" इस गाथामें कही हुई नामकर्मकी १२ ध्रुवप्रकृतियाँ, ४ गति, ५ जाति, और त्रसादि तीन युगल–त्रसस्थावर, बादर सूक्ष्म, पर्याप्त अपर्याप्तमेंसे एक २, तथा सुभग-आदेय और यशस्कीर्ति, इन तीनके जोड़ा-मेंसे एक एक प्रकृतिका और ४ आनुपूर्वी प्रकृतियोंमेंसे कोई एकका उदय होनेसे कुल २१ प्रकृतिरूप स्थानका उदय विग्रहगतिमेंही होता है, क्योंकि इनमें आनुपूर्वी भी गिनी है । अत एव ऋजुगतिवालोंके २४ आदिका ही उदय माना है ॥ ५८८ ॥

मिस्सम्मि तिअंगाणं संठाणाणं च एगदरगं तु ।
पत्तेयदुगाणेक्को उवघादो होदि उदयगदो ॥ ५८९ ॥

मिश्रे त्र्यङ्गानां संस्थानानां च एकतरकं तु ।
प्रत्येकद्विकयोरेकः उपघातो भवति उदयगतः ॥ ५८९ ॥

अर्थ—उक्त २१ प्रकृतिरूप उदयस्थानोंमेंसे आनुपूर्वीके घटाने और औदारिकादि तीन शरीरोंमेंसे एक, छह संस्थानोंमेंसे एक, प्रत्येक साधारण इन दोनोंमेंसे एक, और उपघात-ये चार उनमें मिलानेसे २४ का स्थान होता है । इस स्थानका मिश्रशरीरके कालमें उदय होता है ॥ ५८९ ॥

तसमिस्से ताणि पुणो अंगोवंगाणमेगदरगं तु ।
छण्हं संहडणाणं एगदरो उदयगो होदि ॥ ५९० ॥
परघादमंगपुण्णे आदावदुगं विहायमविरुद्धे ।
सासवची तप्पुण्णे कमेण तित्थं च केवलिणि ॥ ५९१ ॥ जुम्मं ।

त्रसमिश्रे तानि पुनः अङ्गोपाङ्गानामेकतरकं तु ।
षण्णां संहननानामेकतरमुदयकं भवति ॥ ५९० ॥
परघातमङ्गपूर्णे आतापद्विकं विहायोऽविरुद्धे ।
श्वासवचसी तत्पूर्णे क्रमेण तीर्थं च केवलिनि ॥ ५९१ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—पहले कही हुई ४ प्रकृतियां, तीन, अंगोपांगोंमेंसे १, छह संहननोंमेंसे १, ये सब ६ प्रकृतियां मिश्रशरीरवाले त्रसजीवके उदययोग्य हैं । और शरीरपर्याप्तिकालमें ही परघात प्रकृति त्रस स्थावरोंके उदय योग्य होती है । आताप-उद्योत ये दोनों तथा दोनों

विहायोगति-ये अविरुद्ध योग्य त्रसस्थावरके पर्याप्तिकालमें उदय योग्य होती हैं। उच्छ्वास और स्वरयुगल-इनका अपने अपने पर्याप्तिकालमें उदय होता है। और तीर्थंकर प्रकृतिका उदय केवलीकेही होता है ॥ ५९० । ५९१ ॥

आगे एक एक जीवकी अपेक्षा एक एक समयमें जो नामकर्मके उदय-स्थान संभव हैं वे नाना जीवोंकी अपेक्षासे कहे हैं, अब यहां उन्हींको दिखलाते हैं;—

वीसं इगिचउवीसं तत्तो इगितीसओत्ति एयधियं ।
उदयट्ठाणा एवं णव अट्ठ य होंति णामस्स ॥ ५९२ ॥

विंशमेकचतुर्विंशं तत एकत्रिंशदिति एकाधिकम् ।
उदयस्थानान्येवं नवाष्ट च भवन्ति नाम्नः ॥ ५९२ ॥

अर्थ—नामकर्मके उदयस्थान, २०, २१, २४ के ३ और इससे ऊपर एक एक अधिक ३१ के स्थान पर्यंत ७, तथा ९ और ८ का इस प्रकार १२ हैं ॥ ५९२ ॥

अब उन स्थानोंके स्वामियोंको कहते हैं:—

चदुगदिया एइन्दी विसेसमणुदेवणिरयएइन्दी ।
इगिवितिचपसामण्णा विसेससुरणारगेइन्दी ॥ ५९३ ॥
सामण्णसयलवियलविसेसमणुस्ससुरणारया दोण्हं ।
सयलवियलसामण्णा सजोगपंचक्खवियलया सामी ॥ ५९४ ॥ जुम्मं ।

चतुर्गतिका एकेन्द्रिया विशेषमनुदेवनिरयैकेन्द्रियाः ।
एकद्वित्रिचपसामान्या विशेषसुरनारकैकेन्द्रियाः ॥ ५९३ ॥
सामान्यसकलविकलविशेषमनुष्यसुरनारका द्वयोः ।
सकलविकलसामान्याः सयोगपञ्चाक्षविकलकाः स्वामिनः ॥ ५९४ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—२१ के स्थानके चारों गतिके जीव स्वामी हैं, २४ के एकेन्द्री, २५ के विशेषमनुष्य-देव-नारकी-एकेन्द्री स्वामी हैं, २६ के एकेन्द्री-दोइन्द्रिय-तेइन्द्री-चौइन्द्री-पंचेन्द्री-सामान्यजीव स्वामी हैं, २७ के विशेषपुरुष-देव नारकी-एकेन्द्री स्वामी हैं, २८ और २९ के स्थानके सामान्यपुरुष-पंचेन्द्री-विकलेन्द्री-विशेषपुरुष-देव-नारकी स्वामी हैं. ३० के पंचेन्द्री-विकलेन्द्री-सामान्यपुरुष स्वामी हैं, ३१ के सयोगकेवली-पंचेन्द्री-दोइन्द्री-आदि-विकलेन्द्री जीव स्वामी हैं, ९ और ८ के स्थानके अयोगकेवली स्वामी हैं। ॥ ५९३ । ५९४ ॥

एगे इगिवीसपणं इगिछव्वीसट्ठवीसतिण्णि णरे ।
सयले वियलेवि तहा इगितीसं चावि वचिठाणे ॥ ५९५ ॥
सुरणिरयविसेसणरे इगिपणसगवीसतिण्णि समुघादे ।
मणुसं वा इगिवीसे वीसं रूवाहियं तित्थं ॥ ५९६ ॥

वीसदु चउवीसचऊ पणछव्वीसादिपंचयं दोसु ।
उगुतीसति पणकाले गयजोगे होंति णव अट्ठं ॥५९७॥ विसेसयं
एकस्मिन्नेकविंशतिपञ्च एकषड्विंशाष्टविंशत्रीणि नरे ।
सकले विकलेपि तथा एकत्रिंशद् चापि वचःस्थाने ॥ ५९५ ॥
सुरनिरयविशेषनरे एकपञ्चसप्तविंशत्रीणि समुद्घाते ।
मनुष्यं वा एकविंशे विंशं रूपाधिकं तीर्थम् ॥ ५९६ ॥
विंशद्विकं चतुर्विंशचतुष्कं पञ्चषड्विंशादिपञ्चकं द्वयोः ।
एकोनत्रिंशत्रिकं पञ्चकालेषु गतयोगे भवन्ति नवाष्ट ॥ ५९७ ॥ विशेषकम् ।

अर्थ--पहले कहे हुए पांचकालोंमें यथासंवभव क्रमसे एकेन्द्रीके उदय योग्य २१ आदि पांच स्थान हैं, मनुष्यके उदययोग्य २१-२६ और २८ आदिके तीन स्थान इस तरह ५ स्थान हैं, सकलेन्द्री अर्थात् पंचेन्द्री और दोइन्द्री आदि विकलेन्द्रीतिर्यंचोंके उदययोग्य २१-२६ और २८ आदिके ३ स्थान और भाषापर्याप्तिमें ३१ का स्थान-इसप्रकार ६ स्थान हैं। देव, नारकी, आहारक और केवल सहित विशेष मनुष्य इनके २१-२५ तथा २७ आदिके ३, इसप्रकार ५ स्थान उदय योग्य हैं। समुद्घातकेवलीके मनुष्यकी तरह २१ मेंसे २० का ही स्थान होता है, क्योंकि आनुपूर्वी कम हो जाती है। तीर्थंकर समुद्घातकेवलीके तीर्थंकर प्रकृति बढ़नेसे २१ का स्थान होता है। इस प्रकार केवलीकार्माणके २० और २१ के दो स्थान उदय योग्य हैं। और विग्रहगतिके कार्माणमें २१ काही स्थान होता है। मिश्रशरीरकालमें २४ आदिके चार स्थान, शरीर पर्याप्तिकालमें २५ आदिके ५ स्थान, आनप्रान (श्वासोच्छ्वास) पर्याप्तिकालमें २६ आदिके पांच स्थान, भाषापर्याप्तिकालमें २९ आदिके ३ स्थान उदय योग्य हैं। और अयोगीमें तीर्थंकर केवलीके ९ का और सामान्यकेवलीके ८ का ये दो स्थान उदय योग्य हैं ॥ ५९५ । ५९६ । ५९७ ॥

अब अयोगीगुणस्थानके दो स्थानोंका स्वरूप कहते हैं;—

गयजोगस्स य बारे तदियाउगगोद इदि विहीणेसु ।
णामस्स य णव उदया अट्ठेव य तित्थहीणेसु ॥ ५९८ ॥
गतयोगस्य च द्वादश तृतीयायुष्कगोत्रमिति विहीनेषु ।
नाम्नश्च नव उदया अष्टैव च तीर्थहीनेषु ॥ ५९८ ॥

अर्थ—अयोगकेवलीकी १२ उदय प्रकृतियोंमेंसे वेदनीय-आयु-गोत्र ये ३ प्रकृतियां कम करनेपर बाकी नाम कर्मकी ९ उदय योग्य हैं। और जिसके तीर्थंकर प्रकृति नहीं हो तो उसके ८ ही उदय योग्य हैं ॥ ५९८ ॥

आगे नामकर्मके उदय स्थानोंमें भंगोंको कहते हैं;—

संठाणे संहडणे विहायजुम्मे य चरिमचदुजुम्मे ।
अविरुद्धेक्कदरादो उदयट्ठाणेसु भंगा हु ॥ ५९९ ॥

संस्थाने संहनने विहायोयुग्मे च चरमचतुर्युग्मे ।
अविरुद्धैकतरस्मात् उदयस्थानेषु भङ्गा हि ॥ ५९९ ॥

अर्थ— ६ संस्थानोंमेंसे, ६ संहननोंमेंसे, विहायोगतियुगलमेंसे, और अंतके सुभग आदि ४ युगलोंमेंसे अविरोधी एक एक प्रकृतिका ग्रहण करनेपर नामकर्मके भंग होते हैं। इन सबको आपसमें गुणाकरने से ११५२ भंग हो जाते हैं। भावार्थ—६-६-२-२-२-२-२ इस प्रकार अंकोंको रखकर परस्परमें गुणा करनेसे ११५२ होते हैं ॥ ५९९ ॥

आगे उन भंगोंमेंसे नारक आदि ४१ जीव पदोंमें संभव होनेवाले भंगोंको ३ गाथाओंसे कहते हैं:—

तत्थासत्था णारयसाहारणसुहुमगे अपुण्णे य ।
सेसेगविगलऽसण्णीजुदठाणे जसजुगे भंगा ॥ ६०० ॥

तत्राशस्ता नारकसाधरणसूक्ष्मके अपूर्णे च ।
शेषैकविकलासंज्ञियुतस्थाने यशोयुग्मे भङ्गाः ॥ ६०० ॥

अर्थ—उन उदय प्रकृतियोंमेंसे नारकी-साधारणवनस्पति, सब सूक्ष्म और लब्ध्यपर्याप्तक इन सबमें अप्रशस्त प्रकृतियोंकाही उदय है, इस कारण उनके पंचकालसंबन्धी सभी उदय-स्थानोंमें एक एक भंग है। शेष एकेन्द्री-विकलेन्द्री-असंज्ञीपंचेन्द्री इनमें पूर्वकथित अप्रशस्तका उदय तो है ही परन्तु यशस्कीर्ति-अयशस्कीर्ति इन दोनोंमेंसे किसी एकका उदय होनेसे उदयस्थानोंमें दो दो भंग हो जाते हैं अर्थात् एक यशस्कीर्ति सहित उदयस्थान, दूसरा अयशस्कीर्ति सहित उदयस्थान, इस तरह दो भेद होते हैं ॥ ६०० ॥

सण्णिम्मि मणुस्सम्मि य ओघेक्कदरं तु केवले वज्जं ।
सुभगादेज्जजसाणि य तित्थजुदे सत्थमेदीदि ॥ ६०१ ॥

संज्ञिनि मनुष्ये च ओघैकतरं तु केवले वज्रम् ।
सुभगादेययशांसि च तीर्थयुते शस्तमेतीति ॥ ६०१ ॥

देवाहारे शस्तं कालविकल्पेषु भङ्ग आनेयः ।
व्युच्छिन्नं ज्ञात्वा गुणप्रतिपन्नेषु सर्वेषु ॥ ६०२ ॥

अर्थ—चारप्रकारके देवोंमें और आहारकशरीरसहित प्रमत्तमें प्रशस्तप्रकृतियोंका ही उदय है, इसकारण उनके सबकालके उदयस्थानोंमें एक एक ही भंग है। और सासादनादि-गुणस्थानोंको प्राप्त हुए जीवोंमें अथवा विग्रहगतिकार्माणादिकके कालमें व्युच्छिन्न प्रकृतियोंको जानकर शेष प्रकृतियोंके भंग यथासंभव समझ लेना ॥ ६०२ ॥

वीसादीणं भंगा इगिदालपदेसु संभवा कमसो ।
एक्कं सट्ठी चेव य सत्तावीसं च उगुवीसं ॥ ६०३ ॥
वीसुत्तरछच्चसया बारस पण्णत्तरीहि संजुत्ता ।
एक्कारससयसंखा सत्तरससयाहिया सट्ठी ॥ ६०४ ॥
ऊणत्तीससयाहियएक्कावीसा तदोवि एकट्ठी ।
एक्कारससयसहिया एक्केक्क विसरिसगा भंगा ॥६०५॥ विसेसयं ।

विंशादीनां भङ्गा एकचत्वारिंशत्पदेषु संभवाः क्रमशः ।
एकः षष्टिः चैव च सप्तविंशं च एकोनविंशम् ॥ ६०३ ॥
विंशोत्तरषट् च शतानि द्वादश पञ्चसप्ततिभिः संयुक्ताः ।
एकादशशतसंख्या सप्तदशशताधिकाः षष्टिः ॥ ६०४ ॥
एकोनत्रिंशच्छताधिकैकविंशं ततोपि एकषष्टिः ।
एकादशशतसहिता एकैकं विसदृशका भङ्गाः ॥ ६०५ ॥ विशेषकम् ।

अर्थ—२० के स्थानको आदि लेकर स्थानोंके भंग ४१ जीवपदोंकी अपेक्षा यथासंभव क्रमसे १, ६०, २७, १९, ६२०, १२, ११७५, १७६०, २९२१, ११६१, होते हैं। तीर्थसमुद्घातकेवलीका १ भंग है किन्तु वह पुनरुक्तभंग है अत एव अयोगकेवलीके तीर्थंकर प्रकृति सहित ९ का १ और तीर्थंकर रहित ८ का १ भंग—इसप्रकार कुल ७७५८ भंग होते हैं॥ ६०३ । ६०४ । ६०५ ॥

आगे उन पुनरुक्तभंगोंको कहते हैं;—

सामण्णकेवलिस्स समुग्घादगदस्स तस्स वचि भंगा ।
तित्थस्सवि सगभंगा समेदि तत्थेक्कमवणिज्जो ॥ ६०६ ॥

सामान्यकेवलिनः समुद्घातगतस्य तस्य वचसि भङ्गाः ।
तीर्थस्यापि स्वकभङ्गाः समा इति तत्रैकोपनेयः ॥ ६०६ ॥

अर्थ—भाषापर्याप्तिकालमें सामान्यकेवलीके तथा समुद्घातसहितसामान्यकेवलीके ३० के स्थानमें चोबीस चोबीस भंग समान हैं। और तीर्थंकर केवली व तीर्थंकर समुद्घात-

केवलीके ३१ के स्थानमें एक एक भंग हैं सो वह भी समान है। इस कारण ये २५ भंग पुनरुक्त होनेसे ग्रहण नहीं करने चाहिये ॥६०६॥

आगे गुणस्थानोंमें उन भंगोंको कहते हैं;—

णारयसण्णिमणुस्ससुराणं उवरिमगुणाण भंगा जे।
पुणरुत्ता इदि अवणिय भणिया मिच्छस्स भंगेसु ॥६०७॥

नारकसंज्ञिमनुष्यसुराणामुपरितनगुणानां भङ्गा ये।
पुनरुक्ता इति अपनीय भणिता मिथ्यस्य भङ्गेषु ॥ ६०७ ॥

अर्थ—नारकी-संज्ञीतिर्यंच-मनुष्य-देव इनके ऊपरके अर्थात् सासादनादिगुणस्थानोंमें जो भंग हैं वे मिथ्यादृष्टिके भंगोंके समान होनेसे पुनरुक्त हैं, इसलिये उन पुनरुक्त भंगोंको घटाकर केवल मिथ्यादृष्टिके भंगोंमेंही उनको भी कहा गया है ॥६०७॥

अब उन भंगोंका सब जोड़ कहते हैं;—

अडवण्णा सत्तसया सत्तसहस्सा य होंति पिंडेण।
उदयट्ठाणे भंगा असहायपरक्कमुद्दिट्ठा ॥ ६०८ ॥

अष्टपञ्चाशत् सप्तशतानि सप्तसहस्राणि च भवन्ति पिण्डेन।
उदयस्थाने भङ्गा असहायपराक्रमोद्दिष्टाः ॥ ६०८ ॥

अर्थ—सहायतारहित पराक्रमवाले श्री महावीर स्वामीने नामकर्म सम्बन्धी बीस आदिके पूर्वोक्त १२ उदयस्थानोंमें अपुनरुक्त भंग सब मिलाकर ७७५८ कहे हैं ॥६०८॥

आगे नामकर्मके सत्त्वस्थानका प्रकरण १९ गाथाओंसे कहते हैं; —

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य।
ऊणासीदट्ठुत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सत्ता ॥ ६०९ ॥

त्रिद्व्येकनवतिः नवतिः अष्टचतुर्द्व्यधिकाशीतिरशीतिश्च।
एकोनाशीत्यष्टसप्तती सप्त सप्ततिः दश च नव सत्त्वानि ॥ ६०९ ॥

अर्थ—९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिरूप—नामकर्मके १३ सत्त्वस्थान हैं ॥ ६०९ ॥

अब उनकी विधि बतलाते हैं—

सव्वं तित्थाहारुभऊणं सुरणिरयणरदुचारिदुगे।
उव्वेल्लिदे हदे चउ तेरे जोगिस्स दसणवयं ॥ ६१० ॥

सर्वं तीर्थाहारोभयोनं सुरनिरयनरद्विचतुर्द्विके।
उद्वेलिते हते चतुष्कं त्रयोदश योगिनः दशनवकम् ॥ ६१० ॥

अर्थ—नामकर्मकी सब प्रकृतिरूप ९३ का स्थान है, उनमेंसे तीर्थंकर घटानेसे ९२ का स्थान, आहारकयुगल घटाने से ९१ का, तीनों घटानेसे ९० का स्थान होता है। उस ९० के स्थानमें देवगति १ और देवगत्यानुपूर्वी इन दोनोंकी उद्वेलना होनेसे ८८ का स्थान होता है, इसमें भी नरकगति आदि ४ प्रकृतियोंकी उद्वेलना होनेपर ८४ का स्थान होता है, इसमें भी मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन दोनोंकी उद्वेलना होनेसे ८२ का स्थान होता हैं, तथा ९३ आदि चार (९३-९२-९१-९०) स्थानोमें क्रमसे अनिवृत्तिकरणमें क्षय होनेवाली १३ प्रकृतियोंके घटानेसे ८०-७९-७८-७७ के चार स्थान होते हैं। और अयोगकेवलीके १० का और ९ का स्थान होता हैं ॥ ६१० ॥

आगे उन १० के तथा ९ के स्थानकी प्रकृतियोंको कहते हैं;—

गयजोगस्स दु तेरे तदियाउगगोदइदि विहीणेसु ।
दस णामस्स य सत्ता णव चेव य तित्थहीणेसु ॥ ६११ ॥

गतयोगस्य तु त्रयोदशसु तृतीयायुष्कगोत्रेतिविहीनेषु ।
दश नाम्नश्च सत्ता नव चैव च तीर्थहीनेषु ॥ ६११ ॥

अर्थ—अयोगकेवलीके १३ प्रकृतियोंमेंसे वेदनीय-आयु-गोत्र, ये तीन प्रकृतियां कम करनेसे नामकर्मकी १० प्रकृतियोंका सत्त्व है। यदि तीर्थंकर प्रकृति भी घटा दी जावे तो ९ प्रकृतियोंका सत्त्वस्थान होता है ॥ ६११ ॥

आगे उद्वेलनास्थानोंमें जो विशेषता है उसको कहते हैं;—

गुणसंजादप्पयडिं मिच्छे बंधुदयगंधहीणम्मि ।
सेसुव्वेल्लणपयडिं णियमेणुव्वेल्लदे जीवो ॥ ६१२ ॥

गुणसंजातप्रकृतिं मिथ्ये बन्धोदयगन्धहीने ।
शेषोद्वेलनप्रकृतिं नियमेनोद्वेल्लयति जीवः ॥ ६१२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें जिनप्रकृतियोंके बंधकी अथवा उदयकी वासना भी नहीं ऐसीं सम्यक्त्व आदि गुणसे उत्पन्न हुई सम्यक्त्वमोहनीय-मिश्रमोहनीय-आहारकयुगल, इन चार प्रकृतियोंकी तथा शेष उद्वेलनप्रकृतियोंकी उद्वेलना यह जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें करता है ॥ ६१२ ॥

अब उन प्रकृतियोंके उद्वेलनका क्रम कहते हैं—

सत्थत्तादाहारं पुव्वं उव्वेल्लदे तदो सम्मं ।
सम्मामिच्छं तु तदो एगो विगलो य सगलो य ॥ ६१३ ॥

शस्तत्वादाहारं पूर्वमुद्वेल्लयति ततः सम्यक् ।
सम्यग्मिथ्यं तु तत एको विकलश्च सकलश्च ॥ ६१३ ॥

अर्थ—आहारकयुगल प्रशस्तप्रकृति है इसलिये चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीव पहले इन दोनोंकी उद्वेलना करते हैं। पीछे सम्यक्त्वप्रकृतिका, उसके बाद सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीयकी उद्वेलना

करते है। उसके बाद एकेन्द्री-विकलेंद्री और सकलेन्द्रिय जीव शेष देवद्विकादिकोंकी उद्वेलना करते हैं ॥ ६१३ ॥

आगे उस उद्वेलनाके अवसरका काल कहते हैं;—

वेदगजोग्गे काले आहारं उवसमस्स सम्मत्तं ।
सम्मामिच्छं चेगे वियले वेगुव्वछक्कं तु ॥ ६१४ ॥

वेदकयोग्ये काले आहारमुपशमस्य सम्यक्त्वम् ।
सम्यग्मिथ्यं चैकस्मिन् विकले वैगूर्वषट्कं तु ॥ ६१४ ॥

अर्थ—वेदकसम्यक्त्वयोग्यकालमें आहारककी उद्वेलना, उपशमकालमें सम्यक्त्वप्रकृति वा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिकी उद्वेलना करता है। और एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय पर्यायमें वैक्रियिक-षट्कको उद्वेलना करता है ॥ ६१४ ॥

आगे इन दोनों कालोंका लक्षण कहते हैं;—

उदधिपुधत्तं तु तसे पल्लासंखूणमेगमेयक्खे ।
जाव य सम्मं मिस्सं वेदगजोग्गो य उवसमस्स तदो ॥ ६१५ ॥

उदधिपृथक्त्वं तु त्रसे पल्यासंख्योनमेकमेकाक्षे ।
यावच्च सम्यं मिश्रं वेदकयोग्यश्च उपशमस्य ततः ॥ ६१५ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमोहनीयकी और मिश्रमोहनीयकी स्थिति पृथक्त्वसागर प्रमाण त्रसके शेष रहे और पल्यके असंख्यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण एकेन्द्रीके शेष रह जावे वह "वेदकयोग्य काल" है। और उससे भी सत्तारूप स्थिति कम हो जाय तो वह उपशमकाल कहा जाता है ॥ ६१५ ॥

आगे तेजकाय और वायुकायकी उद्वेलन प्रकृतियोंको दिखाते हैं;—

तेउदुगे मणुवदुगं उच्चं उव्वेल्लदे जहण्णिदरं ।
पल्लासंखेज्जदिमं उव्वेल्लणकालपरिमाणं ॥ ६१६ ॥

तेजोद्विके मनुष्यद्विकमुच्चमुद्वेल्यते जघन्येतरत् ।
पल्यासंख्येयिममुद्वेलनकालपरिमाणम् ॥ ६१६ ॥

अर्थ—तेजकाय और वायुकायके मनुष्यगतियुगल और उच्चगोत्र-इन तीनकी उद्वेलना होती है। और उस उद्वेलनाके कालका प्रमाण जघन्य अथवा उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है ॥ ६१६ ॥

अब उसीको कहते हैं;—

पल्लासंखेज्जदिमं ठिदिमुव्वेल्लदि मुहुत्तअंतेण ।
संखेज्जसायरठिदिं पल्लासंखेज्जकालेण ॥ ६१७ ॥

पल्यासंख्येयिमां स्थितिमुद्वेलयति मुहूर्तान्तरेण ।
संख्येयसागरस्थितिं पल्यासंख्येयकालेन ॥ ६१७ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिकी अन्तर्मुहूर्तकालमें उद्वेलना करता है। अतएव संख्यातसागर प्रमाण मनुष्यद्विकादिकी सत्तारूपस्थितिकी उद्वेलना त्रैराशिकविधिसे पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालमें ही कर सकता है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ६१७ ॥

आगे सम्यक्त्वादिककी विराधना (छोड़ देना) कितनी बार होती है, यह कहते हैं—

सम्मत्तं देसजमं अणसंजोजणविहिं च उक्कस्सं ।
पल्लासंखेज्जदिमं वारं पडिवज्जदे जीवो ॥ ६१८ ॥

सम्यक्त्वं देशयममनसंयोजनविधिं च उत्कृष्टम् ।
पल्यासंख्येयं वारं प्रतिपद्यते जीवः ॥ ६१८ ॥

अर्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्व, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व, देशसंयम और अनंतानुबंधी कषायके विसंयोजनकी विधि—इन चारोंको यह जीव उत्कृष्टपने अर्थात् अधिकसे अधिक पल्यके असंख्यातवें भाग समयोंका जितना प्रमाण है उतना बार छोड़ छोड़ के पुनः पुनः ग्रहण करता है। पीछे नियमसे सिद्धपदको ही पाता है ॥ ६१८ ॥

चत्तारि वारमुवसमसेढिं समरुहदि खविदकम्मंसो ।
बत्तीसं वाराइं संजममुवलहिय णिव्वादि ॥ ६१९ ॥

चतुरो वारानुपशमश्रेणिं समारोहति क्षपितकर्मांशः ।
द्वात्रिंशद्वारान् संयममुपलभ्य निर्वाति ॥ ६१९ ॥

अर्थ—उपशमश्रेणीपर अधिकसे अधिक चार वार ही चढ़ता है, पीछे कर्मोंके अंशोंको क्षय करता हुआ क्षपकश्रेणी चढ़ मोक्षको ही जाता है। और सकलसंयमको उत्कृष्टपनेसे ३२ बार ही धारण करता है, पीछे मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ६१९ ॥

तित्थाहाराणुभयं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिये ।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवई ॥[1]

तीर्थाहारोभयं सर्वं तीर्थं न मिथ्यकादित्रये ।
तत्सत्त्वकर्मकाणां तद्गुणस्थानं न संभवति ॥

आगे चारों गतियोंकी अपेक्षासे गुणस्थानोंमें नामकर्मके सत्त्वस्थानोंकी योजना करते हैं;—

---

१ यह गाथा सत्त्वप्रकरणमें आ गई है अतएव यहां नम्बर नहीं दिया है। इसका अर्थ भी वहीं लिखा है कि मिथ्यादृष्टिमें एक जीवकी अपेक्षा तीर्थंकर और आहारकद्वय इन दोनों सहित स्थान नहीं है। या तीर्थ सहित या आहारक सहितही सत्व होता है। परन्तु नाना जीवकी अपेक्षा दोनोंका वहां सत्व पाया जाता है। सासादनमें नाना जीवकी अपेक्षा भी तीर्थ और आहारसहित सत्वस्थान नहीं है। मिश्रमें तीर्थसहित नहीं है, आहारसहित है। क्योंकि जिनके इन कर्मोंकी सत्ता रहती है उनके ये गुणस्थान नहीं होते।

सुरणरसम्मे पढमो सासणहीणेसु होदि बाणउदी ।
सुरसम्मे णरणारयसम्मे मिच्छे य इगिणउदी ॥ ६२० ॥
सुरनरसम्ये प्रथमं सासनहीनेषु भवति द्वानवतिः ।
सुरसम्ये नरनारकसम्ये मिथ्ये च एकनवतिः ॥ ६२० ॥

अर्थ—पहला ९३ का सत्त्वस्थान असंयतसम्यग्दृष्टि देवके तथा असंयत सम्यग्दृष्टि आदि मनुष्यके होता है। सासादन रहित चारों गतिके जीवोंके ९२ का स्थान होता है, और ९१ का स्थान देव सम्यग्दृष्टिके तथा मनुष्य और नारकी सम्यग्दृष्टी अथवा मिथ्यादृष्टिके होता है ॥ ६२० ॥

णउदी चदुग्गदिम्मि य तेरसखवगोत्ति तिरियणरमिच्छे ।
अडचउसीदी सत्ता तिरिक्खमिच्छम्मि बासीदी ॥ ६२१ ॥
नवतिः चतुर्गतौ च त्रयोदशक्षपक इति तिर्यग्नरमिथ्ये ।
अष्टचतुरशीतिः सत्ता तिर्यङ्मिथ्ये द्व्यशीतिः ॥ ६२१ ॥

अर्थ—९० का सत्त्वस्थान १३ प्रकृतियोंके क्षयवाले अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके भाग पर्यंत चारों गतियोंके जीवोंके होता है। ८८-८४ के दोनों स्थानोंकी सत्ता मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्यके ही है, और ८२ का सत्त्वस्थान तिर्यंच मिथ्यादृष्टिके ही होता हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ६२१ ॥

सीदादिचउट्ठाणा तेरसखवगादु अणुवसमगेसु ।
गयजोगस्स दुचरिमं जाव य चरिमम्हि दसणवयं ॥ ६२२ ॥
अशीत्यादिचतुःस्थानानि त्रयोदशक्षपकादनुपशामकेषु ।
गतयोगस्य द्विचरमं यावच्च चरमे दशनवकम् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—८० को आदि लेकर चार स्थान अर्थात् ८०-७९-७८-७७ के स्थान तेरह प्रकृतिके क्षय करनेवाले क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानसे लेकर अयोगीके द्विचरमसमय तक पाये जाते हैं। और १० का तथा ९ का सत्त्वस्थान अयोगकेवलीके अंतसमयमें होता है ॥ ६२२ ॥

आगे ४१ जीवपदोंमें उन सत्त्वस्थानोंको कहते हैं;—

णिरये वा इगिणउदी णउदी भूआदिसव्वतिरियेसु ।
बाणउदी णउदी अडचउबासीदी य होंति सत्ताणि ॥ ६२३ ॥
निरये द्व्येकनवतिः नवतिः भ्वादिसर्वतिर्यक्षु ।
द्वानवतिः नवतिः अष्टचतुर्द्व्यशीतिश्च भवन्ति सत्त्वानि ॥ ६२३ ॥

अर्थ—नामकर्मके सत्त्वस्थान नारकी जीवोंमें ९२-९१-९० के इस तरह ३ हैं। और

पृथिवीकायादि सब तिर्यंचोंमें ९२-९०-८८-८४-८२ के इस तरह पांच पांच हैं ॥ ६२३ ॥

बासीदिं वज्जित्ता बारसठाणाणि होंति मणुवेसु ।
सीदादिचउट्ठाणा छट्ठाणा केवलिदुगेसु ॥ ६२४ ॥

द्व्यशीतिं वर्जयित्वा द्वादशस्थानानि भवन्ति मानवेषु ।
अशीत्यादिचतुःस्थानानि षट्स्थानानि केवलिद्विकयोः ॥ ६२४ ॥

अर्थ—मनुष्योंमें ८२ के स्थानको छोड़कर शेष १२ स्थान होते हैं; परन्तु सयोगकेवलीके ८० को आदि लेकर चार सत्त्वस्थान हैं, और अयोगकेवलीके ८० को आदि लेकर ६ सत्त्वस्थान हैं ॥ ६२४ ॥

समविसमट्ठाणाणि य कमेण तित्थिदरकेवलीसु हवे ।
तिदुणवदी आहारे देवे आदिमचउक्कं तु ॥ ६२५ ॥

समविषमस्थानानि च क्रमेण तीर्थंतरकेवलिनोः भवेयुः ।
त्रिद्विनवतिः आहारे देवे आदिमचतुष्कं तु ॥ ६२५ ॥

अर्थ—केवलीके जो ४ और ६ स्थान कहे हैं उनमेंसे समसंख्यावाले तीर्थंकर केवलीके और विषम संख्यावाले स्थान तीर्थंकरप्रकृति रहित सामान्य केवलीके होते हैं। आहारकमें ९३-९२ के दो स्थान हैं और विमानवासी देवोंमें आदिके ४ सत्त्वस्थान होते हैं ॥ ६२५ ॥

बाणउदिणउदिसत्ता भवणतियाणं च भोगभूमीणं ।
हेट्ठिमपुढविचउक्कभवाणं च य सासणे णउदी ॥ ६२६ ॥

द्वानवतिनवतिसत्ता भवनत्रिकाणां च भोगभूमीनाम् ।
अधस्तनपृथिवीचतुष्कभवानां च च सासने नवतिः ॥ ६२६ ॥

अर्थ—भवनत्रिक देवोंके, भोगभूमियामनुष्य तिर्यंचोंके और नीचेकी अंजनादि चार नरकपृथिवियोंके नारकियोंके ९२-९० इन दो स्थानोंको सत्ता है। तथा सासादन गुणस्थानमें सब जीवोंके एक ९० का ही सत्त्वस्थान है। इस प्रकारसे बंधोदय सत्त्वकी अपेक्षा भंग कहे हैं ॥ ६२६ ॥

आगे प्रकृतियोंके बंधोदयसत्त्वके त्रिसंयोगी भंग कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

मूलुत्तरपयडीणं बंधोदयसत्तठाणभंगा हु ।
भणिदा हु तिसंजोगे एत्तो भंगे परूवेमो ॥ ६२७ ॥

मूलोत्तरप्रकृतीनां बन्धोदयसत्त्वस्थानभङ्गा हि ।
भणिता हि त्रिसंयोगे इतो भङ्गान् प्ररूपयामः ॥ ६२७ ॥

अर्थ—इसप्रकार मूलप्रकृतियोंके और उत्तर प्रकृतियोंके बंधोदयसत्त्वरूप स्थान तथा भंग कहे। इसके बाद अब हम बंध-उदय सत्ता इनके त्रिसंयोगी भंगोंका निरूपण करते हैं ॥ ६२७ ॥

अर्थ - गुणस्थानोंकी अपेक्षासे गोत्रकर्मके भंग नियमसे मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें क्रमसे ५ और ४ होते हैं। मिश्रादि तीन गुणस्थानोंमें दो दो भंग हैं। प्रमत्तादि आठ गुणस्थानोंमें गोत्रकर्मका एक एक ही भंग है। और अयोगकेवलीके दो भंग होते हैं ॥ ६३८ ॥

आगे आयुकर्मके भंग १३ गाथाओंसे कहते हैं;

सुरणिरया णरतिरियं छम्मासवसिट्ठगे सगाउस्स ।
णरतिरिया सव्वाउं तिभागसेसम्मि उक्कस्सं ॥ ६३९ ॥
भोगभुमा देवाउं छम्मासवसिट्ठगे य बंधंति ।
इगिविगला णरतिरियं तेउदुगा सत्तगा तिरियं ॥ ६४० ॥ जुम्मं ।

सुरनिरया नरतिर्यञ्चं षण्मासावशिष्टके स्वकायुषः ।
नरतिर्यञ्चः सर्वायूंषि त्रिभागशेषे उत्कृष्टम् ॥ ६३९ ॥
भोगभूमा देवायुः षण्मासावशिष्टके च बध्नन्ति ।
एकविकला नरतिर्यञ्चं तेजोद्विकौ सप्तकाः तिर्यञ्चम् ॥ ६४० ॥ युग्मम् ।

अर्थ—अपनी भुज्यमान आयुके अधिकसे अधिक ६ महीने शेष रहनेपर देव और नारकी मनुष्यायु अथवा तिर्यंचायुका ही बंध करते हैं। तथा मनुष्य और तिर्यंच अपनी आयुके तीसरे भागके शेष रहनेपर चारों आयुओंमेंसे योग्यतानुसार किसी भी एकको बांधते हैं। भोगभूमिया जीव अपनी आयुके ६ महीने बाकी रहनेपर देवायुका ही बंध करते हैं। एकेन्द्री और विकलत्रय जीव, मनुष्यायु वा तिर्यंचायु दोनोंमेंसे किसी एकको बांधते हैं; परंतु तेजकायिक-वायुकायिक जीव और सातवीं पृथिवीके नारकी तिर्यंचआयुका ही बंध करते हैं ॥ ६३९ । ६४० ॥

इसप्रकार आयुके बंधस्वरूपको कहकर अब आयुके उदय-सत्त्वको कहते हैं;—

सगसगगदीणमाउं उदेदि बंधे उदिण्णगेण समं ।
दो सत्ता हु अबंधे एक्कं उदयागदं सत्तं ॥ ६४१ ॥

स्वकस्वकगतीनामायुरुदेति बन्धे उदीर्णकेन समम् ।
द्वे सत्त्वे हि अबन्धे एकमुदयागतं सत्त्वम् ॥ ६४१ ॥

अर्थ—नारकीआदि जीवोंके अपनी अपनी गतिकी एक आयुका तो उदय हो होता है। और परभवकी आयुका भी बंध हो जावे तो उनके उदयरूप आयुसहित दो आयुकी सत्ता होती हैं। और जो परभवको आयुका बंध न हो तो एक ही उदयागत आयुकी सत्ता रहती है; ऐसा नियमसे जानना ॥ ६४१ ॥

एक्के एक्कं आऊ एक्कभवे बंधमेदि जोग्गपदे ।
अडवारं वा तत्थवि तिभागसेसे व सव्वत्थ ॥ ६४२ ॥

एकस्मिन्नेकमायुरेकभवे बन्धमेति योग्यपदे ।
अष्टवारं वा तत्रापि त्रिभागशेषे एव सर्वत्र ॥ ६४२ ॥

अर्थ—एक जीवके एक भवमें एक ही आयु बंधरूप होती है। सो भी वह योग्यकालमें आठवार ही बंधती है, तथा वहांपर भी वह सब जगह आयुका तीसरा तीसरा भाग शेष रहनेपर ही बंधती है ॥ ६४२ ॥

इगिवारं वज्जित्ता वड्ढी हाणी अवट्ठिदी होदि ।
ओवट्टणघादो पुण परिणामवसेण जीवाणं ॥ ६४३ ॥

एकवारं वर्जयित्वा वृद्धिः हानिः अवस्थितिः भवति ।
अपवर्तनघातः पुनः परिणामवशेन जीवानाम् ॥ ६४३ ॥

अर्थ—पूर्वकथित आठ अपकर्षणों (त्रिभागों) में पहली वारके विना द्वितीयादिवारमें जो पहले वारमें आयु बांधी थी उसीकी स्थितिकी वृद्धि वा हानि अथवा अवस्थिति होती है। और आयुके बंध करनेपर जीवोंके परिणामोंके निमित्तसे उदयप्राप्त आयुका अपवर्तनघात (कदलीघात-घटजाना) भी होता है। **भावार्थ**—आठ अपकर्षणोंमें सभीके अन्दर आयुका बंध हो ही ऐसा नियम नहीं है। जहांपर आयुबंधके निमित्त मिलते हैं वहीं बंध होता है। तथा जिस अपकर्षणमें जिस आयुका बंध हो जाता है उसके अनंतर उसी आयुका बंध होता है, परन्तु परिणामोंके अनुसार उसकी स्थिति कम अधिक या अवस्थित हो सकती है। तथा उसका उदय आनेपर कदलीघात भी हो सकता है ॥ ६४३ ॥

एवमबंधे बंधे उवरदबंधेवि होंति भंगा हु ।
एक्कस्सेक्कम्मि भवे एक्काउं पडि तये णियमा ॥ ६४४ ॥

एवमबन्धे बन्धे उपरतबन्धेपि भवन्ति भङ्गा हि ।
एकस्यैकस्मिन् भवे एकायुः प्रति त्रयो नियमात् ॥ ६४४ ॥

अर्थ—इस प्रकार बंध होनेपर अथवा बन्ध नहीं होनेपर व उपरत बंध अवस्थामें एक जीवके एक पर्यायमें एक एक आयुके प्रति तीन तीन भंग नियमसे होते हैं। **भावार्थ**—किसी भी जीवके आगामी आयुके बंधकी अपेक्षासे तीन भंग हो सकते हैं। आगामी आयुका भूतकालमें बंध न हुआ हो किंतु वर्तमानमें बंध हो रहा हो वहां पहला बंधरूप भंग, और जहां भूतमें भी बंध न हुआ हो और वर्तमानमें भी न हो रहा हो वहां दूसरा अबंधरूप भंग, और जहां भूतकालमें बंध हुआ हो वर्तमानमें न हो रहा हो वहां उपरतबंध तीसरा भंग होता है ॥ ६४४ ॥

एक्काउस्स तिभंगा संभवआऊहि ताडिदे णाणा ।
जीवे इगिभवभंगा रूऊणगुणूणमसरित्थे ॥ ६४५ ॥

अर्थ—देशसंयत गुणस्थानमें तिर्यंच और मनुष्योंमें बंध-अबंध-उपरतबंधकी अपेक्षा तीन तीन भंग होते हैं। छठे सातवें गुणस्थानमें मनुष्यके ही और देवायुके बंधकी ही अपेक्षा तीन तीन भंग होते हैं। उपशमश्रेणीमें देवायुका भी बंध न होनेसे देवायुके अबंध-उपरतबंधकी अपेक्षा दो दो भंग हैं। और क्षपकश्रेणीमें उपरतबंधके भी न होनेसे अबंधकी अपेक्षा एक एक ही भंग है ऐसा जानना चाहिये ॥ ६४८ ॥

आगे गुणस्थानमें जो सब गतियों संबंधी आयुके भंग कहे गये हैं उन सबका जोड़ कहते हैं;—

अडछव्वीसं सोलस वीसं छत्तिगतिगं च चदुसु दुगं।
असरिसभंगा तत्तो अजोगिअंतेसु एक्केक्को ॥ ६४९ ॥

अष्टषड्विंशतिः षोडश विंशतिः षड् त्रिकत्रिकं च चतुर्षु द्विकम्।
असदृशभंगाः तत अयोग्यन्तेषु एकैकः ॥ ६४९ ॥

अर्थ—सब मिलकर अपुनरुक्तभंग मिथ्यादृष्टि आदि ७ गुणस्थानोंमें क्रमसे २८, २६, १६, २०, ६, ३, ३ हैं। उपशमश्रेणीवाले चार गुणस्थानोंमें दो दो भंग जानना। उसके बाद क्षपकश्रेणीमें अपूर्वकरणसे लेकर अयोगि गुणस्थानतक एक एक भंग कहा गया है ॥ ६४९ ॥

आगे वेदनीय-गोत्र-आयु इन तीनोंके मिथ्यादृष्टि आदि सब गुणस्थानोंमें भंगोंकी संख्या कहते हैं;—

बादालं पणुवीसं सोलसअहियं सयं च वेयणिये।
गोदे आउम्मि हवे मिच्छादिअजोगिणो भंगा ॥ ६५० ॥

द्वाचत्वारिंशत् पञ्चविंशतिः षोडशाधिकं शतं च वेदनीये।
गोत्रे आयुषि भवेयुः मिथ्याद्ययोगिनो भङ्गाः ॥ ६५० ॥

अर्थ—पहले जो मिथ्यादृष्टि आदि अयोगीपर्यंत गुणस्थानोंमें भंग कहे हैं वे सब मिलकर वेदनीयके ४२, गोत्रके २५ और आयुके ११६ होते हैं ॥ ६५० ॥

आगे वेदनीय-गोत्र-आयु इनके सामान्य रीतिसे पूर्वोक्त मूल भंगोंकी संख्या कहते हैं;—

वेयणिये अडभंगा गोदे सत्तेव होंति भंगा हु।
पण णव णव पण भंगा आउचउक्केसु विसरित्था ॥ ६५१ ॥

वेदनीये अष्ट भङ्गा गोत्रे सप्तैव भवन्ति भङ्गा हि।
पञ्च नव नव पञ्च भङ्गा आयुष्चतुष्केषु विसदृशाः ॥ ६५१ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त भंगोंमें अपुनरुक्त मूल भंग वेदनीयके ८, और गोत्रके ७ होते हैं। तथा चारों आयुओंके क्रमसे ५, ९, ९, ५ भंग होते हैं ॥ ६५१ ॥

आगे मोहनीयके त्रिसंयोगी भंगोंको कहते हैं;—

मोहस्स य बंधोदयसत्तट्ठाणाण सव्वभंगा हु ।
पत्तेउत्तं व हवे तियसंजोगेवि सव्वत्थ ॥ ६५२ ॥
मोहस्य च बन्धोदयसत्त्वस्थानानां सर्वभङ्गा हि ।
प्रत्येकोक्तं व भवन्ति त्रिकसंयोगेपि सर्वत्र ॥ ६५२ ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मके बंध उदय सत्त्वस्थानोंके सब भंग जिस तरह पहले अलग अलग कहे थे उसीतरह बंधादिके संयोगरूप त्रिसंयोगमें भी सब जगह भंग होते हैं ॥ ६५२ ॥

आगे गुणस्थानोंमें मोहके स्थानोंकी संख्या कहते हैं,—

अट्ठसु एक्को बंधो उदया चदु ति दुसु चउसु चत्तारि ।
तिण्णि य कमसो सत्तं तिण्णेगदु चउसु पणग तियं ॥ ६५३ ॥
अणियट्टीबंधत्तियं पणदुगएक्कारसुहुमउदयंसा ।
इगि चत्तारि य संते सत्तं तिण्णेव मोहस्स ॥ ६५४ ॥ जुम्मं ।
अष्टसु एको बन्ध उदयाः चत्वारः त्रयः द्वयोः चतुर्षु चत्वारः ।
त्रीणि च क्रमशः सत्त्वं त्र्येकद्विकं चतुर्षु पञ्चकं त्रिकम् ॥ ६५३ ॥
अनिवृत्तिबन्धत्रिकं पञ्चद्विकैकादश सूक्ष्मोदयांशाः ।
एकः चत्वारश्च शान्ते सत्त्वं त्रीण्येव मोहस्य ॥ ६५४ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—मोहनीयके पूर्वोक्त बंध उदय सत्त्वस्थानोंमें यथासंभव बंधस्थान मिथ्यादृष्टि आदि ८ गुणस्थानोंमें तो एक एक ही है । उदयस्थान पहले गुणस्थानमें ४, इससे आगे दो गुणस्थानोंमें तीन तीन और इसके बाद चार गुणस्थानोंमें चार चार तथा एकमें तीन–इसतरह क्रमसे जानना । और सत्त्वस्थान हैं वे क्रमसे मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानमें तो ३, १, २ जानना । इसके बाद चार गुणस्थानोंमें पांच पांच, इससे आगेके एक गुणस्थानमें ३ ही हैं । और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें बंध उदय सत्त्वस्थान क्रमसे ५, २, ११ जानने चाहिये । सूक्ष्मसांपरायमें बंधस्थानका अभाव है, उदयस्थान और सत्त्वस्थान क्रमसे १ और ४ हैं । और उपशांत कषायनामा ग्यारहवें गुणस्थानमें बंध तथा उदयका भी अभाव होने से केवल सत्त्वस्थान ही ३ पाये जाते हैं ॥ ६५३ । ६५४॥

आगे वे कौन कौनसे स्थान हैं, उनको दिखाते हैं,—

बावीसं दसयचउ अडवीसतियं च मिच्छबंधादी ।
इगिवीसं णवयतियं अट्ठावीसे च बिदियगुणे ॥ ६५५ ॥
द्वाविंशतिः दशकचतुष्कमष्टाविंशतित्रिकं च मिथ्ये बन्धादिः ।
एकविंशतिः नवकत्रिकमष्टाविंशतिश्च द्वितीयगुणे ॥ ६५५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें बंध उदय सत्त्वस्थान क्रमसे २२ का एक, १० वें को लेकर ४, और २८ के को लेकर तीन हैं । और सासादनगुणस्थानमें बंधस्थानमें २१ का एक,

उदयस्थान ९ के से लेकर तीन-अर्थात् ९ का ८ का ७ का, तथा सत्त्वस्थान एक २८ का ही जानना चाहिये ॥ ६५५ ॥

सत्तरसं णवयतियं अडचउवीसं पुणोवि सत्तरसं ।
णवचउ अडचउवीस य तिवीसतियमंसयं चउसु ॥ ॥ ६५६ ॥

सप्तदश नवकत्रयमष्टचतुर्विंशं पुनरपि सप्तदश ।
नवचतुष्कमष्टचतुर्विंशं च त्रयोविंशत्रयमंशकं चतुर्षु ॥ ६५६ ॥

अर्थ—मिश्रगुणस्थानमें बंध उदय सत्त्वस्थान ये तीनों क्रमसे १७ का, ९ को आदि लेकर तीन, तथा २८-२४ के दो स्थान हैं । उसके बाद असंयतगुणस्थानमें बंधादि तीन क्रमसे १७ का, ९ को आदि लेकर चार स्थान, २८-२४ के दो और २३ को आदि लेकर तीन इसतरह कुल पांच हैं । इसीतरह ये ही ५ सत्त्वस्थान असंयतादि अप्रमत्तगुणस्थानतक चार गुणस्थानोंमें भी जानने चाहिये ॥ ६५६ ॥

तेरट्ठचऊ देसे पमदिदरे णव सगादिचत्तारि ।
तो णवगं छादितियं अडचउरिगिवीसयं च बंधतियं ॥ ६५७ ॥

त्रयोदश अष्टचतुष्कं देशे प्रमत्तेतरयोः नव सप्तकादिचत्वारि ।
अतो नवकं षडादित्रयमष्टचतुरेकविंशकं च बंधत्रयम् ॥ ६५७ ॥

अर्थ—देशसंयतगुणस्थानमें बंध उदय सत्त्व ये तीनों स्थान क्रमसे १३ का, ८ को आदि लेकर चार स्थान, तथा पूर्ववत् ५ हैं । प्रमत्तगुणस्थान और अप्रमत्तगुणस्थान इन दोनोंमें बंधादि स्थान क्रमसे ९ का, ७ को लेकर चार, तथा पहले की तरह ५ हैं । इसके बाद अपूर्वकरण गुणस्थानमें तीनों स्थान क्रमसे ९ का, ६ को आदि लेकर तीन, और २८-२४-२१ का इसप्रकार तीन हैं, और क्षपकके एक २१ का ही स्थान है ॥ ६५७ ॥

पंचादिपंचबंधो णवमगुणे दोण्णि एक्कमुदयो दु ।
अट्ठचदुरेक्कवीसं तेरादीअट्ठयं सत्तं ॥ ६५८ ॥

पञ्चादिपञ्चबन्धो नवमगुणे द्वौ एक उदयस्तु ।
अष्टचतुरेकविंशं त्रयोदशाद्यष्टकं सत्त्वम् ॥ ६५८ ॥

अर्थ—नवमे गुणस्थानमें ५ को आदिलेकर पांच बंधस्थान हैं । २ का १ का इसप्रकार दो उदयस्थान हैं । और २८-२४-२१ का इसतरह तीन सत्त्वस्थान हैं । तथा क्षपकश्रेणि वालेके १३ के को आदि लेकर ८ सत्त्वस्थान हैं । इसके ऊपर मोहके बंधका अभाव है अतएव वहां पर उदय और सत्व दो के ही स्थान समझने चाहिये ॥ ६५८ ॥

लोहेक्कुदओ सुहुमे अडचउरिगिवीसमेक्कयं सत्तं ।
अडचउरिगिवीसंसा संते मोहस्स गुणठाणे ॥ ६५९ ॥

लोभैकोदयः सूक्ष्मे अष्टचतुरेकविंशमेकं सत्त्वम् ।
अष्टचतुरेकविंशांशाः शान्ते मोहस्य गुणस्थाने ॥ ६५९ ॥

अर्थ—सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानमें उदयस्थान एक सूक्ष्मलोभरूप ही है। और सत्त्वस्थान २८-२४-२१ के तीन किंतु क्षपकश्रेणीवालेके १ प्रकृतिरूप एक ही है। इसके ऊपर मोहके उदयका भी अभाव है। अतएव उपशांतकषाय गुणस्थानमें सत्त्वस्थान ही है और वे २८-२४-२१ के तीन हैं। यहां पर इतना और विशेष समझना कि जिस प्रकार दशवें गुणस्थानमें बंधस्थानका अभाव होनेसे उदयसत्त्वके ही दो स्थान कहे हैं और ग्यारहवेंमें उदयका भी अभाव होनेसे एक सत्त्वका ही स्थान कहा है, उसी प्रकार उपशांत मोहसे आगे मोहका सत्त्व भी नहीं रहता अतएव उसका भी वर्णन नहीं किया है। इसप्रकार मोहनीयके बंधादि स्थान गुणस्थानोंमें जानने चाहिये ॥ ६५९ ॥

आगे मोहनीयके बंध उदय और सत्त्वस्थानोंके त्रिसंयोगमें जो विशेषता है उसको दिखाते हैं;—

बंधपदे उदयंसा उदयट्ठाणेवि बंध सत्तं च ।
सत्ते बंधुदयपदं इगिअधिकरणे दुगाधेज्जं ॥ ६६० ॥

बन्धपदे उदयांशा उदयस्थानेपि बन्धः सत्त्वं च ।
सत्त्वे बन्धोदयपदमेकाधिकरणे द्विकाधेयम् ॥ ६६० ॥

अर्थ—बन्धस्थानमें उदयस्थान और सत्त्वस्थान ये दो स्थान, उदयस्थानमें बंधस्थान और सत्त्वस्थान, तथा सत्त्वस्थानमें भी बंधस्थान और उदयस्थान होते हैं। इसप्रकार एक अधिकरणमें दो आधेय रहते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ ६६० ॥

उनमेंसे पहले बंधस्थानमें उदय-सत्त्वस्थानोंको कहते हैं;—

बावीसयादिबंधेसुदयंसा चदुतितिगिचउपंच ।
तिसु इगि छद्दो अट्ठ य एक्कं पंचेव तिट्ठाणे ॥ ६६१ ॥

द्वाविंशकादिबन्धेषूदयांशाः चतुस्त्रित्रिकैकचतुःपञ्च ।
त्रिष्वेकः षट् द्वौ अष्ट च एकः पञ्चैव त्रिस्थाने ॥ ६६१ ॥

अर्थ—बाईसके स्थानको आदिलेकर बंधस्थानमें क्रमसे उदयस्थान और सत्त्वस्थान इस प्रकार हैं;—२२ के में ४ उदयस्थान और ३ सत्त्वस्थान हैं, दूसरे बंधस्थानमें ३ उदयस्थान १ सत्त्वस्थान है, इससे आगेके तीन स्थानोंमें उदयस्थान चार चार और सत्त्वस्थान पांच पांच हैं, इसके बाद एक बंधस्थान में उदयस्थान १ सत्त्वस्थान ६ हैं, उससे आगेके एक बंधस्थानमें उदयस्थान २ सत्त्वस्थान हैं, उसके बाद तीन बंधस्थानोंमें उदयस्थान १ और सत्त्वस्थान पांच पांच हैं ॥ ६६१ ॥

आगे उन्हीं उदयादिस्थानोंको दिखाते हैं,—

दसअचऊ पढमतियं णवतियमडवीसयं णवादिचऊ ।
अडचदुतिदुइगिवीसं अडचदु पुव्वं व सत्तं तु ॥ ६६२ ॥

दशकचतुष्कं प्रथमत्रिकं नवत्रिकमष्टाविंशकं नवादिचतुष्कम्।
अष्टचतुस्त्रिद्व्येकविंशमष्टचतुष्कं पूर्वं व सत्त्वं तु ॥ ६६२ ॥

अर्थ—उन उदयादिस्थानोंमेंसे बाईसके बंधस्थानमें १० के स्थानको आदि लेकर चार उदयस्थान हैं और २८ को आदि लेकर तीन सत्त्वस्थान हैं। २१ के बंधस्थानमें ९ के स्थानसे लेकर तीन उदयस्थान हैं और सत्त्वस्थान एक अट्ठाईसका ही हैं। १७ के बंधस्थानमें ९ के स्थानसे लेकर ४ उदयस्थान हैं और सत्त्वस्थान २८-२४-२३-२२-२१ के पांच हैं। १३ के बंधस्थानमें ८ के स्थानसे लेकर ४ उदयस्थान हैं और सत्त्वस्थान पूर्व कहे हुए ५ ॥ ६६२ ॥

सगचउ पुव्वं वंसा दुगमडचउरेक्कवीस तेरतियं।
दुगमेक्कं च य सत्तं पुव्वं वा अत्थि पणगदुगं ॥ ६६३ ॥

सप्तचतुष्कं पूर्वं वांशा द्विकमष्टचतुरेकविंशं त्रयोदशत्रयम्।
द्विकमेकं च च सत्त्वं पूर्वं वा अस्ति पञ्चकद्विकम् ॥ ६६३ ॥

अर्थ—९ के बंधस्थानमें ७ को आदिलेकर ४ उदयस्थान हैं और सत्त्वस्थान पूर्वकथित ५ हैं। ५ के बंधस्थानमें २ का ही एक उदयस्थान है और सत्त्वस्थान उपशमकके २८-२४-२१ के तीन तथा क्षपकके १३ से लेकर तीन, इसप्रकार ६ हैं। ४ के बंधस्थानमें २ और १ प्रकृतिरूप दो उदयस्थान हैं और सत्त्वस्थान पूर्वोक्त कहे हुए ६ तथा पांच को आदिलेकर २ इसतरह ८ हैं ॥ ६६३ ॥

तिसु एक्केक्कं उदओ अडचउरिगिवीससत्तसंजुत्तं।
चदुतिदयं तिदयदुगं दो एक्कं मोहणीयस्स ॥ ६६४ ॥

त्रिषु एकैक उदय अष्टचतुरेकविंशसत्वसंयुक्तम्।
चतुस्त्रितयं त्रितयद्विकं द्वे एकं मोहनीयस्य ॥ ६६४ ॥

अर्थ—३-२-१ प्रकृतिरूप तीन बंधस्थानोंमें उदयस्थान एक एक प्रकृतिरूप ही है और सत्त्वस्थान २८-२४-२१ के तीन और तीनके बंध स्थानके ४-३ के दो स्थानोंको मिलानेसे कुछ ५ होते हैं। २ के बंधस्थानमें २-३ के स्थानोंको पूर्वोक्त तीन स्थानोंमें मिलानेसे ५ होते हैं। तथा १ के बंधस्थानमें सत्त्वस्थान पूर्वोक्त तीन स्थानमें २-१ के स्थानको मिलानेसे ५ हो जाते हैं। **भावार्थ**—जिस जीवके जिस समयमें २२ का बंध है उसके उदय १० का अथवा ९ का वा ८ का अथवा ७ का भी पाया जाता है और सत्त्व २८ का २७ का अथवा २६ का भी पाया जाता है। इसीतरह आगेका कथन भी समझलेना ॥ इसप्रकार मोहनीयके बंधस्थानोंको अधिकरण मानके उदय सत्त्व इन दोनोंके आधेयरूप भंग गुणस्थानोंकी विवक्षासे यहां कहे गये हैं; किन्तु सतत् प्रकृतियोंकी बंध

उदयकी व्युच्छित्ति और क्षपणा उद्वेलना के द्वारा सत्त्वव्युच्छित्तिको भी ध्यानमें लेकर इन भंगोंको समझलेना चाहिये ॥ ६६४ ॥

आगे उदयस्थानको अधिकरण बनाकर बंधस्थान और सत्त्वस्थानके आधेयरूप भंगोंको कहते हैं;—

दसयादिसु बंधंसा इगितिय तियछक्क चारिसत्तं च ।
पणपण तियपण दुगपण इगितिग दुगछच्चऊणवयं ॥ ६६५ ॥

दशकादिषु बन्धांशा एकत्रिकं त्रिकषट्कं चतुःसप्त च ।
पञ्चपञ्च त्रिकपञ्च द्विकपञ्च एकत्रिकं द्विकषट् चतुर्नवकम् ॥ ६६५ ॥

अर्थ—१० के स्थानको आदि लेकर उदयस्थानोंमें बंधस्थान और सत्त्वस्थान क्रमसे १–३, ३–६, ४–७, ५–५, ३-५, २-५ १–३, २–६, और ४–९ जानने चाहिये ॥ ६६५ ॥

अब वे कौन हैं सो दिखाते हैं;—

पढमं पढमतिचउपणसत्तरतिग चदुसु बंधयं कमसो ।
पढमतिछस्सगमडचउतिदुइगिवीसंसयं दोसु ॥ ६६६ ॥

प्रथमं प्रथमत्रिचतुःपञ्चसप्तदशत्रिकं चतुर्षु बन्धकं क्रमशः ।
प्रथमत्रिषट्सप्त अष्टचतुस्त्रितद्विकैकविंशांशकं द्वयोः ॥ ६६६ ॥

अर्थ—पहले १० के उदयस्थानमें बंधस्थान पहला (२२ का) है, उसके बाद चार स्थानोंमें क्रमसे २२ के को आदि लेकर ३, और २२ के को आदि लेकर ४, तथा २२ के को आदि लेकर ५, एवं १७ के स्थानको आदि लेकर तीन बंधस्थान हैं। और सत्त्वस्थान पहले बंधस्थानमें २८ आदिके तीन हैं, दूसरेमें पहले २८ के को आदिलेकर ६ हैं, तीसरेमें २८ के को आदि लेकर ७ हैं, और चौथा तथा पांचवां इन दो उदयस्थानोंमें २८–२४–२३–२२–२१ के इसतरह पांच सत्त्वस्थान हैं ॥ ६६६ ॥

तेरदु पुव्वं बंसा णवमडचउरेक्कवीससत्तमदो ।
पणदुगमडचउरेक्कावीसं तेरसतियं सत्तं ॥ ६६७ ॥

त्रयोदशद्विकं पूर्वं वांशा नवममष्टचतुरेकविंशसत्त्वमतः ।
पञ्चद्विकमष्टचतुरेकविंशं त्रयोदशत्रिकं सत्त्वम् ॥ ६६७ ॥

अर्थ—पांच प्रकृतिके उदयस्थानमें १३ के स्थानको लेकर दो बंधस्थान हैं और सत्त्वस्थान पहलेकी तरह ५ हैं, चारके उदयस्थानमें ९ का ही बंधस्थान है और २८–२४–२१ के तीन सत्त्वस्थान हैं, उसके बाद २ के उदयस्थानमें ५ के स्थानको लेकर दो ही बंधस्थान हैं और २८–२४–२१ के तीन और १३ के को आदि लेकर तीन, इसतरह ६ सत्त्वस्थान हैं ॥ ६६७ ॥

चरिमे चदुतिदुगेक्कं अठ्ठयचदुरेक्कसंजुदं वीसं ।
एक्कारादीसव्वं कमेण ते मोहणीयस्स ॥ ६६८ ॥
चरमे चतुस्त्रिद्विकैकमष्टकचतुरेकसंयुतं विंशम् ।
एकादशादिसवं क्रमेण तानि मोहनीयस्य ॥ ६६८ ॥

अर्थ—अन्तके १ प्रकृतिवाले उदयस्थानमें ४-३-२-१ के चार बंधस्थान हैं और २८-२४-२१ के तीन स्थान और ११ के स्थानसे लेकर ६ स्थान, इसप्रकार सब ९ सत्त्वस्थान हैं। इसरीतिसे ये सब मोहनीयके स्थान क्रमसे जानने चाहिये ॥ ६६८ ॥

आगे सत्त्वको अधिकरण मानके और बंधउदयको आधेयरूप समझकर भंगोंको कहते हैं;—

सत्तपदे बंधुदया दसणव इगिति दुसु अडड तिपण दुसु ।
अडसग दुगि दुसु बिबिगिगि दुगि तिसु इगिसुण्णमेक्कं च ॥६६९॥
सत्त्वपदे बन्धोदया दशनव एकत्रिकं द्वयोः अष्टाष्ट त्रिपञ्च द्वयोः ।
अष्टसप्त द्वयेकं द्वयोः द्विद्विकमेकैकं द्वयेकं त्रिषु एकशून्यमेकं च ॥ ६६९ ॥

अर्थ—२८ के स्थानको आदिलेकर सत्त्वस्थानोंमें जो क्रमसे बंध और उदयस्थान कहे हैं वे इस प्रकार हैं कि पहले स्थानमें १०-९, उसके बाद दो स्थानोंमें १-३, उसके आगेके स्थानमें ८-८, उसके बाद दो स्थानोंमें ३-५, उससे आगेके स्थानमें ८-७, उसके बाद दो स्थानोंमें २-१, उसके आगे २-२, उसके बाद १-१, उसके बाद तीन स्थानोंमें २-१ और एक सत्त्वस्थानमें १ अथवा शून्य और १ स्थान हैं ॥ ६६९ ॥

अब उन्हीं स्थानोंको दिखाते हैं;—

सव्वं सयलं पढमं दसतिय दुसु सत्तरादियं सव्वं ।
णवयप्पहुदीसयलं सत्तरति णवादिपण दुपदे ॥ ६७० ॥
सत्तरसादि अडादीसव्वं पण चारि दोण्णि दुसु तत्तो ।
पंचचउक्कं दुगेक्कं चदुरिगि चदुतिण्णि एक्कं च ॥६७१॥
तत्तो तियदुगमेक्कं दुप्पयडीएक्कमेक्कठाणं च ।
इगिणभबंधो चरिमे एउदओ मोहणीयस्स ॥६७२॥ विसेसयं ।
सर्वं सकलं प्रथमं दशत्रिकं द्वयोः सप्तदशादिकं सर्वम् ।
नवकप्रभृति सकलं सप्तदशत्रिकं नवादिपञ्च द्विपदे ॥ ६७० ॥
सप्तदशादि अष्टादि सर्वं पञ्च चत्वारि द्वे द्वयोः ततः ।
पञ्चचतुष्कं द्विकैकं चतुरेकं चतुस्त्रीणि एकं च ॥ ६७१ ॥
ततः त्रिकद्विकमेकं द्विप्रकृत्येकमेकस्थानं च ।
एकनभोबन्धो चरमे एकोदयो मोहनीयस्य ॥ ७७२ ॥ विशेषकम् ।

अर्थ—मोहनीयके सत्त्वस्थानोंमेंसे पहले २८ के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान २२ को लेकर सब (१०) और उदयस्थान १० को आदि लेकर सब (९). उसके बाद २७ और २६ के दो स्थानोंमें बंधस्थान एक २२ ही का और उदयस्थान १० को लेकर तीन, २४ के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान १७ को लेकर सब (८) और ९ को लेकर उदस्थान सब (८), उसके बाद २३ और २२ के दो सत्त्वस्थानोंमें १७ को लेकर तीन बंधस्थान और ९ को लेकर पांच उदयस्थान हैं। २१ के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान १७ को लेकर सब (८) हैं और उदयस्थान ८ को आदि लेकर सब (७) हैं। उसके बाद १३ और १२ के दो सत्त्वस्थानोंमें बंधस्थान पांच और चार के दो हैं, तथा उदयस्थान दोका ही है। उसके बाद ११ के स्थानमें ५ और चारके बंधस्थान दो और उदयस्थान २ और १ के दो, तथा ५ के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान ४ ही का और उदयस्थान १ ही का है। और ४ के सत्त्वस्थानमें ४ और ३ के दो बंधस्थान और उदयस्थान १ ही का है। उसके बाद ३ के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान उदयस्थान क्रमसे ३ और २ के दो और १ ही का एक है, २ के सत्त्वस्थानमें २ और १ के दो और १ ही का एक है। और १ के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान १ का अथवा शून्य है तथा उदयस्थान १ का एक ही है ॥ ६७० । ६७१ । ६७२ ॥

आगे मोहनीयके बंध उदय और सत्त्वमें दो को आधार एक को आधेय बनाकर भंग कहते हैं;—

बंधुदये सत्तपदं बंधंसे णेयमुदयठाणं च ।
उदयंसे बंधपदं दुट्ठाणाधारमेक्कमाधेज्जं ॥ ६७३ ॥

बन्धोदये सत्त्वपदं बन्धांशे ज्ञेयमुदयस्थानं च ।
उदयांशे बन्धपदं द्विस्थानाधारमेकमाधेयम् ॥ ६७३ ॥

अर्थ—बंध उदयके स्थानोंमें सत्त्वस्थान, बंधसत्त्वस्थानोंमें उदयस्थान और उदय सत्त्वस्थानोंमें बंधस्थान, इस प्रकार दो स्थानोंको आधार तथा एक स्थान को आधेय बनाकर तीन प्रकारसे भंग जानने चाहिये ॥ ६७३ ॥

अब उनमेंसे पहले प्रकारको ६ गाथाओंसे कहते हैं;—

बावीसेण णिरुद्धे दसचउरुदये दसादिठाणतिये ।
अट्ठावीसति सत्तं सत्तुदये अट्ठवीसेव ॥ ६७४ ॥

द्वाविंशेन निरुद्धे दशचतुष्कोदये दशादिस्थानत्रये ।
अष्टविंशत्रिकं सत्त्वं सप्तोदये अष्टविंशमेव ॥ ६७४ ॥

अर्थ—२२ के बंधसहित जीवके १० के स्थानको आदि ले चार उदयस्थानोंमेंसे दशसे लेकर तीन स्थानोंमें तो २८ के को आदिलेकर तीन सत्त्वस्थान हैं, और ७ के उदयस्थानमें २८ के स्थानका ही एक सत्त्व है ॥ ६७४ ॥

इगिवीसेण णिरुद्धे णवयतिये सत्तमट्ठवीसेव ।
सत्तरसे णवचदुरे अडचउतिदुगेक्कवीसंसा ॥ ६७५ ॥

एकविंशेन निरुद्धे नवकत्रये सत्त्वमष्टविंशमेव ।
सप्तदशे नवचतुष्के अष्टचतुष्के अष्टचतुस्त्रिद्विकैकविंशांशाः ॥ ६७५ ॥

अर्थ—२१ के बंधसहित जीवके ९ को आदि लेकर ३ के उदय होनेपर २८ का एक ही सत्त्वस्थान है, और १७ के बंधसहित जीवके ९ को आदि लेकर ४ के उदय होनेपर २८-२४-२३-२२-२१ के ५ सत्त्वस्थान हैं ॥ ६७६ ॥

यहांपर कुछ विशेषता है, उसको बताते हैं;—

इगिवीसं ण हि पढमे चरिमे तिदुवीसयं ण तेरणवे ।
अडचउसगचउरुदये सत्तं सत्तरसयं व हवे ॥ ६७६ ॥

एकविंशं नहि प्रथमे चरमे त्रिद्विविंशकं न त्रयोदशनवके ।
अष्टचतुःसप्तचतुरुदये सत्त्वं सप्तदशकं व भवेत् ॥ ६७६ ॥

अर्थ—पहले (९ के) का उदय होनेपर २१ का सत्त्व नहीं होता है और ६ के उदय होनेपर २३ तथा २२ का सत्त्व नहीं होता, और १३ के बंधसहित ८ के स्थानको आदि लेकर चार उदयस्थानोंके होनेपर तथा ९ के बंधसहित ७ को आदि लेकर चार उदयस्थानोंके होनेपर सत्त्वस्थान १७ के बंधसहित स्थानमें जैसे कहे हैं उसीतरह के जानने चाहिये ॥ ६७६ ॥

इसके सिवाय और भी विशेषता है, उसको कहते हैं;—

णवरि य अपुव्वणवगे छादितियुदयेवि णत्थि तिदुवीसा ।
पणबंधे दोउदये अडचउरिगिवीसतेरसादितियं ॥ ६७७ ॥

नवरि च अपूर्वनवके षडादित्रिकोदयेपि नास्ति त्रिद्विविंशम् ।
पञ्चबन्धे द्विकोदये अष्टचतुरेकविंशत्रयोदशादित्रयम् ॥ ६७७ ॥

अर्थ—इतनी और भी विशेषता है कि अपूर्वकरण गुणस्थानमें ९ के बंधसहित ६ के स्थानको आदि लेकर ३ के उदय होनेपर भी २३ और २२ का सत्त्व नहीं होता है, और पांचके बंधसहित दोके उदय होते समय २८-२४-२१ और १३ को आदि लेकर तीन सत्त्वस्थान हैं ॥ ६७७ ॥

चदुबंधे दोउदये सत्तं पुव्वं व तेण एक्कुदये ।
अडचउरेक्कावीसा एयारतियं च सत्ताणि ॥ ६७८ ॥

चतुर्बन्धे द्विकोदये सत्त्वं पूर्वं व तेन एकोदये ।
अष्टचतुरेकविंशानि एकादशत्रिकं च सत्त्वानि ॥ ६७८ ॥

अर्थ—४ के बंधसहित दोके उदय होनेपर सत्त्व पहलेकी तरह है अर्थात् जैसा कि ५ के बंधसहितमें कहा है उसीप्रकार जानना चाहिये। तथा उसी ४ के बंधसहित १ के उदय होनेपर २८-२४-२१ और ११ के को आदि लेकर ३ सत्त्वस्थान जानने योग्य हैं ॥ ६७८ ॥

तिदुइगिबंधेक्कुदये चदुतियठाणेण तिदुगठाणेण ।
दुगिठाणेण य सहिदा अडचउरिगिवीसया सत्ता ॥ ६७९ ॥

त्रिद्विकैकबन्धे एकोदये चतुस्त्रिकस्थानेन त्रिद्विकस्थानेन ।
द्विकैकस्थानेन च सहितानि अष्टचतुरेकविंशकानि सत्त्वानि ॥ ६७९ ॥

अर्थ—३-२-१ के बंधसहित एकके उदय होनेपर २८-२४-२१ के तीन सत्त्वस्थानोंमें क्रमसे ४ और ३ के दो सत्त्वस्थानमिलानेसे, ३ और २ के दो सत्त्वस्थान मिलानेसे, २ और १ के दो सत्त्वस्थान मिलानेसे तीनों जगह पांच पांच सत्त्वस्थान होते हैं ॥ ६७९ ॥

आगे बंध—सत्त्वको आधार कर और उदयको आधेय समझकर ५ गाथाओंमें भंग कहते हैं;—

बावीसे अडवीसे दसचउरुदओ अणे ण सगवीसे ।
छव्वीसे दसयतियं इगिअडवीसे दु णवयतियं ॥ ६८० ॥

द्वाविंशतौ अष्टविंशतौ दशचतुष्कोदय अने न सप्तविंशतौ ।
षड्विंशतौ दशकत्रयमेकाष्टविंशतौ तु नवकत्रयम् ॥ ६८० ॥

अर्थ—२२ के बंधसहित चारगतिके मिथ्यादृष्टि जीवोंके २८ का सत्त्व होनेपर १० के को आदि लेकर चार उदयस्थान हैं, क्योंकि वहां अनंतानुबंधी रहित भी उदयस्थानोंका संभव है। बाईसके ही बंधसहित २७-२६ का सत्त्व होनेपर १० को आदि लेकर तीन उदयस्थान होते हैं। तथा २१ के बंधसहित चारोंही गतिके सासादन गुणस्थानवालोंके २८ का सत्त्व होनेपर ९ को आदि लेकर तीन स्थानोंका उदय होता है ॥ ६८० ॥

सत्तरसे अडचदुवीसे णवयचदुरुदयमिगिवीसे ।
णो पढमुदओ एवं तिदुवीसे णंतिमस्सुदओ ॥ ६८१ ॥

सप्तदश अष्टचतुर्विंशे नवकचतुष्कोदय एकविंशे ।
नो प्रथमोदय एवं त्रिद्विविंशे नान्तिमस्योदयः ॥ ६८१ ॥

अर्थ—१७ के बंधसहित चारों गतिके जीवोंके २८-२४ का सत्त्व होनेपर ९ को आदि लेकर ४ उदयस्थान होते हैं, और १७ के बंधसहित २१ का सत्त्व होनेपर पहला (९ का) उदयस्थान नहीं होता, शेष ८ को आदि लेकर ३ ही उदयस्थान होते हैं। इसीप्रकार १७

के ही बंधसहित २३-२२ का सत्त्वस्थान होनेपर अन्तका (६ का) स्थान नहीं पाया जाता है, इसलिये यहांपर भी ९ को आदि लेकर ३ ही उदयस्थान होते हैं ॥ ६८१ ॥

तेरणवे पुव्वंसे अडादिचउ सगचउण्हमुदयाणं ।
सत्तरसं व वियारो पणगुवसंते सगेसु दो उदया ॥ ६८२ ॥

त्रयोदशनवमे पूर्वांशे अष्टादिचतुष्कं सप्तचतुष्कमुदयानाम् ।
सप्तदशं व विचारः पञ्चकोपशान्ते स्वकेषु द्वौ उदयौ ॥ ६८२ ॥

अर्थ—१३ के बंधसहित तिर्यंच मनुष्य देशसंयतके और ९ के बंधसहित प्रमत्त अप्रमत्त और दोनों श्रेणियोंवाले अपूर्वकरणके पूर्ववत् १७ के ही बंधकी तरह सत्त्व होनेपर क्रमसे देश संयतमें तो ८ के को आदि लेकर ४ उदयस्थान और अवशिष्टमें ७ के को आदि लेकर चार उदयस्थान होते हैं। इसमें विशेष यह है कि इक्कीसके सत्त्वमें १३ के बंधवालेके पहला आठका उदयस्थान नहीं होता और ९ के बंधवालेके ७ का उदयस्थान नहीं, तथा २३-२२ के सत्त्व होनेपर १३ के बंधवालेके अन्तका ५ का उदयस्थान नहीं और ९ के बंधवालेके ४ का उदयस्थान नहीं है। उपशांतकषाय गुणस्थानमें २८-२४-२१ के सत्त्व होनेपर ५ के बंधसहित अनिवृत्तिकरणमें २ का उदय है और ५-४ के बंधसहितमें भी २ का ही उदय है ॥ ६८२ ॥

यही कहते हैं;—

तेणेवं तेरतिये चदुबंधे पुव्वसत्तगेसु तहा ।
तेणुवसंतंसेयारतिए एक्को हवे उदओ ॥ ६८३ ॥

तेनैवं त्रयोदशत्रये चतुर्बन्धे पूर्वसत्त्वकेषु तथा ।
तेनोपशान्तांशे एकादशत्रये एको भवेत् उदयः ॥ ६८३ ॥

अर्थ—उन ५ के बंधसहित क्षपक अनिवृत्तिकरणमें पूर्ववत् १३ आदिक तीन (१३-१२-११) के सत्त्व होनेपर तथा ४ के बंधसहित २८ के को आदिलेकर ३ का अथवा १३ को आदि लेकर ३ का सत्त्व होनेपर २ का उदय होता हैं। और ४ के बंधसहित उपशांतकषायमें पूर्वोक्त २८ को आदिलेकर ३ का सत्त्व होनेपर तथा ११ को आदि लेकर तीनका सत्त्व होनेपर १ का ही उदय है ॥ ६८३ ॥

तिदुइगिबंधे अडचउरिगिवीसे चदुतिएण ति दुगेण ।
दुगिसत्तेण य सहिदे कमेण एक्को हवे उदओ ॥ ६८४ ॥

त्रिद्व्येकबन्धे अष्टचतुरेकविंशे चतुस्त्रिकेण त्रिद्विकेन ।
द्व्येकसत्त्वेन च सहिते क्रमेण एको भवेत् उदयः ॥ ६८४ ॥

अर्थ—३-२-१ के बंधसहित अनिवृत्तिकरणमें क्रमसे २८-२४-२१ के सत्त्व होनेपर अथवा ४-३ का सत्त्व होनेपर वा ३-२ का सत्त्व होनेपर वा २-१ का सत्त्व होने-

पर एक एकका ही उदय होता है। यहां नवक समयप्रबद्धकी विवक्षा और अविवक्षासे दो प्रकारके सत्त्व कहे गये हैं ।। ६८४ ।।

आगे उदय-सत्वको आधार और बंधको आधेय करके ७ गाथाओंमें वर्णन करते हैं; —

दसगुदये अडवीसतिसत्ते बावीसबंध णवअट्ठे ।
अडवीसे बावीसतिचउबंधो सत्तवीसदुगे ।। ६८५ ।।
बावीसबंध चदुतिदुवीसंसे सत्तरसयददुगबंधो ।
अट्ठुदये इगिवीसे सत्तरबंधं विसेसं तु ।। ६८६ ।। जुम्मं ।

दशकोदये अष्टविंशत्रिसत्त्वे द्वाविंशबन्धः नवाष्टके ।
अष्टविंशतौ द्वाविंशतित्रिचतुर्बन्धः सप्तविंशद्विके ।। ६८५ ।।
द्वाविंशबन्धः चतुस्त्रिद्विविंशांशे सप्तदशायतद्विकबन्धः ।
अष्टोदये एकविंशे सप्तदशबन्धा विशेषस्तु ।। ६८६ ।। युग्मम् ।

अर्थ—१० के उदयसहित २८ को आदि लेकर ३ का सत्त्व होनेपर २२ का ही बंध होता है, ९ के उदयसहित असंयतपर्यंत वा ८ के उदयसहित देशसंयतगुणस्थानतक २८ का सत्त्व होनेपर क्रमसे २२ को आदिलेकर ३ और ४ बंधस्थान हैं। तथा उन्हींमें २७ का वा २६ का सत्त्व होनेपर २२ का बंध होता है। और पूर्वोक्त ही उदयसहित मिश्र गुणस्थानमें तो २४ का सत्त्व होनेपर तथा असंयत गुणस्थानमें २४-२३-२२ इन तीन सत्त्वोंके होनेपर १७ का बंध होता है। देशसंयत गुणस्थानमें ८ के उदयसहित २४ को आदिलेकर तीन सत्त्व होनेपर १३ का बन्ध होता है। इतना विशेष है कि २१ के सत्त्व होनेपर क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंयतके १७ का बन्ध होता है ।। ६८५ । ६८६ ।।

सत्तुदये अडवीसे बन्धो बावीसपंचयं तेण ।
चउवीसतिगे अयदतिबंधो इगिवीसगयददुगबंधो ।। ६८७ ।।

सप्तोदये अष्टविंशे बन्धो द्वाविंशपञ्चकं तेन ।
चतुर्विंशत्रिके अयतद्विकबन्धः एकविंशके अयतद्विकबन्धः ।। ६८७ ।।

अर्थ—७ के उदयसहित २८ का सत्त्व होनेपर २२ को आदिलेकर ५ बन्धस्थान हैं। पूर्वोक्त ७ के उदयसहित २४ को आदि लेकर ३ सत्त्व होनेपर असंयतगुणस्थानमें १७ को आदि लेकर ३ बन्धस्थान होते हैं। और पूर्वोक्त ७ ही के उदयसहित २१ का सत्त्व होनेपर असंयतयुगलमें क्रमसे १७-१३ इन दोका बन्ध होता है। **भावार्थ**—क्षायिक सम्यग्दृष्टि चारों गतिवाले असंयतमें १७ का और देशसंयत मनुष्यमें १३ का बन्ध होता है ।। ६८७ ।।

छप्पणउदये उवसंतंसे अयदतिगदेसदुगबंधो ।
तेण तिदोवोसंसे देसदुणवबंधयं होदि ॥ ६८८ ॥
षट्पञ्चोदये उपशान्तांशे अयतत्रिकदेशद्विकबन्धः ।
तेन त्रिद्विविंशांशे देशद्विनवबन्धकं भवति ॥ ६८८ ॥

अर्थ—६ के उदयसहित उपशांतकषायमें कहे हुये (२८-२४-२१ के) तीन सत्त्वस्थान होनेपर १७ को आदि लेकर ३ बंधस्थान होते हैं । तथा ५ के उदयसहित ३ सत्त्व होनेपर १३ को आदि लेकर दो बंधस्थान हैं । और पूर्वोक्त ६ के उदयसहित २३-२२ के सत्त्व होनेपर देशसंयत-गुणस्थानमें १३ का बंधस्थान हैं । तथा ५ के उदयसहित प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानमें ९ का बंधस्थान होता है ॥ ६८८ ॥

चउरुदयुवसंतंसे णवबंधो दोण्णिउदयपुव्वंसे ।
तेरसतियसत्तेवि य पण चउ ठाणाणि बंधस्स ॥ ६८९ ॥
चतुरुदयोपशान्तांशे नवबन्धो द्विकोदयपूर्वांशे ।
त्रयोदशत्रयसत्त्वेपि च पञ्चचतुःस्थानानि बन्धस्य ॥ ६८९ ॥

अर्थ—४ के उदयसहित दोनों श्रेणीके अपूर्वकरण गुणस्थानमें उपशांतकषायोक्त २८-२४-२१ के सत्त्व होनेपर ९ का बंध पाया जाता है । २ के उदयसहित सवेद अनिवृत्तिकरणमें पूर्ववत् ३ सत्त्व होनेपर पुरुषवेदके उदयके चरम समयतक ५ का बंध है । और नपुंसक स्त्रीवेदके उदयसहित श्रेणी चढ़नेवालेके ४ का बंध है । तथा क्षपकश्रेणीमें आठ कषाय नपुंसक स्त्री पुरुषवेदके क्षपणरूप भागोंमें २१ और १३-१२-११ का सत्त्व होनेपर ५ का बंध होता है । एवं अन्य वेदके उदयसहित तेरह बारहका सत्त्व होने पर ४ का बंध होता है ॥ ६८९ ॥

एक्कुदयुवसंतंसे बंधो चदुरादिचारि तेणेव ।
एयारदु चदुबंधो चदुरंसे चदुतियं बंधो ॥ ६९० ॥
एकोदयोपशान्तांशे बन्धः चतुरादिचत्वारः तेनैव ।
एकादशद्विके चतुर्बन्धः चतुरंशे चतुस्त्रिको बन्धः ॥ ६९० ॥

अर्थ—एकके उदयसहित उपशमक अनिवृत्तिकरणमें उपशांतकषायोक्त २८-२४-२१ के सत्त्व होनेपर ४ के को आदिलेकर चार बंधस्थान हैं । और एकके उदयसहित ११ व ५ के ये दो सत्त्व होनेपर ४ का बंधस्थान हैं । और एकके उदयसहित ४ के सत्त्व होनेपर ४ वा ३ का बंधस्थान है ॥ ६९० ॥

तेण तिये तिदुबंधो दुगसत्ते दोण्णि एक्कयं बंधो ।
एक्कंसे इगिबंधो गयणं वा मोहणीयस्स ॥ ६९१ ॥

तेन त्रये त्रिद्विबन्धो द्विकसत्त्वे द्वौ एको बन्धः ।
एकांशे एकबन्धो गगनं वा मोहनीयस्य ॥ ६९१ ॥

अर्थ—उसी एकके उदयसहित अनिवृत्तिकरणमें ३ का सत्त्व होनेपर ३ का वा २ का बंध होता है । एकका उदय २ का सत्त्व होनेपर २ का वा १ का बंध होता है । और मोहनीयके एकका उदय और एक के ही स्थानका सत्त्व होनेपर १ हीका बंधस्थान होता है, अथवा गगन अर्थात् बंधाभाव होता है । इसप्रकार मोहनीयके त्रिसंयोगी भंग कहे ॥ ६९१ ॥

आगे नामकर्मके बंधादिस्थानोंके त्रिसंयोगोंको कहते हैं;—

णामस्स य बंधोदयसत्तट्ठाणाण सव्वभंगा हु ।
पत्तेउत्तं व हवे तियसंजोगेवि सव्वत्थ ॥ ६९२ ॥

नाम्नश्च बन्धोदयसत्त्वस्थानानां सर्वभङ्गा हि ।
प्रत्येकोक्तं व भवेयुः त्रिकसंयोगेपि सर्वत्र ॥ ६९२ ॥

अर्थ—नामकर्मके बंध-उदय-सत्त्वस्थानोंके सब भंग (भेद) जैसे अलग अलग कथनमें पहले कहे थे उसीतरह त्रिसंयोगमें भी सब जगह भंग होते हैं ऐसा प्रगट जानना ॥ ६९२ ॥

छण्णवछत्तियसगइगि दुगतिगदुग तिण्णिअट्ठचत्तारि ।
दुगदुगचदु दुगपणचदु चदुरेयचदू पणेयचदु ॥ ६९३ ॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छदुमट्ठ केवलिजिणाणं ।
एगचदुरेगचदुरो दोचदु दोछक्क बंधउदयंसा ॥ ६९४ ॥ जुम्मं ।

षट्नवषट् त्रिकसप्तैकं द्विकत्रिकद्विकं त्रिकाष्टचत्वारि ।
द्विकद्विकचतुष्कं द्विकपञ्चचतुष्कं चतुरेकचतुष्कं पञ्चैकचतुष्कम् ॥ ६९३ ॥
एकैकाष्ट एकैकाष्ट छद्मस्थ केवलिजिनानाम् ।
एकचतुष्कमेकचतुष्कं द्विचतुष्कं द्विषट्कं बन्धोदयांशाः ॥ ६९४ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—नामकर्मके बंधस्थान-उदयस्थान और सत्त्वस्थान मिथ्यादृष्टि आदि सूक्ष्मसांपराय-पर्यन्त गुणस्थानोंमें क्रमसे ६-९-६, ३-७-१, २-३-२, ३-८-४, २-२-४, २-५-४, ४-१-४, ५-१-४, १-१-८, १-१-८, हैं । इसके बाद बंधका अभाव होनेसे उदयसत्त्वस्थान ही हैं, सो क्रमसे ग्यारहवें आदि गुणस्थानमें १-४, १-४, २-४, और अयोगकेवलीके २-६ हैं ॥ ६९३ । ६९४ ॥

णामस्स य बंधोदयसत्ताणि गुणं पडुच्च उत्ताणि ।
पत्तेयादो सव्वं भणिदव्वं अत्थजुत्तीए ॥ ६९५ ॥

नाम्नश्च बन्धोदयसत्त्वानि गुणं प्रतीत्य उक्तानि ।
प्रत्येकात् सर्वं भणितव्यमर्थयुक्त्या ॥ ६९५ ॥

अर्थ—नामकर्मके बंध-उदय-सत्त्वस्थान जो ऊपर गुणस्थानोंको लेकर कहे गये हैं उन सबको ही अर्थकी युक्तिसे यहां अलग अलग कहते हैं ॥ ६९५ ॥

तेवीसादी बंधा इगिवीसादोणि उदयठाणाणि ।
बाणउदादी सत्तं बंधा पुण अट्ठवीसतियं ॥ ६९६ ॥
इगिवीसादोएक्कत्तीसंता सत्तअट्ठवीसूणा ।
उदया सत्तं णउदो बंधा पुण अट्ठवीसदुगं ॥ ६९७ ॥
एगुणतीसत्तिदयं उदयं बाणउदिणउदियं सत्तं ।
अयदे बंधट्ठाणं अट्ठावीसत्तियं होदि ॥ ६९८ ॥
उदया चउवीसूणा इगिवीसप्पहुदिएक्कतीसंता ।
सत्तं पढमचउक्कं अपुव्वकरणोत्ति णायव्वं ॥ ६९९ ॥ कलावयं ।

त्रयोविंशादयो बन्धा एकविंशादीनि उदयस्थानानि ।
द्वानवत्यादि सत्त्वं बन्धाः पुनः अष्टविंशत्रयम् ॥ ६९६ ॥
एकविंशाद्येकत्रिंशदन्ता सप्ताष्टविंशोनाः ।
उदयाः सत्त्वं नवतिः बन्धाः पुनः अष्टविंशद्विकम् ॥ ६९७ ॥
एकोनत्रिंशत्त्रितयं उदयः द्वानवतिनवतिकं सत्त्वम् ।
अयते बन्धस्थानमष्टाविंशत्रयं भवति ॥ ६९८ ॥
उदयाः चतुर्विंशोना एकविंशप्रभृत्येकत्रिंशदन्ताः ।
सत्त्वं प्रथमचतुष्कमपूर्वकरण इति ज्ञातव्यम् ॥ ६९९ ॥ कलापकम् ।

अर्थ—गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें २३ को आदि लेकर ६ बंधस्थान हैं, २१ को आदि लेकर ९ उदयस्थान हैं, ९२ के स्थानको आदि लेकर ६ सत्त्वस्थान हैं । उसके बाद दूसरे गुणस्थानमें बंधस्थान २८ के को आदि लेकर ३ हैं, २७-२८ के स्थानकर रहित २१ को आदि लेकर ३१ के स्थानपर्यंत ७ उदयस्थान हैं, सत्त्वस्थान ९० का ही है । उसके बाद तीसरे गुणस्थानमें बंधस्थान २८ को आदि लेकर दो हैं, २९ को आदि लेकर ३ उदयस्थान हैं, ९२-९० के दो सत्त्वस्थान हैं । तथा असंयत गुणस्थानमें बंधस्थान २८ को आदि लेकर ३ हैं, उदयस्थान २४ के विना २१ के को आदि लेकर ३१ के स्थानपर्यंत ८ हैं, सत्त्वस्थान ९३ के को आदि लेकर ४ हैं । तथा ये ही चारों सत्त्वस्थान अपूर्वकरण गुणस्थान तक भी जानने चाहिये ॥ ६९६ । ६९७ । ६९८ । ६९९ ॥

अडवीसदुगं बंधो देसे पमदे य तोसदुगमुदओ ।
पणवीससत्तवीसप्पहुदोचत्तारि ठाणाणि ॥ ७०० ॥

अष्टविंशद्विकं बन्धो देशे प्रमत्ते च त्रिंशद्विकमुदयः ।
पञ्चविंशसप्तविंशप्रभृतिचत्वारि स्थानानि ॥ ७०० ॥

अर्थ—देशसंयतगुणस्थानमें २८ को आदि लेकर २ बंधस्थान हैं, ३० को आदि लेकर २ उदयस्थान हैं, सत्त्वस्थान पूर्ववत् ४ हैं। प्रमत्तमें देशसंयतकी तरह २ बंधस्थान हैं, २५ का स्थान तथा २७ के को आदि लेकर ४ स्थान इसतरह ५ उदयस्थान हैं, सत्त्वस्थान पूर्ववत् ४ हैं ॥ ७०० ॥

अपमत्ते य अपुव्वे अडवीसादीण बंधमुदओ दु ।
तीसमणियट्टिसुहुमे जसकित्ती एक्कयं बंधो ॥ ७०१ ॥
उदओ तीसं सत्तं पढमचउक्कं च सीदिचउ संते ।
खीणे उदओ तीसं पढमचऊ सीदिचउ सत्तं ॥ ७०२ ॥ जुम्मं ।

अप्रमत्ते च अपूर्वे अष्टाविंशादीनां बन्ध उदयस्तु ।
त्रिंशदनिवृत्तिसूक्ष्मयोः यशस्कीर्तिरेका बन्धः ॥ ७०१ ॥
उदयः त्रिंशत् सत्त्वं प्रथमचतुष्कं च अशीतिचतुष्कं शान्ते ।
क्षीणे उदयः त्रिंशत् प्रथमचतुष्कमशीतिचतुष्कं सत्त्वम् ॥ ७०२ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—अप्रमत्तगुणस्थान और अपूर्वकरण गुणस्थानमें २८ को आदि लेकर ४ तथा ५ बंधस्थान क्रमसे होते हैं, उदयस्थान ३० का ही है, सत्त्वस्थान पूर्ववत् ४ हैं। अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानमें एक यशस्कीर्ति नामकर्मका ही बंधस्थान हैं, उदयस्थान ३० का ही है, सत्त्वस्थान पहले (९३ के) स्थानको आदि लेकर ४ और ८० को आदि लेकर ४ इसतरह ८ हैं। उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानमें उदयस्थान ३० का है, सत्त्वस्थान ९३ के को आदि लेकर ४ उपशांतकषायमें तथा ८० को आदि लेकर ४ क्षीणकषायमें क्रमसे जानने चाहिये ॥ ७०१ ॥ ७०२ ॥

जोगिम्मि अजोगिम्मि य तीसिगितीसं णवट्ठयं उदओ ।
सीदादिचऊछक्कं कमसो सत्तं समुद्दिट्ठं ॥ ७०३ ॥

योगिनि अयोगिनी च त्रिंशदेकत्रिंशत् नवाष्टकमुदयः ।
अशीत्यादिचतुःषट्कं क्रमशः सत्त्वं समुद्दिष्टम् ॥ ७०३ ॥

अर्थ—सयोगकेवली और अयोगकेवलीके क्रमसे उदयस्थान ३०-३१ के दो, तथा ९-८ के दो हैं, एवं सत्त्वस्थान सयोगीमें ८० के को आदि लेकर ४ तथा अयोगीमें ८०-७९-७८-७७ और १०-९ इसतरह कुल ६ जानने चाहिये। इन चार गुणस्थानोंमें नामकर्मके बंधाभावसे दो स्थानही होते हैं। इसप्रकार गुणस्थानोंमें बंधादि स्थान कहे गये हैं ॥ ७०३ ॥

आगे चौदह जीवसमासोंमें इन स्थानोंको दिखलाते हैं:—

पणदोपणगं पणचदुपणगं बंधुदयसत्त पणगं च।
पणछक्कपणगछछक्कपणगमट्ठट्ठमेयारं ॥ ७०४ ॥
सत्तेव अपज्जत्ता सामी सुहुमो य बादरो चेव।
वियलिंदिया य तिविहा होंति असण्णी कमा सण्णी। ७०५॥ जुम्मम्।

पञ्चद्विपञ्चकं पञ्चचतुःपञ्चकं बन्धोदयसत्त्वं पञ्चकं च।
पञ्चषट्पञ्चकं षट्षट्पञ्चकमष्टाष्टैकादश ॥ ७०४ ॥
सप्तैव अपर्याप्ताः स्वामिनः सूक्ष्मश्च बादरश्चैव।
विकलेन्द्रियाश्च त्रिविधा भवन्ति असंज्ञिनः क्रमात् संज्ञिनः ॥७०५॥ युग्मम्।

अर्थ—उन १४ जीवसमासों (भेदों) मेंसे अपर्याप्तक ७ जीवसमासोंमें बंध उदय सत्त्व-स्थान क्रमसे ५-२-५ हैं। सब सूक्ष्म जीवोंके ५-४-५ हैं। सब बादर एकेंद्री जीवोंके ५-५-५ हैं। विकलत्रय अर्थात् दो इंद्री तेइंद्री चौइंद्रीके ५-६-५ स्थान हैं। असंज्ञी पंचेंद्रीके ६-६-५ हैं। और ८-८-११ बंधउदयसत्त्वस्थानोंके संज्ञी जीव स्वामी होते हैं ॥ ७०४। ७०५॥

आगे उन्हीं स्थानोंको कहते हैं;—

बंधा तियपणछण्णववीसत्तीसं अपुण्णगे उदओ।
इगिचउवीसं इगिछव्वीसं थावरतसे कमसो ॥ ७०६ ॥
बाणउदीणउदिचऊ सत्तं एमेव बंधयं अंसा।
सुहुमिदरे वियलतिये उदया इगिवीसयादिचउपणयं ॥ ७०७ ॥
इगिछक्कडणववीसत्तीसिगितीसं च वियलठाणं वा।
बंधतियं सण्णिदरे भेदो बंधदि हु अडवीसं ॥ ७०८ ॥ विसेसयं।

बन्धाः त्रिकपञ्चषण्णवविंशत्रिंशदपूर्णके उदयः।
एकचतुर्विंशं एकषड्विंशं स्थावरत्रसे क्रमशः ॥ ७०६ ॥
द्वानवतिनवतिचतुष्कं सत्त्वं एवमेव बन्धकः अंशाः।
सूक्ष्मेतरयोः विकलत्रये उदया एकविंशकादिचतुःपञ्चकम् ॥ ७०७ ॥
एकषट्काष्टनवविंशत्रिंशदेकत्रिंशच्च विकलस्थानं वा।
बन्धत्रयं संज्ञीतरस्मिन् भेदो बध्नाति हि अष्टविंशम् ॥ ७०८ ॥ विशेषकम्।

अर्थ—अपर्याप्तक ७ जीवसमासोंमें बंधस्थान २३-२५-२६-२९-३० के पांच हैं, उदयस्था क्रमसे स्थावर लब्ध्यपर्याप्तकमें २१-२४ के दो हैं और त्रस लब्ध्यपर्याप्तकके २१-२६ के दो है सत्त्वस्थान ९२ का और ९० को आदि लेकर चार इसतरह ५ हैं। तथा सूक्ष्म-बादर औ विकलत्रय इनमें बंधस्थान और सत्त्वस्थान तो इन अपर्याप्तकोंको ही तरह जानना, किंतु उदयस्था

सूक्ष्ममें २१ को आदि लेकर ४ और बादरमें ५ जानना, तथा विकलत्रयमें २१-२६-२८-२९-३०-३१ के छह हैं। असैनी पंचेंद्रीमें बंधादि तीनों स्थान विकलत्रयकी तरह समझ लेना, परंतु इतनी विशेषता है कि यह २८ के स्थानको भी बांधता है, इसकारण इसमें, बंधस्थान पांचकी जगह ६ होजाते हैं ॥ ७०६ । ७०७ । ७०८ ॥

सण्णिम्मि सव्वबंधो इगिवीसप्पहुदिएक्कतीसंता ।
चउवीसूणा उदओ दसणवपरिहीणसव्वयं सत्तं ॥ ७०९ ॥
संज्ञिनि सर्वबन्ध एकविंशप्रभृत्येकत्रिंशदन्ताः ।
चतुर्विंशोना उदयो दशनवपरिहीनसर्वकं सत्वम् ॥ ७०९ ॥

अर्थ—संज्ञीपंचेंद्रीके बंधस्थान सब (८) हैं, उदयस्थान २४ के विना २१ को आदि लेकर ३१ तक के ८ हैं, और सत्त्वस्थान १०-९ के विना सब ११ हैं ॥ ७०९ ॥

इसप्रकार जीवसमासोंमें नामकर्मके बंधादिस्थान कहे हैं।

आगे चौदहमार्गणाओंमें नामकर्मके बन्धादि स्थानोंको कहनेकी इच्छा रखने वाले आचार्य पहले क्रमके अनुसार गतिमार्गणामें उन स्थानोंकी संख्या को कहते हैं;—

दोछक्कट्ठचउक्कं णिरयादिसु णामबंधठाणाणि ।
पणणवएगारपणयं तिपंचबारसचउक्कं च ॥ ७१० ॥
द्विषट्काष्टचतुष्कं निरयादिषु नामबन्धस्थानानि ।
पञ्चनवैकादशपञ्चकं त्रिपञ्चद्वादशचतुष्कं च ॥ ७१० ॥

अर्थ—नामकर्मके बंधस्थान नरकआदि चारों गतियोंमें क्रमसे २-६-८-४ हैं, उदयस्थान ५-९-११-५ हैं, सत्त्वस्थान ३-५-१२-४ कहे गये हैं ॥ ७१० ॥

अब इंद्रियमार्गणामें कहते हैं;—

एगे वियले सयले पण पण अड पंच छक्केगार पणं ।
पणतेरं बंधादो सेसादेसेवि इदि णेयं ॥ ७११ ॥
एके विकले सकले पञ्च पञ्चाष्ट पञ्च षट्कैकादश पञ्च ।
पञ्चत्रयोदश बन्धादीनि शेषादेशेपि इति ज्ञेयम् ॥ ७११ ॥

अर्थ—एकेंद्री विकलेंद्री और पंचेंद्रीके क्रमसे ५-५-८ बंधस्थान हैं; ५-६-११ उदयस्थान हैं, ५-५-१३ सत्त्वस्थान हैं। इसीप्रकार शेष कायादिक मार्गणाओंमें भी बंधादि स्थान जानने चाहिये॥७११॥

आगे उन्हीं स्थानोंको दिखाते हैं;—

णिरयादिणामबंधा उगुतीसं तीसमादिमं छक्कं ।
सव्वं पणछक्कुत्तरवीसुगुतीसंदुगं होदि ॥ ७१२ ॥
निरयादिनामबन्धा एकोनत्रिंशत् त्रिंशदादिमं षट्कम् ।
सर्वं पञ्चषट्कोत्तरविंशैकोनत्रिंशद्द्विकं भवति ॥ ७१२ ॥

अब कायमार्गणामें कहते हैं;—

पुढवीयादीपंचसु तसे कमा बंधउदयसत्ताणि ।
एयं वा सयलं वा तेउदुगे णत्थि सगवीसं ॥ ७१७ ॥

पृथिव्यादिपञ्चसु त्रसे क्रमात् बन्धोदयसत्त्वानि ।
एकं वा सकलं वा तेजोद्विके नास्ति सप्तविंशम् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—कायमार्गणामेंसे पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावरोंमें और त्रसकायमें बंधउदयसत्त्वस्थान क्रमसे एकेन्द्रियवत् और पंचेन्द्रियवत् जानना चाहिये । परंतु इतनी विशेषता है कि तेजःकायिक और वायुकायिक इन दोनोंमें २७ का स्थान नहीं हैं; क्योंकि यह स्थान (२७ का) आतप वा उद्योत सहित है सो उसका उदय इन दोनोंके होता नहीं ॥ ७१७ ॥

आगे योगमार्गणामें दिखाते हैं; –

मणिवचि बंधुदयंसा सव्वं णववीसतीसइगितीसं ।
दसणवदुसीदिवज्जिदसव्वं ओरालतम्मिस्से ॥ ७१८ ॥
सव्वं तिवीसछक्कं पणुवीसादेक्कतीसपेरंतं ।
चउछक्कसत्तवीसं दुसु सव्वं दसयणवहीणं ॥ ७१९ ॥ जुम्मं ।

मनोवचसोः बन्धोदयांशाः सर्वं नवविंशत्रिंशदेकत्रिंशत् ।
दशनवद्व्यशीतिवर्जितसर्वमौरालतन्मिश्रे ॥ ७१८ ॥
सर्वं त्रयोविंशषट्कं पञ्चविंशादेकत्रिंशत्पर्यन्तम् ।
चतुःषट्कसप्तविंशं द्वयोः सर्वं दशकनवहीनम् ॥ ७१९ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—योगमार्गणामेंसे मनोयोग और वचनयोगमें बंधस्थान सब हैं, उदयस्थान २९-३०-३१ के तीन हैं, और सत्त्वस्थान १०-९ और ८२ के विना बाकी सब हैं । औदारिकयोगमें बंधस्थान सब हैं, और औदारिक मिश्रमें २३ के को आदि लेकर ६ हैं, उदयस्थान औदारिकयोगमें २५ को आदि लेकर ३१ पर्यंत सात हैं और औदारिकमिश्रमें २४-२६-२७ के तीन हैं, सत्त्वस्थान औदारिकयोग तथा औदारिकमिश्रयोग इन दोनोंमें १०-९ के विना सब हैं ॥ ७१८ । ७१९ ॥

वेगुव्वे तम्मिस्से बंधंसा सुरगदीव उदयो दु ।
सगवीसतियं पणजुदवीसं आहारतम्मिस्से ॥ ७२० ॥
बंधतियं अडवीसदु वेगुव्वं वा तिणउदिदाणउदी ।
कम्मे वीसदुगुदओ ओरालियमिस्सयं व बंधंसा ॥ ७२१ ॥ जुम्मं ।

वैगूर्वे तन्मिश्रे बन्धांशाः सुरगतिरिव उदयस्तु ।
सप्तविंशत्रयं पञ्चयुतविंशमाहारतन्मिश्रे ॥ ७२० ॥

बन्धत्रयमष्टविंशद्विकं वैगूर्वं वा त्रिनवतिद्वानवती ।
कर्मणि विंशद्विकोदय औरालिकमिश्रकं व बन्धांशाः ॥ ७२१ ॥

अर्थ—वैक्रियिक योग और वैक्रियिकमिश्रयोगमें बंधस्थान तथा सत्त्वस्थान देवगतिके समान जानना, उदयस्थान वैक्रियिकयोगमें २७ को आदि लेकर तीन हैं· वैक्रियिकमिश्रमें एक २१ का ही है। आहारक तथा आहारकमिश्रयोगमें बंधादि तीनों स्थान क्रमसे २८-२९ के दो, और वैक्रियिकयोगवत् २७ को आदि लेकर तीन, तथा ९३-९२ के दो हैं। और कार्माणयोगमें उदयस्थान २०-२१ के दो हैं, तथा बंधस्थान-सत्त्वस्थान औदारिकमिश्रयोगके समान जानने चाहिये ॥७२०॥७२१॥

आगे वेदमार्गणा और कषायमार्गणामें बंधादि स्थानोंको कहते हैं;—

वेदकसाये सव्वं इगिवीसणवं तिणउदिएक्कारं ।
थीपुरिसे चउवीसं सीदडसदरी ण थीसंढे ॥ ७२२ ॥
वेदकषाये सर्वमेकविंशनवं त्रिनवत्येकादश ।
स्त्रीपुरुषे चतुर्विंशमशीत्यष्टसप्तती न स्त्रीषण्ढे ॥ ७२२ ॥

अर्थ—वेदमार्गणा और कषायमार्गणामें बंधस्थान सब हैं, उदयस्थान २१ को आदि लेकर ९ हैं, सत्त्वस्थान ९३ को आदि लेकर ११ हैं। परंतु इतनी विशेषता है कि स्त्री-पुरुषवेदमें २४ के का उदय नहीं है और स्त्री-नपुंसकवेदमें ८०-७८ के दो सत्त्वस्थान नहीं हैं ॥ ७२२ ॥

अब ज्ञानादि मार्गणाओंमें बंधादिस्थानोंको दिखलाते हैं;—

अण्णाणदुगे बंधो आदीछ णउंसयं व उदयो दु ।
सत्तं दुणउदिछक्कं विभंगबंधा हु कुमदिं व ॥ ७२३ ॥
उदया उणतीसतियं सत्ता णिरयं व मदिसुदोहीए ।
अडवीसपंच बंधा उदया पुरिसं व अट्ठेव ॥ ७२४ ॥
पढमचऊ सीदिचऊ सत्तं मणपज्जवम्हि बंधंसा ।
ओहिं व तीसमुदयं ण हि बंधो केवले णाणे ॥ ७२५ ॥
उदओ सव्वं चउपणवीसूणं सीदिछक्कयं सत्तं ।
सुदमिव सामयियदुगे उदओ पणुवीससत्तवीसचऊ ॥७२६॥ कलापकं ।

अज्ञानद्विके बन्ध आदिषट् नपुंसकं व उदयस्तु ।
सत्त्वं द्विनवतिषट्कं विभङ्गबन्धा हि कुमतिर्वं ॥ ७२३ ॥
उदया एकोनत्रिंशत्त्रयं सत्ता निरयं व मतिश्रुतावधिषु ।
अष्टविंशपञ्चबन्धा उदया पुरुषो व अष्टैव ॥ ७२४ ॥

प्रथमचतुष्कमशीतिचतुष्कं सत्त्वं मनःपर्यये बन्धांशाः ।
अवधिरिव त्रिंशदुदयो न हि बन्धः केवले ज्ञाने ॥ ७२५ ॥
उदयः सर्वं चतुःपञ्चविंशोनमशीतिषट्कं सत्त्वम् ।
श्रुतमिव सामायिकद्विके उदयः पञ्चविंशसप्तविंशचतुष्कम् ॥ ७२६ ॥ कलापकम् ।

अर्थ—कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान इन दोनोंमें बंधस्थान २३ को आदि लेकर ६ हैं, उदयस्थान नपुंसकवेदवत् ९ हैं, सत्त्वस्थान ९२ को आदि लेकर ६ हैं । विभंग (कुअवधि) ज्ञानमें बंधस्थान तो कुमतिज्ञानकी तरह हैं, उदयस्थान २९ को आदि लेकर ३ हैं, सत्त्वस्थान नरकगतिवत् हैं । मतिज्ञान–श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानमें बंधस्थान १८ को आदि लेकर ५ हैं, उदयस्थान पुरुषवेदवत् ८ हैं, सत्त्वस्थान ९३ को आदि लेकर ४ तथा ८० को आदि लेकर ४ इस तरह ८ हैं । मनःपर्यय-ज्ञानमें बंधस्थान और सत्त्वस्थान अवधिज्ञानकी तरह हैं, उदयस्थान ३० का ही है । केवलज्ञानमें बंधस्थानका तो अभाव है और उदयस्थान २४–२५ के विना सब हैं, सत्त्वस्थान ८० को आदि लेकर ६ हैं । तथा संयममार्गणामेंसे सामायिक–छेदोपस्थापना इन दो में बंधस्थान और सत्त्वस्थान श्रुतज्ञानवत् जानने चाहिये, उदयस्थान २५ का तथा २७ को आदि लेकर चार इस तरह ५ हैं ॥ ७२३ । ७२४ । ७२५ । ७२६ ॥

परिहारे बंधतियं अडवीसचऊ य तीसमादिचऊ ।
सुहुमे एक्को बंधो मणं व उदयंसठाणाणि ॥ ७२७ ॥

परिहारे बन्धत्रयमष्टविंशचतुष्कं च त्रिंशमादिचतुष्कम् ।
सूक्ष्मे एको बन्धो मनो व उदयांशस्थानानि ॥ ७२७ ॥

अर्थ—परिहारविशुद्धिमें बंध–उदय–सत्त्वस्थान क्रमसे २८ को आदि लेकर ४, और केवल ३० का, तथा ९३ के को लेकर ४ हैं । सूक्ष्मसांपरायसंयममें बंध १ का ही है, उदयस्थान और सत्त्वस्थान मनःपर्ययज्ञानवत् जानने चाहिये ॥ ७२७ ॥

जहखादे बंधतियं केवलयं वा तिणउदिचउ अत्थि ।
देसे अडवीसदुगं तीसदु तेणउदिचारि बंधतियं ॥ ७२८ ॥

यथाख्याते बन्धत्रयं केवलं वा त्रिनवतिचतुष्कमस्ति ।
देशे अष्टविंशद्विकं त्रिंशद्विकं त्रिनवतिचत्वारि बन्धत्रयम् ॥ ७२८ ॥

अर्थ—यथाख्यातसंयममें बंधादि तीनों स्थान केवलज्ञानवत् हैं, परन्तु इतना विशेष है कि सत्त्व ९३ को आदि लेकर ४ का भी पाया जाता है । देशसंयतके बंधादि तीन स्थान क्रम से २८ को आदि लेकर दो, ३० को आदि लेकर दो, और ९३ को आदि लेकर ४ हैं ॥ ७२८ ॥

अविरमणे बंधुदया कुमदि व तिणउदिसत्तयं सत्तं ।
पुरिसं वा चक्खिदरे अत्थि अचक्खुम्मि चउवीसं ॥ ७२९ ॥

अविरमणे बन्धोदयाः कुमतिवैं त्रिनवतिसप्तकं सत्त्वम् ।
पुरुषो वा चक्षुरितरयोरस्ति अचक्षुषि चतुर्विंशम् ॥ ७२९ ॥

अर्थ—असंयतके बंधस्थान और उदयस्थान कुमतिज्ञानवत् हैं, सत्त्वस्थान ९३ को आदि लेकर ७ हैं। तथा दर्शनमार्गणामेंसे चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शनमें बंधादिस्थान पुरुषवेद की तरह हैं, परंतु इतना विशेष है कि अचक्षुदर्शनमें २४ के स्थान का भी उदय होता है ॥ ७२९ ॥

ओहिदुगे बंधतियं तण्णाणं वा किलिट्ठलेस्सतिये ।
अविरमणं वा सुहजुगलुदओ पुंवेदयं व हवे ॥ ७३० ॥
अडवीसचऊ बंधा पणछव्वीसं च अत्थि तेउम्मि ।
पढमचउक्कं सत्तं सुक्के ओहिं व वीसयं चुदओ ॥ ७३१ ॥ जुम्मं ।

अवधिद्विके बन्धत्रयं तज्ज्ञानं वा क्लिष्टलेश्यत्रये ।
अविरमणं वा शुभयुगलोदयः पुंवेदको व भवेत् ॥ ७३० ॥
अष्टविंशचत्वारो बन्धाः पञ्चषड्विंशं चास्ति तेजसि ।
प्रथमचतुष्कं सत्त्वं शुक्लायामवधिर्वैं विंशकं चोदयः ॥ ७३१ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—अवधिदर्शन और केवलदर्शनमें बंधादि तीनों स्थान क्रमसे अवधिज्ञान और केवलज्ञानवत् जानने चाहिये। तथा लेश्यामार्गणामेंसे कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओंमें तो बंधादि तीनों स्थान असंयतवत् हैं। तेजोलेश्या और पद्मलेश्यामें उदयस्थान पुरुषवेदकी तरह हैं, बंधस्थान पद्मलेश्यामें २८ को लेकर ४ हैं और तेजोलेश्यामें ये चार तथा २५–२६ के दो इस प्रकार ६ हैं, सत्त्वस्थान तेजोलेश्या और पद्मलेश्या इन दोनोंमें आदिके ४ हैं। शुक्ललेश्यामें बंधादि स्थान अवधिज्ञानवत् जानना, परंतु इतना विशेष है कि २० के स्थानका भी इसमें उदय होता है ॥७३०।७३१॥

भव्वे सव्वमभव्वे बंधुदया अविरदव्व सत्तं तु ।
णउदिचउ हारबंधणदुगहीणं सुदमिवुवसमे बंधो ॥ ७३२ ॥
उदया इगिपणवीसं णववीसतियं च पढमचउ सत्तं ।
उवसम इव बंधंसा वेदगसम्मे ण इगिबंधो ॥ ७३३ ॥
उदया मदि व खइये बंधादो सुदमिवत्थि चरिमदुगं ।
उदयंसे बीसं च य साणे अडवीसतियबंधो ॥ ७३४ ॥

उदया इगिवीसचऊ णववीसतियं च णउदियं सत्तं ।
मिस्से अडवीसदुगं णववीसतियं च वंधुदया ॥ ७३५ ॥
बाणउदिणउदिसत्तं मिच्छे कुमदिं व होदि बंधतियं ।
पुरिसं वा सण्णीये इदरे कुमदिं व णत्थि इगिणउदो ॥ ७३६ ॥ कुलयं ।

भव्ये सर्वमभव्ये बन्धोदया अविरत इव सत्त्वं तु ।
नवतिचतुष्कमाहारबन्धनद्विकहीनं श्रुतमिवोपशमे बन्धः ॥ ७३२ ॥
उदया एकपञ्चविंशं नवविंशत्रयं च प्रथमचतुष्कं सत्त्वम् ।
उपशम इव बन्धांशा वेदकसम्ये नैकबन्धः ॥ ७३३ ॥
उदया मतिवत् क्षायिके बन्धादिः श्रुतमिवास्ति चरमद्विकम् ।
उदयांशे विंशं च च साने अष्टविंशत्रिकबन्धः ॥ ७३४ ॥
उदया एकविंषचत्वारः नवविंशत्रयश्च नवतिकं सत्त्वम् ।
मिश्रे अष्टविंशद्विकं नवविंशत्रयं च बन्धोदयाः ॥ ७३५ ॥
द्वानवतिनवतिसत्त्वं मिथ्ये कुमतिवत् भवति बन्धत्रयम् ।
पुरुषो वा संज्ञिनि इतरस्मिन् कुमतिवत् नास्ति एकनवतिः ॥ ७३६ ॥ कुलकम् ।

अर्थ—भव्यमार्गणामें भव्यके बंध उदय सत्त्वस्थान सब हैं, और अभव्यके बंध उदयस्थान असंयमवत् जानना तथा सत्त्वस्थान ९० को आदि लेकर ४ हैं, परंतु इतना विशेष है कि आहारद्विक सहित ३० का बंध नहीं है किन्तु उद्योत सहित हैं। सम्यक्त्वमार्गणामेंसे उपशमसम्यक्त्वमें बंधस्थान श्रुतज्ञानवत् हैं, उदयस्थान २१-२५ और २९ को आदि लेकर ३ इस तरह ५ हैं; सत्त्वस्थान ९३ के स्थानको आदि लेकर ४ हैं। वेदक सम्यक्त्वमें बंधस्थान और सत्त्वस्थान तो उपशमसम्यक्त्वकी तरह हैं परंतु इतना विशेष है कि एकका बंधस्थान नहीं है, उदयस्थान मतिज्ञानवत् ८ हैं। क्षायिकसम्यक्त्वमें बंधादिस्थान श्रुतज्ञानवत् क्रमसे ५-८-८ हैं; इतना विशेष है कि उदय और सत्त्वमें अंतके दो दो स्थान भी पाये जाते हैं तथा उदयमें २० का स्थान भी पाया जाता है। सासादनसम्यक्त्वमें बंधस्थान २८ को लेकर ३ हैं, उदयस्थान २१ को आदि लेकर ४ और २९ को लेकर ३ इस तरह ७ हैं, और सत्त्वस्थान ९० का ही है। मिश्ररुचिके बंधस्थान २८ को आदि लेकर २ हैं, उदयस्थान २९ को आदि लेकर ३ हैं, सत्त्वस्थान ९२-९० के दो हैं। मिथ्यारुचिके बंधादि तीन स्थान कुमतिज्ञानवत् जानने चाहिये। संज्ञीमार्गणामें संज्ञीके बंधादिस्थान पुरुषवेदकी तरह हैं। असंज्ञीके कुमतिज्ञानवत् हैं, परन्तु इतना विशेष है कि ९१ का सत्त्वस्थान नहीं है ॥ ७३२।७३३।७३४।७३५। ७३६ ॥

आहारे बंधुदया संढं वा णवरि णत्थि इगिवीसं ।
पुरिसं वा कम्मंसा इदरे कम्मं व बंधतियं ॥ ७३७ ॥

आहारे बन्धोदया षण्ढो वा नवरि नास्ति एकविंशम् ।
पुरुषो वा कर्मांशाः इतरस्मिन् कर्म व बन्धत्रयम् ॥ ७३७ ॥

अर्थ—आहारमार्गणामें बंध उदयस्थान नपुंसकवेदवत् हैं, परंतु इतना विशेष है कि २१ का उदयस्थान नहीं है, सत्त्वस्थान पुरुषवेदवत् हैं । अनाहारकके बंधादि तीन स्थान कार्माणकाययोगवत् हैं ॥ ७३७ ॥

अत्थि णवट्ठ य दुदओ दसणवसत्तं च विज्जदे एत्थ ।
इदि बंधुदयप्पहुदीसुदणामे सारमादेसे ॥ ७३८ ॥

अस्ति नवाष्ट च द्व्युदयो दशनवसत्त्वं च विद्यतेऽत्र ।
इति बन्धोदयप्रभृतिश्रुतनाम्नि सारमादेशे ॥ ७३८ ॥

अर्थ—इस अनाहार मार्गणामें इतना विशेष है कि अयोगीके उदयस्थान ९-८ के दो हैं, सत्त्वस्थान १०-९ के दो हैं । इसप्रकार मार्गणाओंमें नामकर्मके बंधउदय सत्त्वका त्रिसंयोग प्रगट रीतिसे सारभूत कहा गया है ॥ ७३८ ॥

चारुसुदंसणधरणे कुवलयसंतोसणे समत्थेण ।
माधवचंदेण महावीरेणत्थेण वित्थरिदो ॥ ७३९ ॥

चारुसुदर्शनधरणे कुवलयसन्तोषणे समर्थेन ।
माधवचन्द्रेण महावीरेणार्थेन विस्तरितः ॥ ७३९ ॥

अर्थ—इसप्रकार यह पूर्वोक्त कथन, उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनके धारण करनेमें समर्थ तथा पृथ्वीमंडलको आनन्द उत्पन्न करनेवाले ऐसे श्रीमाधवचन्द्र अर्थात् नेमिनाथ तीर्थंकर और महावीर तीर्थंकर इन दोनोंने परमार्थसे विस्ताररूप किया है । अथवा माधवचन्द्र और वीरनन्दि ये दोनों आचार्योंके नाम हैं ऐसा भी अर्थ निकलता है सो ऐसा अर्थ करनेमें भी कोई हानि नहीं है ॥ ७३९ ॥

आगे इस बंधादि त्रिसंयोगको एक आधार और दो आधेयकी अपेक्षा कहते हैं । उसमें भी पहले बंधको आधार और उदय सत्त्वको आधेय बनाकर निरूपण करते हैं;—

णवपंचोदयसत्ता तेवीसे पण्णुवीस छव्वीसे ।
अट्ठचदुरट्ठवीसे णवसत्तुगुतीसतीसम्मि ॥ ७४० ॥
एगेगं इगितीसे एगे एगुदयमट्ठसत्ताणि ।
उवरदबंधे दसदस उदयंसा होंति णियमेण ॥ ७४१ ॥ जुम्मं ।

नवपञ्चोदयसत्ताः त्रयोविंशे पञ्चविंशे षड्विंशे ।
अष्टचतुष्कमष्टाविंशे नवसप्तैकोनत्रिंशत्त्रिंशतोः ॥ ७४० ॥
एकैकमेकत्रिंशतौ एकस्मिन्नेकोदयोऽष्टसत्त्वानि ।
उपरतबन्धे दश दश उदयांशा भवन्ति नियमेन ॥ ७४१ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—२३-२५-२६ के बंधस्थानमें उदयस्थान ९ और सत्त्वस्थान ५ हैं। २८ के बंधस्थानमें उदयस्थान ८ और सत्त्वस्थान ४ हैं। २९ और ३० के बंधस्थानमें उदयस्थान ९ और सत्त्वस्थान ७ हैं। ३१ के बंधस्थानमें उदयस्थान १ और सत्त्वस्थान १ है। १ के बंधस्थानमें उदयस्थान १ और सत्त्वस्थान ८ हैं। तथा उपरतबंध अर्थात् बंधरहितस्थानमें उदयस्थान और सत्त्वस्थान दस दस नियमसे होते है ॥ ७४० । ७४१ ॥

उदयंसट्ठाणाणि य सामित्तादो दु जाणिदव्वाणि ।
बंधुदयं च णिरुंभिय सत्तस्स य संभवगदीए ॥१[1]॥

अब उक्त स्थानोंकी संख्या कहते हैं,—

तियपणछवीसबंधे इगिवीसादेक्कतीसचरिमुदया ।
बाणउदी णउदिचऊ सत्तं अडवीसगे उदया ॥ ७४२ ॥
पुव्वं व ण चउवीसं बाणउदिचउक्कसत्तमुगुतीसे ।
तीसे पुव्वं वुदया पढमिल्लं सत्तयं सत्तं ॥ ७४३ ॥ जुम्मं ।

त्रिकपञ्चषड्विंशबन्धे एकविंशादेकत्रिंशच्चरमोदयाः ।
द्वानवतिः नवतिचतुष्कं सत्त्वमष्टविंशके उदयाः ॥ ७४२ ॥
पूर्वं व न चतुर्विंशं द्वानवतिचतुष्कसत्त्वमेकोनत्रिंशे ।
त्रिंशे पूर्वं वोदयाः प्रथमाद्यं सप्तकं सत्त्वम् ॥ ७४३ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—२३-२५-२६ के बंधस्थानोंमें २१ को आदि लेकर ३१ पर्यंत उदयस्थान ९ हैं, सत्त्वस्थान ९२ का और ९० को आदि लेकर ४ इस प्रकार ५ हैं। २८ के बंधस्थानमें उदयस्थान पूर्ववत् ९ मेंसे २४ का न होनेसे ८ हैं, सत्त्वस्थान ९२ को आदि लेकर ४ हैं तथा २९-३० के बंधस्थानमें उदयस्थान पूर्ववत् ९ हैं, सत्त्वस्थान पहले (९३) को आदि लेकर ७ हैं ॥ ७४२ । ७४३ ॥

इगितीसे तीसुदओ तेणउदी सत्तयं हवे एगे ।
तीसुदओ पढमचऊ सीदादिचउक्कमवि सत्तं ॥ ७४४ ॥

एकत्रिंशे त्रिंशोदयः त्रिनवतिः सत्त्वं भवति एकस्मिन् ।
त्रिंशोदयः प्रथमचतुष्कमशीत्यादिचतुष्कमपि सत्त्वम् ॥ ७४४ ॥

अर्थ—३१ के बंधस्थानमें उदयस्थान ३० का है, सत्त्वस्थान ९३ का है। १ के बंधस्थानमें उदयस्थान ३० का हैं, सत्त्वस्थान ९३ को आदि लेकर ४ और ८० के को आदि लेकर ४ इसतरह ८ हैं ॥ ७४४ ॥

उवरदबंधेसुदया चउपणवीसूण सव्वयं होदि ।
सत्तं पढमचउक्कं सीदादीछक्कमवि होदि ॥ ७४५ ॥

---

१ यह गाथा क्षेपक मालूम होता है ।

उपरतबन्धेषूदयाः चतुःपञ्चविंशोनं सर्वं भवति ।
सत्त्वं प्रथमचतुष्कमशीत्यादिषट्कमपि भवति ॥ ७४५ ॥

अर्थ—बंधरहितमें उदयस्थान २४-२५ के विना सब (१०) हैं, सत्त्वस्थान ९३ को आदि लेकर ४ और ८० को आदि लेकर ६ इसतरह १ हैं ॥ ७४५ ॥

आगे दूसरा भेद उदयको आधार तथा वंध-सत्त्वको आधेय मानकर कहते हैं;—

वीसादिसु वंधंसा णभदु छण्णव पणपणं च छसत्त ।
छण्णव छड दुसु छद्दस अट्ठदसं छक्कछक्क णभति दुसु ॥ ७४६ ॥

विंशादिषु बन्धांशा नभोद्विकं षण्णव पञ्चपञ्च च षट्सप्त ।
षण्णव षडष्ट द्वयोः षड्दश अष्टदश षट्कषट्कं नभस्त्रिकं द्वयोः ॥ ७४६ ॥

अर्थ—२० को आदि लेकर उदयस्थानोंमें बंधस्थान और सत्त्वस्थान क्रमसे इसप्रकार हैं—२० के उदयस्थानमें बंध शून्य सत्त्व २, २१ के में बंध ६ सत्त्व ९, इसीप्रकार बंध और सत्त्व क्रमसे २४ के में ५-५, २५ के मे ६-७, २६ के में ६-९, २७-२८ के में ६-८, २९ के में ६-१०, ३० के में ८-१०, ३१ के में ६-६ और ९-८ के में क्रमसे शून्य-३ जानने चाहिये ॥ ७४६ ॥

अब उन्हीं स्थानोंको दिखलाते हैं;—

वीसुदये वंधो ण हि उणसीदीसत्तसत्तरी सत्तं ।
इगिवीसे तेवीसप्पहुदीतीसंतया वंधा ॥ ७४७ ॥
सत्तं तिणउदिपहुदीसीदंता अट्ठसत्तरी य हवे ।
चउवीसे पढमतियं णववीसं तीसयं वंधो ॥ ७४८ ॥
बाणउदी णउदिचऊ सत्तं पणछस्सगट्ठणववीसे ।
बंधा आदिमछक्क पढमिल्लं सत्तयं सत्तं ॥ ७४९ ॥
ते णवसगसदरिजुदा आदिमछस्सीदिअट्ठसदरीहिं ।
णवसत्तसत्तरीहिं सीदिचउक्केहिं सहिदाणि ॥ ७५० ॥ कलावयं ।

विंशोदये बन्धे न हि एकोनाशीतिसप्तसप्तती सत्त्वम् ।
एकविंशे त्रयोविंशप्रभृतित्रिंशान्तका बन्धाः ॥ ७४७ ॥
सत्त्वं त्रिनवतिप्रभृत्यशीत्यन्तानि अष्टसप्ततिश्च भवेत् ।
चतुर्विंशे प्रथमत्रयं नवविंशं त्रिंशत्कं बन्धः ॥ ७४८ ॥
द्वानवतिः नवतिचतुष्कं सत्त्वं पञ्चषट्सप्ताष्टनवविंशे ।
बन्धा आदिमषट्कं प्रथमाद्यं सप्तकं सत्त्वम् ॥ ७४९ ॥

तानि नवसप्तसप्ततियुतानि आदिमषडशीत्यष्टसप्ततिभिः ।
नवसप्तसप्ततिभिरशीतिचतुष्कैः सहितानि ॥ ७५० ॥ कलापकम् ।

अर्थ—२० के उदयस्थानमें बंध नहीं हैं, सत्त्वस्थान ७९-७७ के दो हैं । २१ के उदयस्थानमें बंधस्थान २३ को आदि लेकर ३० के अन्ततकके ६ हैं, सत्त्वस्थान ९३ को आदि लेकर ८० के अन्ततक हैं और ७८ का भी है । २४ के उदयस्थानमें बंधस्थान आदिके ३ और २९-३० के दो इस तरह ५ हैं, सत्त्वस्थान ९२ का और ९० को आदि लेकर ४ इसप्रकार ५ हैं । २५-२६-२७-२८-२९ के उदयस्थानमें बंधस्थान २३ को आदि लेकर ६ हैं, सत्त्वस्थान क्रमसे २५ केमें आदिके ७ हैं—२६ केमें पहले सात तथा ७९ और ७७ के दो इसप्रकार ९ हैं—२७ केमें आदिके६ तथा ८० और ७८ के दो इसप्रकार ८ हैं—२८ केमें आदिके ६ तथा ७९ और ७७ के दो इसतरह ८ हैं—२९ केमें आदिके ६ तथा ८० को आदि लेकर ४ इसतरह १० हैं ॥ ७४७ । ७४८ । ७४९ । ७५० ॥

तीसे अट्ठवि बंधो ऊणतीसं व होदि सत्तं तु ।
इगितीसे तेवीसप्पहुदीतीसंतयं बंधो ॥ ७५१ ॥
सत्तं दुणउदिणउदीतिय सीदडहत्तरी य णवगट्ठे ।
बंधो ण सीदिपहुदीसुसमविसमं सत्तमुद्दिट्ठं ॥ ७५२ ॥ जुम्मं ।

त्रिंशे अष्टापि बन्ध एकोनत्रिंशं व भवति सत्त्वं तु ।
एकत्रिंशे त्रयोविंशप्रभृतित्रिंशान्तको बन्धः ७५१ ॥
सत्त्वं द्विनवतिनवतित्रिकमशीत्यष्टसप्ततिश्च नवकाष्टसु ।
बन्धो न अशीतिप्रभृतिषु समविषमं सत्त्वमुद्दिष्टम् ॥ ७५२ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—३० के उदयस्थानमें बंधस्थान ८, सत्त्वस्थान २९ की तरह १० हैं । ३१ के उदयस्थानमें बंधस्थान २३ को आदि लेकर ३० के स्थान तक ६ हैं, सत्त्वस्थान ९२ का और ९० को आदि लेकर ३ तथा ८० और ७८ के दो इसतरह ६ हैं । ९-८ के उदयस्थानमें बंधस्थान नहीं हैं, सत्त्वस्थान ८० को आदि लेकर ६ स्थानोंमेंसे समरूप ३ तो ९ केमें तथा विषमसंख्यारूप ३ आठकेमें यथाक्रमसे जानने चाहिये ॥ ७५१ । ७५२ ॥

आगे सत्त्वस्थानको आधारकर तथा बंध-उदयस्थानको आधेय मानके ७ गाथाओंमें निरूपण करते हैं,—

सत्ते बंधुदया चदुसग सगणव चतुसगं च सगणवयं ।
छण्णव पणणव पणचदु चदुसिगिछक्कं णभेक्क सुण्णेगं ॥ ७५३ ॥

सत्त्वे बन्धोदया चतुःसप्त सप्तनव चतुःसप्त च सप्तनवकम् ।
षण्णव पञ्चनव पञ्चचतुष्कं चतुर्येकषट्कं नभ एकं शून्यमेकम् ॥ ७५३ ॥

अर्थ—सत्त्वस्थानमें बंधस्थान और उदयस्थान क्रमसे ४-७, ७-९, ४-७, ७-९, ६-९, ५-९, ५-४, पुनः चार सत्त्वस्थानोंमें १-६, और फिर शून्य-१, शून्य-१ जानने चाहिये ॥ ७५३ ॥

अब उन्हीं स्थानोंको स्पष्ट रीतिसे बतलाते हैं;—

तेणउदीए बंधा इगुतीसादीचउक्कमुदओ दु ।
इगिपणछस्सगअट्ठणववीसं तीसयं णेयं ॥ ७५४ ॥

त्रिनवत्यां वन्धा एकोनत्रिंशादिचतुष्कमुदयस्तु ।
एकपञ्चषट्सप्ताष्टकनवविंशं त्रिंशत्को ज्ञेयः ॥ ७५४ ॥

अर्थ—९३ के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान २९ के को आदि लेकर ४ हैं, उदयस्थान २१-२५-२६-२७-२८-२९-३० के हैं ॥ ७५४ ॥

बाणउदीए बंधा इगितीसूणाणि अट्ठठाणाणि ।
इगिवीसादीएक्कत्तीसंता उदयठाणाणि ॥ ७५५ ॥

द्वानवत्यां बन्धा एकत्रिंशोनानि अष्टस्थानानि ।
एकविंशाद्येकत्रिंशान्तानि उदयस्थानानि ॥ ७५५ ॥

अर्थ—९२ कि सत्त्वस्थानमें बंधस्थान ३१ के विना आठ अर्थात् ७ हैं, उदयस्थान २१ के को आदि लेकर ३१ पर्यंत ९ हैं ॥ ७५५ ॥

इगिणवदीए बंधा अडवीसत्तिदयमेक्कयं चुदओ ।
तेणउदिं वा णउदीबंधा बाणउदियं व हवे ॥ ७५६ ॥
चरिमदुवीसूणुदयो तिसु दुसु बंधा छतुरियहीणं च ।
बासीदी बंधुदया पुव्वं विगिवीसचत्तारि ॥ ७५७ ॥ जुम्मं ।

एकनवत्यां वन्धा अष्टविंशत्रितयमेकश्चोदयः ।
त्रिनवतिर्वा नवतिवन्धा द्वानवतिर्वे भवेत् ॥ ७५६ ॥
चरमद्विविंशोनोदयस्त्रिषु द्वयोर्बन्धाः षट्तुरीयहीनं च ।
द्व्यशीत्यां वन्धोदयाः पूर्व इवैकविंशचत्वारः ॥ ७५७ ॥ युग्मम्

अर्थ—९१ के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान २८ को आदि लेकर ३ और १ का इसतरह ४ हैं, उदयस्थान ९३ की तरह ७ हैं । ९० के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान ९२ की तरह ७ हैं, उदयस्थान अन्तके दो तथा वीसका एक इन तीनोंके विना ९ हैं । ८८-८४ के सत्त्वस्थानमें उदयस्थान ये ही ९ हैं, परन्तु बंधस्थान क्रमसे २३ को आदि लेकर ६ तथा चौथे (२८ वें) के विना शेष ५ हैं । ८२ के सत्त्वस्थानमें बंधस्थान पहलेकी तरह अर्थात् ८४ के की तरह ५ हैं, उदयस्थान २१ को आदि लेकर ४ हैं ॥ ७५६ । ७५७ ॥

सोदादिचउसु बंधा जसकित्ती समपदे हवे उदओ ।
इगिसगणवधियवीसं तीसेक्कतीसणवगं च ॥ ७५८ ॥
वीसं छडणववोसं तोसं चट्ठं च विसमठाणुदया ।
दसणवगे ण हि बंधो कमेण णवअट्ठयं उदओ ॥ ७५९ ॥ जुम्मं ।

अशीत्यादिचतुर्षु बन्धो यशस्कीर्तिः समपदे भवेदुदयाः ।
एकसप्तनवाधिकविंशं त्रिंशैकत्रिंशनवकं च ॥ ७५८ ॥
विंशः षडष्टनवविंशं त्रिंशच्चाष्ट च विषमस्थानोदयाः ।
दशनवके न हि बन्धः क्रमेण नवाष्टक उदयः ॥ ७५९ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—८० के को आदि लेकर ४ सत्त्वस्थानोंमें बंधस्थान एक यशस्कीर्तिप्रकृतिका ही है । उदयस्थान समसंख्यारूप ८०-७८ केमें २१-२७-२९-३०-३१-९ के ६ हैं, तथा विषमसंख्यारूप ७९-७७ के सत्त्वस्थानमें २०-२६-२८-२९-३०-८ के ६ उदयस्थान हैं । १०-९ के सत्त्वस्थानोंमें बंधस्थान नहीं हैं, उदयस्थान क्रमसे ९ का और ८ का है ॥ ७५८ । ७५९ ॥

आगे बंधस्थान-उदयस्थान इन दोनोंको आधार करके आधेयभुत सत्त्वस्थानोंको ९ गाथाओंसे कहते हैं;—

तेवीसबंधगे इगिवीसणवुदयेसु आदिमचउक्के ।
बाणउदिणउदिअडचउबासीदी सत्तठाणाणि ॥ ७६० ॥
तेणुवरिमपंचुदये ते चेवंसा विवज्ज बासीदिं ।
एवं पणछव्वीसे अडवीसे एक्कवीसुदये ॥ ७६१ ॥
बाणउदिणउदिसत्तं एवं पणुवीसयादिपंचुदये ।
पणसगवीसे णउदी विगुव्वणे अत्थिणाहारे ॥ ७६२ ॥ विसेसयं ।

त्रयोविंशबन्धके एकविंशनवोदयेषु आदिमचतुष्के ।
द्वानवतिनवत्यष्टचतुर्द्व्यशीतिः सत्त्वस्थानानि ॥ ७६० ॥
तेनोपरिमपञ्चोदये ते चैवांशा विवर्ज्य द्व्यशीतिम् ।
एवं पञ्चषड्विंशे अष्टविंशेन एकविंशोदये ॥ ७६१ ॥
द्वानवतिनवतिसत्त्वमेवं पञ्चविंशकादिपञ्चकोदये ।
पञ्चसप्तविंशे नवतिर्विगूर्वणे अस्ति नाहारे ॥ ७६२ ॥ विशेषकम् ।

अर्थ—२३ के बंधस्थानमें २१ को आदि लेकर जो ९ उदयस्थान हैं उनमेंसे आदिके ४ उदयस्थानोंमें सत्त्वस्थान ९२-९०-८८-८४-८२ के पाँच हैं । और उसी २३ के बंधस्थानसहित ऊपरके ५ उदयस्थानोंमें सत्त्वस्थान ८२ के विना चार ही हैं । २५-२६ के बंधसहित उदयस्थानोंमें

सत्त्व पूर्ववत् (२३ के समान) जानना । २८ के बंधसहित २१ के उदयस्थानमें ९२-९० का सत्त्व-स्थान हैं । इसीप्रकार २८ के बंधसहित २५ को आदि लेकर ५ उदयस्थानोंमें सत्त्वस्थान जानने, परन्तु इतना विशेष है कि २५-२७ के उदयमें जो ९० का सत्त्व है वह वैक्रियिककी अपेक्षासे है आहारककी अपेक्षासे नहीं है ॥ ७६० । ७६१ । ७६२ ॥

तेण णभिगितीसुदये बाणउदिचउक्कमेक्कतीसुदये ।
णवरि ण इगिणउदिपदं णववीसिगिवीसबंधुदये ॥ ७६३ ॥
तेणवदिसत्तसत्तं एवं पणछक्कवीसठाणुदये ।
चउवीसे बाणउदी णउदिचउक्कं च सत्तपदं ॥ ७६४ ॥ जुम्मं ।

तेन नभएकत्रिंशोदये द्वानवतिचतुष्कमेकत्रिंशोदये ।
नवरि न एकनवतिपदं नवविंशैकविंशबन्धोदययोः ॥ ७६३ ॥
त्रिनवतिसप्तसत्त्वमेवं पञ्चषट्कविंशस्थानोदये ।
चतुर्विंशे द्वानवतिः नवतिचतुष्कं च सत्त्वपदम् ॥ ७६४ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—उस २८ के बंधसहित ३०-३१ का उदय होनेपर ९२ को आदि लेकर ४ स्थानोंका सत्त्व है । परंतु इतनी विशेषता है कि ३१ के उदय होने पर ९१ का सत्त्व नहीं है । २९ के बंधसहित २१ के उदय होने पर ९३ को आदि लेकर ७ स्थानोंका सत्त्व है । इसीप्रकार पूर्वोक्त बंधसहित २५-२६ के उदय होनेपर भी सत्त्व जानना चाहिये । २९ के बंधसहित २४ का उदय होनेपर ९२ का तथा ९० को आदि लेकर ४ का सत्त्व है ॥ ७६३ । ७६४ ॥

सगवीसचउक्कुदये तेणउदोछक्कमेवमिगितीसे ।
तिगिणउदी ण हि तीसे इगिपणसगअट्ठणवयवीसुदये ॥ ७६५ ॥
तेणउदीछक्कसत्तं इगिपणवीसेसु अत्थि बासीदी ।
तेण छचउवीसुदये बाणउदी णउदिचउसत्तं ॥ ७६६ ॥ जुम्मं ।

सप्तविंशचतुष्कोदये त्रिनवतिषट्कमेवमेकत्रिंशे ।
त्र्येकनवतिर्न हि त्रिंशे एकपञ्चसप्ताष्टनवकविंशोदये ॥ ७६५ ॥
त्रिनवतिषट्कसत्त्वमेकपञ्चविंशयोरस्ति द्व्यशीतिः ।
तेन षट्चतुर्विंशोदये द्वानवतिः नवतिचतुष्कसत्त्वम् ॥ ७६६ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—२९ के बंधसहित २७ को आदि लेकर ४ स्थानोंके उदय होनेपर ९३ को आदि लेकर ६ का सत्त्व है; इसीप्रकार ३१ के उदयमें भी जानना, विशेषता यह है कि इस स्थानमें ९३-९१ का सत्त्व नहीं है । ३० के बंधसहित २१-२५-२७-२८-२९ के उदय होनेपर ९३ को आदि लेकर

६ का सत्त्व है; विशेषता यह है कि ८२ के स्थानका सत्त्व २१-२५ के उदय होनेपर ही होत अन्य जगह नहीं । ३० के बंधसहित २४-२६ के उदय होनेपर ९२ का और ९० आदि ४ इसप्रकार ५ स्थानोंका सत्त्व पाया जाता है ॥ ७६५ । ७६६ ॥

एवं खिगितीसे ण हि बासीदी एक्कतीसबंधेण ।
तीसुदये तेणउदी सत्तपदं एक्कमेव हुवे ॥ ७६७ ॥
एवं खैकत्रिंशे न हि द्व्यशीतिरेकत्रिंशबन्धेन ।
त्रिंशोदये त्रिनवतिः सत्त्वपदमेकमेव भवेत् ॥ ७६७ ॥

अर्थ— ३० के बंधसहित ३०-३१ के उदय होनेपर सत्त्वस्थान २४ के उदयकी तरह जानना चाहिये, इतना विशेष है कि यहां पर ८२ का सत्त्वस्थान नहीं होता । ३१ के बंधस[हित] ३० का उदय होनेपर सत्त्वस्थान एक ९३ का ही हैं ॥ ७६७ ॥

इगिबंधट्ठाणेण दु तीसट्ठाणोदये णिरुंधम्मि ।
पढमचऊसीदिचऊ सत्तट्ठाणाणि णामस्स ॥ ७६८ ॥
एकबन्धस्थानेन तु त्रिंशस्थानोदये निरोधे ।
प्रथमचतुष्काशीतिचतुष्कं सत्त्वस्थानानि नाम्नः ॥ ७६८ ॥

अर्थ— १ के बंधसहित ३० के उदय होनेपर ९३ को आदि लेकर ४ और ८० को आ[दि] लेकर ४ सत्त्वस्थान नामकर्मके कहे गये हैं ॥ ७६८ ॥

आगे बंधसत्त्वको आधार करके और उदयस्थानको आधेय मानके ६ गाथाओंमें बताते हैं;

तेवीसबंधठाणे दुखणउदडचदुरसीदि सत्तपदे ।
इगिवीसादिणउदओ बासीदे एक्कवीसचऊ ॥ ७६९ ॥
त्रयोविंशबन्धस्थाने द्विखनवत्यष्टचतुरशीतिसत्त्वपदे ।
एकविंशादिनवोदयः द्व्यशीतौ एकविंशचतुष्कम् ॥ ७६९ ॥

अर्थ— २३ के बंधस्थानसहित ९२-९०-८८-८४ के सत्त्वस्थान होनेपर २१ को आदि लेक[र] ९ उदयस्थान हैं, और ८२ का सत्त्व होनेपर २१ को आदि लेकर ४ उदयस्थान हैं ॥ ७६९ ॥

एवं पणछव्वीसे अडवीसे बंधगे दुणउदंसे ।
इगिवीसादिणवुदया चउवीसट्ठाणपरिहीणा ॥ ७७० ॥

इगिणउदीए तीसं उदओ णउदीए तिरियसण्णि वा ।
अडसीदीए तीसदु णववीसे बंधगे तिणउदीए ॥ ७७१ ॥

इगिवीसादट्ठुदओ चउवीसूणो दुणउदिणउदितिये।
इगिवीसणविगिणउदे णिरयं व छवीसतीसधिया ॥ ७७२ ॥
बासीदे इगिचउपणछव्वीसा तीसबंधतिगिणउदी।
सुरमिव दुणउदिणउदी चउसुदओ ऊणतीसं वा ॥ ७७३ ॥ कलावयं।

एवं पञ्चषड्विंशे अष्टविंशे बन्धके तु द्वानवत्यंशे।
एकविंशादिनवोदयाः चतुर्विंशस्थानपरिहीनाः ॥ ७७० ॥
एकनवत्यां त्रिंश उदयो नवत्यां तिर्यक्संज्ञी वा।
अष्टाशीतौ त्रिंशद्विकं नवविंशे बन्धके त्रिनवत्याम् ॥ ७७१ ॥
एकविंशादष्टोदयः चतुर्विंशोनो द्विनवतिनवतित्रये।
एकविंशनव एकनवत्यां निरयो व षड्विंशत्रिंशाधिकाः ॥ ७७२ ॥
द्व्यशीत्यामेकचतुःपञ्चषड्विंशः त्रिंशबन्धे त्र्येकनवतौ।
सुर इव द्विनतिनवतिचतुर्ष्वुदय एकोनत्रिंशं वा ॥ ७७३ ॥ कलापकम्।

अर्थ—२५-२६ के बंधसहित भी सत्त्वस्थान और उदयस्थान २३ की तरह जानना। २८ के बंधसहित ९२ के सत्त्व होनेपर २४ के विना २१ को आदि लेकर ९ उदयस्थान हैं। ९१ का सत्त्व होने पर ३० का उदयस्थान है, ९० का सत्त्व होनेपर तिर्यंच संज्ञीके कहे हुए २१ आदि उदयस्थान हैं, ८८ का सत्त्व होनेपर ३०-३१ के उदयस्थान हैं। २९ के बंधसहित ९३ का सत्त्व होनेपर २४ के विना २१ को आदि लेकर ८ उदयस्थान हैं, ९२ का और ९० को आदिलेकर ३ का सत्व होनेपर २१ को आदि लेकर ९ का उदय होता है, ९१ का सत्व होनेपर नरकगतिमें कहेहुए २१ को आदि लेकर २१-२५-२७-२८-२९ के तथा २६-३० के ये दोनों मिलाकर उदयस्थान हैं। ८२ का सत्व होनेपर २१-२४-२५-२६- के उदयस्थान हैं, तथा ३० के बंधसहित ९३-९१ का सत्व होनेपर देवगतिवत् ५ उदयस्थान हैं, ९२ का और ९० को आदिलेकर ४ का सत्व होनेपर २९ के बंधसहितके समान ९ उदयस्थान होते हैं। ३० के ही बंधसहित ८२ का सत्व होने पर २९ के बंधसहित समान चार उदयस्थान हैं ॥ ७७० । ७७१ । ७७२ । ७७३ ॥

इगितीसबंधठाणे तेणउदे तीसमेव उदयपदं।
इगिबंध तिणउदिचऊ सीदिचउक्केवि तीसुदओ ॥ ७७४ ॥

एकत्रिंशबन्धस्थाने त्रिनवत्यां त्रिंशमेव उदयपदम्।
एकबन्धे त्रिनवतिचतुष्के अशीतिचतुष्केऽपि त्रिंशोदयः ॥ ७७४ ॥

अर्थ—३१ के बंधस्थानसहित ९३ का सत्व होनेपर ३० का ही उदयस्थान है। १ के बंधसहित ९३ को आदिलेकर ४ का अथवा ८० को आदिलेकर ४ का सत्व होनेपर भी ३० का ही उदयस्थान है ॥ ७७४ ॥

आगे उदयस्थान और सत्वस्थानको आधार तथा बंधस्थानको आधेय मानके १० गाथाओं द्वारा भंग कहते हैं;—

इगिवीसट्ठाणुदये तिगिणउदे णवयवीसदुगबंधो ।
तेण दुखणउदिसत्ते आदिमछक्कं हवे बंधो ॥ ७७५ ॥
एवमडसीदितिदए ण हि अडवीसं पुणोवि चउवीसे ।
दुखणउदडसीदितिए सत्ते पुव्वं व बंधपदं ॥ ७७६ ॥ जुम्मं ।

एकविंशस्थानोदये त्र्येकनवत्यां नवविंशद्विकबन्धः ।
तेनद्विखनवतिसत्त्वे आदिमषट्कं भवेद्बन्धः ॥ ७७५ ॥
एवमष्टाशीतित्रितये न हि अष्टविंशं पुनरपि चतुर्विंशे ।
द्विखनवत्यष्टाशीतित्रये सत्त्वे पूर्वं व बन्धपदम् ॥ ७७६ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—२१ के उदयसहित ९३-९१ का सत्व होनेपर २९-३० के दो बंधस्थान हैं, ९२-९० का सत्व होनेपर आदिके ६ बंधस्थान हैं, इसीप्रकार ८८ को आदि लेकर ३ का सत्व होनेपर उक्त ६ बंधस्थानोंमेंसे २८ का बंधस्थान नहीं होता बाकीके पांच बंधस्थान होते हैं । २४ के उदयसहित ९२-९० का तथा ८८ को आदिलेकर ३ का सत्व होनेपर भी पूर्वोक्त ५ ही बंधस्थान होते हैं ॥ ७७५ । ७७६ ॥

पणवीसे तिगिणउदे एगुणतीसंदुगं दुणउदीए ।
आदिमछक्कं बंधो णउदिचउक्केवि णऽडवीसं ॥ ७७७ ॥

पञ्चविंशे त्र्येकनवतौ एकोनत्रिंशद्विकं द्विनवत्याम् ।
आदिमषट्कं बन्धो नवतिचतुष्केपि नाष्टविंशम् ॥ ७७७ ॥

अर्थ—२५ के उदयसहित ९३-९१ का सत्व होनेपर २९-३० के दो बंधस्थान हैं, ९२ का सत्व होनेपर आदिके ६ बंधस्थान हैं, ९० को आदि लेकर ४ का सत्व होनेपर २८ के विना ये पूर्वोक्त ही छह अर्थात् पांच बंधस्थान हैं ॥ ७७७ ॥

छव्वीसे तिगिणउदे उणतीसं बंध दुगखणउदीए ।
आदिमछक्कं एवं अडसीदितिए ण अडवीसं ॥ ७७८ ॥

षड्विंशे त्र्येकनवतौ एकोनविंशं बन्धो द्विकखनवत्याम् ।
आदिमषट्कमेवमष्टाशीतित्रये नाष्टविंशम् ॥ ७७८ ॥

अर्थ—२६ के उदयसहित ९३-९१ का सत्व होनेपर २९ का ही बंधस्थान है, तथा ९२-९० का सत्व होनेपर आदिके ६ बंधस्थान हैं, इसीप्रकार ८८ को आदि लेकर ३ का सत्व होनेपर २८ के विना ये पूर्वोक्त ही ६ स्थान अर्थात् पांच बंधस्थान होते हैं ॥ ७७८ ॥

सगवीसे तिगिणउदे णववीसदुबंधयं दुणउदीए।
आदिमछण्णउदितिए एयं अडवीसयं णत्थि ॥ ७७९ ॥

सप्तविंशे त्र्येकनवतौ नवविंशद्विबन्धको द्विनवत्याम्।
आदिमषण्णवतित्रये एवमष्टाविंशकं नास्ति ॥ ७७९ ॥

अर्थ—२७ के उदयसहित ९३-९१ का उत्त्व होनेपर २९ को आदि लेकर २ बंधस्थान हैं, ९२ का सत्त्व होनेपर आदिके ६ बंधस्थान हैं, और ९० को आदि लेकर ३ सत्त्व होनेपर २८ के विना येही पूर्वोक्त ६ अर्थात् पांच बंधस्थान हैं ॥ ७७९ ॥

अडवीसे तिगिणउदे उणतीसदु दुजुदणउदिणउदितिये।
बंधो सगवीसं वा णउदीए अत्थि णडवीसं ॥ ७८० ॥

अष्टाविंशे त्र्येकनवत्यामेकोनत्रिंशद्द्विकं द्वियुतनवतिनवतित्रये।
बन्धः सप्तविंशं वा नवतौ अस्ति नाष्टाविंशम् ॥ ७८० ॥

अर्थ—२८ के उदयसहित ९३-९१ का सत्त्व होनेपर २९-३० के दो बंधस्थान हैं, ९२ का तथा ९० को आदिलेकर ३ स्थानोंका सत्त्व होनेपर २७ के उदयसहितके समान बंधस्थान हैं, परंतु विशेष इतना है कि ९० का सत्त्व होनेपर २८ का बंधस्थान नहीं है ॥ ७८० ॥

अडवीसमिवुणतीसे तीसे तेणउदिसत्तगे बंधो।
णववीसेक्कत्तीसं इगिणउदो अट्ठवीसदुगं ॥ ७८१ ॥
तेण दुणउदे णउदे अडसीदे बंधमादिमं छक्कं।
चुलसीदेवि य एवं णवरि ण अडवीसबंधपदं ॥ ७८२ ॥ जुम्मं।

अष्टविंश इवैकोनत्रिंशे त्रिंशे त्रिनवतिसत्त्वके बन्धः।
नवविंशैकत्रिंशमेकनवत्यामष्टविंशद्विकम् ॥ ७८१ ॥
तेन द्विनवतौ नवतौ अष्टाशीतौ बन्ध आदिमं षट्कम्।
चतुरशीत्यामपि च एवं नवरि न अष्टविंशबन्धपदम् ॥ ७८२ ॥ युग्मम्।

अर्थ—२९ के उदयसहित ९३-९२-९१-९०-८८-८४ का सत्त्व होनेपर २८ के उदयसहितके समान बंधस्थान हैं। ३० के उदयसहित ९३ का सत्त्व होनेपर २९-३० के दो बंधस्थान हैं, तथा ९१ का सत्त्व होनेपर नरकगमनको सन्मुख तीर्थंकरके सत्त्ववाले मिथ्यादृष्टि मनुष्यके २८-२९ के बंधस्थान हैं। तथा ९२-९०-८८ का सत्त्व होनेपर आदिके ६ बंधस्थान हैं, ८४ का सत्त्व होनेपर भी इसीप्रकार ६ बंधस्थान हैं, परंतु इतना विशेष है कि २८ का बंधस्थान नहीं है अर्थात् पांच बंधस्थान हैं ॥ ७८१। ७८२ ॥

तीसुदयं विगितीसे सजोगबाणउदिणउदितियसत्ते।
उवसंतचउवकुदये सत्ते बंधस्स ण वियारो ७८३ ॥

अब उन आस्रवोंको भेदसहित दिखलाते हैं;—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पण बारस पणुवीसं पण्णरसा होंति तब्भेया ॥ ७८६ ॥
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च आस्रवा भवन्ति ।
पञ्चद्वादश पञ्चविंशं पञ्चदश भवन्ति तद्भेदाः ॥ ७८६ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व १ अविरति २ कषाय ३ योग ४—ये चार मूल आस्रव हैं। तथा इनके भेद क्रमसे ५, १२, २५ और १५ होते हैं ॥ **भावार्थ**—जिसके द्वारा कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कंध कर्मपनेको प्राप्त हो उसका नाम आस्रव है। वह क्या चीज है ? तो आत्माके मिथ्यात्वादि परिणामरूप है। उनमेंसे "मिथ्यात्व" एकांत विनयादिके भेदसे पांच प्रकारका है। "अविरति" नामका आस्रव ५ इन्द्री तथा छट्टा मन इनको वशीभूत नहीं करनेसे ६ भेदरूप और पृथिवीकायादि ५ स्थावरकाय तथा १ त्रसकाय इनकी दया न करनेसे ६ भेदरूप इसतरह १२ प्रकारका है। कषायके अनंतानुबंधी आदि १६ कषाय तथा हास्यादि ९ नोकषाय इसतरह २५ भेद हैं। योग मनोयोगादिके भेदसे १५ प्रकारका है। इसप्रकार सब मिलाकर आस्रवके ५७ भेद होते हैं ॥ ७८६ ॥

आगे मूल प्रत्ययोंको गुणस्थानोंमें बताते हैं;—

चदुपच्चइगो बंधो पढमे णंतरतिगे तिपच्चइगो ।
मिस्सगबिदियं उवरिमदुगं च देसेक्कदेसम्मि ॥ ७८७ ॥
चतुःप्रत्ययको बन्धः प्रथमे अनन्तरत्रिके त्रिप्रत्ययकः ।
मिश्रकद्वितीय उपरिमद्विकं च देशैकदेशे ॥ ७८७ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें ४ प्रत्ययोंसे बंध होता है। उसके बाद सासादन आदि तीन गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वके विना ३ प्रत्ययोंसे ही बंध हैं। किंतु एकदेश असंयमके त्यागनेवाले देशसंयत-गुणस्थानमें दूसरा अविरतिप्रत्यय विरतिकर मिला हुआ है तथा आगेके दो प्रत्यय पूर्ण ही हैं-इस प्रकार पांचवें गुणस्थानमें तीनों ही कारणोंसे बंध होता है ॥ ७८७ ॥

उवरिल्लपंचये पुण दुपच्चया जोगपच्चओ तिण्हं ।
सामण्णपच्चया खलु अट्ठण्हं होंति कम्माणं ॥ ७८८ ॥
उपरिमपञ्चके पुनः द्विप्रत्ययौ योगप्रत्ययः त्रयाणाम् ।
सामान्यप्रत्ययाः खलु अष्टानां भवन्ति कर्मणाम् ॥ ७८८ ॥

अर्थ—इस पांचवे गुणस्थानसे आगेके छट्ठे आदि ५ गुणस्थानोंमें २ प्रत्ययोंसे बंध होता है। और इससे आगे ३ गुणस्थानोंमें १ योगप्रत्ययसे ही बंध होता है। इसतरह निश्चयकर ८ कर्मोंके ये सामान्य प्रत्यय होते हैं ॥ ७८८ ॥

आगे उत्तरप्रत्ययोंको गुणस्थानोंमें दिखाते हैं;—

पणवण्णा पण्णासा तिदाल छादाल सत्ततीसा य ।
चदुवीसा बावीसा बावीसमपुव्वकरणोत्ति ॥ ७८९ ॥
थूले सोलसपहुदी एगूणं जाव होदि दसठाणं ।
सुहुमादिसु दस णवयं णवयं जोगिम्मि सत्तेव ॥ ७९० ॥ जुम्मं ।

पञ्चपञ्चाशत् पञ्चाशत् त्रिचत्वारिंशत् षट्चत्वारिंशत्सप्तत्रिंशत् ।
चतुर्विंशतिः द्वाविंशतिः द्वाविंशमपूर्वकरण इति ॥ ७८९ ॥
स्थूले षोडशप्रभृतय एकोना यावत् भवन्ति दशस्थानम् ।
सूक्ष्मादिषु दश नवकं नवकं योगिनि सप्तैव ॥ ७९० ॥ युग्मम् ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आहारकयुगलके न होनेसे ५५ प्रत्यय हैं; सासादनमें ५ मिथ्यात्व भी नहीं है इसलिये ५० प्रत्यय हैं, मिश्रमें ४३ हैं, असंयतमें ४६ हैं, देशसंयतमें ३७ हैं, प्रमत्तमें २४ हैं, अप्रमत्तमें २२ प्रत्यय हैं, अपूर्वकरणमें भी २२ हैं । अनिवृत्तिकरणमें १६ को आदि लेकर एक एक कम होते होते १० भेदतक हैं । सूक्ष्मसांपरायमें १० हैं । उपशांतकषायमें ९ तथा क्षीणकषायमें भी ९ प्रत्यय हैं । और सयोगकेवलीमें केवल ७ ही प्रत्यय हैं । तथा अयोगीके प्रत्ययका अभाव है ॥ ७८९ । ७९० ॥

आगे प्रत्ययोंकी व्युच्छित्ति तथा अनुदयके लिये उपयोगी केशववर्णीकृत गाथा कहते हैं—[1]

पण चदु सुण्णं णवयं पण्णारस दोण्णि सुण्णछक्कं च ।
एक्केक्कं दस जाव य एक्कं सुण्णं च चारि सग सुण्णं ॥ १ ॥
दोण्णि य सत्त य चोद्दसणुदयेवि एयार वीस तेत्तीसं ।
पणतीस दुसिगिदालं सत्ततालट्ठदाल दुसु पण्णं ॥ २ ॥ जुम्मं ।

पञ्चचतुष्कं शून्यं नवकं पञ्चदश द्वे शून्यं षट्कं च ।
एकैकं दश यावच्च एकं शून्यं च चत्वारि सप्त शून्यम् ॥ १ ॥
द्वौ च सप्त च चतुर्दशानुदयेपि एकादश विंशं त्रयस्त्रिंशत् ।
पञ्चत्रिंशत् द्वयोरेकचत्वारिंशत्सप्तचत्वारिंशदष्टचत्वारिंशत् द्वयोः पञ्चाशत् ॥२॥ युग्मम् ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदिगुणस्थानोंमें क्रमसे ५, ४, शून्य, ९, १५, २, शून्य, ६, इसके बाद १० आस्रवोंके रहने तक एक एक आस्रवकी व्युच्छित्ति है । फिर उसके बाद क्रमसे १, शून्य, ४, ७, और शून्यरूप आस्रवोंकी व्युच्छित्ति होती है । तथा गुणस्थानमें जो अनुदय अर्थात् आस्रवका अभाव है वह क्रमसे २, ७, १४, ११, २०, ३३, ३५, ३५, ४१, ४७, ४८, ४८, ५० का जानना चाहिये ॥१।२॥

---

१. ये गाथा केशववर्णीके किये हुए होनेसे क्षेपक हैं ।

अब उन व्युच्छित्तियोंको वे कौन कौनसी हैं सो दिखलाते हैं,—

मिच्छे पणमिच्छत्तं पढमकसायं तु सासणे मिस्से।
सुण्णं अविरदसम्मे बिदियकसायं विगुव्वदुग कम्मं॥ ३॥
ओरालमिस्स तसवह णवयं देसम्मि अविरदेक्कारा।
तदियकसायं पण्णर पमत्तविरदम्मि हारदुगछेदो॥ ४॥
सुण्णं पमादरहिदे पुव्वे छण्णोकसायवोच्छेदो।
अणियट्टिम्मि य कमसो एक्केक्कं वेदतियकसायतियं॥ ५॥
सुहुमे सुहुमो लोहो सुण्णं उवसंतगेसु खीणेसु।
अलीयुभयवयणमणचउ जोगिम्मि य सुणह वोच्छामि॥ ६॥
सच्चाणुभयं वयणं मणं च ओरालकायजोगं च।
ओरालमिस्स कम्मं उवयारेणेव सब्भाओ॥ ७॥ कुलयं।

मिथ्ये पञ्चमिथ्यात्वं प्रथमकषायस्तु सासादने मिश्रे।
शून्यमविरतसम्ये द्वितीयकषायः वैगूर्वद्विकं कर्म॥ ३॥
औरालमिश्रं त्रसवधः नवकं देशे अविरता एकादश।
तृतीयकषायः पञ्चदश प्रमत्तविरते आहारकद्विकच्छेदः॥ ४॥
शून्यं प्रमादरहिते अपूर्वे षण्णोकषायव्युच्छेदः।
अनिवृत्तौ च क्रमश एकैकं वेदत्रयकषायत्रयम्॥ ५॥
सूक्ष्मे सूक्ष्मो लोभः शून्यमुपशान्तकेषु क्षीणेषु।
अलीकोभयवचनमनश्चतुष्कं योगिनि च शृणुत वक्ष्यामि॥ ६॥
सत्यानुभयं वचनं मनश्च औरालकाययोगश्च।
औरालमिश्रं कार्मणमुपचारेणैव सद्भावः॥ ७॥ कुलकम्।

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानमें ५ मिथ्यात्वाश्रवोंकी व्युच्छित्ति होती है। सासादनमें प्रथम अनंतानुबंधी ४ कषायकी, मिश्रमें शून्य, अविरतमें दूसरी चार कषाय–वैक्रियिकद्विक कार्माणयोग–औदारिकमिश्रयोग–त्रसहिंसा इन ९ आस्रवोंकी, देशसंयतमें ११ अविरति व तीसरी प्रत्याख्यानावरण ४ कषाय इसतरह १५ आस्रवोंकी, प्रमत्तविरतमें आहारकयुगल योगकी, अप्रमत्तमें शून्य, अपूर्वकरणमें हास्यादिक छह नोकषायकी अनिवृत्तिकरणमें क्रमसे एक एक करके ३ वेद और तीन संज्वलन कषायोंकी तथा सूक्ष्मसांपरायमें एक सूक्ष्मलोभकी ही व्युच्छित्ति होती है। उपशांतकषायमें शून्य क्षीणकषायमें असत्य उभय दो वचनयोग तथा दो मनोयोग इसप्रकार ४ की व्युच्छित्ति हैं। सयोगकेवलीके अब व्युच्छित्ति कहते हैं, क्योंकि उसमें कुछ विशेषता है सो तुम हे शिष्य सुनो। सत्य

अनुभय वचनयोग-मनोयोग, औदारिक-औदारिकमिश्रयोग—कार्मणकाययोग इसप्रकार सयोगीके ७ योग हैं, सो ये उपचारसे ही कहे गये हैं । ३ । ४ । ५ । ६ । ७ ॥

आगे आस्रवको विशेषतासे कहनेके लिये स्वयं आचार्य इस अधिकारके गाथासूत्रको कहते हैं;—

> अवरादीणं ठाणं ठाणपयारा पयारकूडा य ।
> कूडुच्चारणभंगा पंचविहा होंति इगिसमये ॥ ७९१ ॥
> अवरादीनां स्थानं स्थानप्रकाराः प्रकारकूटाश्च ।
> कूटोच्चारणभङ्गाः पञ्चविधा भवन्ति एकसमये ॥ ७९१ ॥

अर्थ—जघन्य मध्यम उत्कृष्ट स्थान, स्थानोंके प्रकार, कूटप्रकार, कूटोच्चारण, और भंग, इसतरह एक समयमें प्रत्ययोंके पांच प्रकार होते हैं ॥ ७९१ ॥

आगे उन प्रकारोंको क्रमसे ६ गाथाओंमें कहेंगे उनमेंसे यहां सबसे प्रथम पहले स्थान प्रकारको क्रमानुसार कहते हैं—

> दस अट्ठारस दसयं सत्तर णव सोलसं च दोण्हंपि ।
> अट्ठ य चोद्दस पणयं सत्त तिये दुति दुगेगमेगमदो ॥ ७९२ ॥
> दश अष्टादश दशकं सप्तदश नव षोडश च द्वयोरपि ।
> अष्ट च चतुर्दश पञ्चकं सप्त त्रिके द्वित्रिकं द्विकैकमेकमतः ॥ ७९२ ॥

अर्थ—एकजीवके एककालमें संभवते प्रत्ययोंके समूहको स्थान कहते हैं । यह स्थान मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें क्रमसे दसप्रकार हैं । मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें एक जीवके एकही समयमें जघन्य 'आस्रव' तो १० मध्यम एक एक अधिक और उत्कृष्ट १८ होते हैं, सासादनमें जघन्य १० उत्कृष्ट १७, मिश्र और अविरत इन दोमें जघन्य ९ उत्कृष्ट १६, देशसंयतमें जघन्य ८ उत्कृष्ट १४ का स्थान, प्रमत्तादि तीनमें जघन्य ५ का उत्कृष्ट ७ का स्थान, अनिवृत्तिकरणमें जघन्य २ का उत्कृष्ट ३ का, सूक्ष्मसांपरायमें एक एक का ही स्थान है, यहां मध्यम उत्कृष्ट भेद नहीं हैं इसीतरह इससे आगे उपशांतकषायादि गुणस्थानोमें भी एकका ही स्थान हैं, अयोगीके शून्य है ॥ ७९२ ॥

आगे स्थानोंके प्रकार कहते हैं; –

> एक्कं च तिण्णि पंच य हेट्ठुवरीदो दु मज्झिमे छक्कं ।
> मिच्छे ठाणपयारा इगिदुगमिदरेसु तिण्णि देसोत्ति ॥ ७९३ ॥
> एकः च त्रयः पञ्च च अधस्तनोपरितस्तु मध्यमे षट्कम् ।
> मिथ्ये स्थानप्रकारा एकद्विकमितरेषु त्रयः देश इति ॥ ७९३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिमें जो १० से १८ तकके ९ स्थान कहे हैं उनमें ऊपर नीचेके तीन युगल

स्थानोंमें १, ३, ५ प्रकार हैं । मध्यके ३ स्थानोंके छह छह प्रकार हैं । सासादनादि देशसंयतपर्यंत आदिके और अन्तके २ युगल स्थानोंके क्रमसे १-२ प्रकार हैं, तथा मध्य स्थानके तीन तीन प्रकार हैं । इसके आगे प्रमत्तादि गुणस्थानोंके आस्रव स्थानोंका एक एक ही प्रकार है ॥ ७९३ ॥

आगे इन कहे हुये स्थानप्रकारोंको जाननेके लिये कूटप्रकार कहते हैं;—

भयदुगरहियं पढमं एक्कदरजुदं दुसहियमिदि तिण्णं ।
सामण्णा तियकूडा मिच्छा अणहीण तिण्णिवि य ॥ ७९४ ॥

भयद्विकरहितं प्रथममेकतरयुतं द्विसहितमिति त्रयः ।
सामान्यानि त्रीणि कूटानि मिथ्या अनहीनत्रीण्यपि च ॥ ७९४ ॥

अर्थ—भय-जुगुप्सा इन दोनों से रहित पहला कूट, भय जुगुप्सा इन दोनोंमेंसे कोई एक सहित दूसरा कूट, अथवा दोनों सहित तोसरा कूट, इसप्रकार ३ कूट तो सामान्य हैं । तथा अनंतानुबंधीका विसंयोजन करनेवाले मिथ्यादृष्टिके अनंतानुबंधी कषाय रहित ३ कूट अन्य भी जानने चाहिये । सासादन आदि गुणस्थानोंके तीन तीन आदि कूट किस किस तरह होते हैं सो बड़ी टीकासे जानना चाहिये ॥ ७९४ ॥

आगे ये जो स्थानप्रकार कहे गये हैं उनके बोलनेके विधानको बतानेके लिये कूटोच्चारण प्रकार कहते हैं;—

मिच्छत्ताणण्णदरं एक्केणक्खेण एक्ककायादी ।
तत्तो कसायवेददुजुगलाणेक्कं च जोगाणं ॥ ७९५ ॥

मिथ्यात्वानामन्यतरमेकेनाक्षेण एककायादि ।
ततः कषायवेदद्वियुगलानामेकं च योगानाम् ॥ ७९५ ॥

अर्थ—५ मिथ्यात्वोंमेंसे १ भेद ६ इन्द्रियोंमेसे १ भेद और इनके साथ कायमेंसे एक दो आदि कायको हिंसा इसके बाद कषायोंमेंसे १ कषाय वेदोंमेंसे १ वेद हास्यादि दो युगलोंमेंसे १ भेद, 'च'से भय जुगुप्सामेंसे १ या दो और योगोंमेंसे १ भेद कहना चाहिये । इसप्रकार कूटोच्चारणका विधान होता है । **भावार्थ**—जिस प्रकार प्रमाद भंग निकालनेके लिये पहले जीवकाण्डमें विकथा आदिका अक्षसंचार बताया है उसी प्रकार यहां भी आस्रवोंके भंग समझने और क्रमसे बोलनेके लिये पंच मिथ्यात्वादिका अक्षसंचार करना चाहिये । तथा उसमें हिंसादिके एकसंयोगी द्विसंयोगी आदिक भेद भी क्रमसे लगा लेने चाहिये ॥ ७९५ ॥

आगे इन भंगोंका प्रमाण लानेके लिये भंगोंके लानेका प्रकार कहते हैं;—

अणरहिदसहिदकूडे बावत्तरिसय सयाण तेणउदी ।
सट्ठी धुवा हु मिच्छे भयदुगसंजोगजा अधुवा ॥ ७९६ ॥

करनेसे तथा एक एक अधिक आगेकी संख्यासे भाग देनेपर जो लब्ध हो वह मिथ्यात्वादि चार गुणस्थानोंमें तथा देशसंयतमें प्रत्येक द्विसंयोगी आदि गुणाकार रूप भंग जानने चाहिये।

भावार्थ— यदि किसी विवक्षित राशिके द्विसंयोगी त्रिसंयोगी आदि भंग निकालने हों तो विवक्षित राशिप्रमाणसे लेकर एक एक कम करते करते एकके अंक तक अंक स्थापित करने चाहिये। और उसके नीचे दूसरी पक्तिमें एकसे लेकर विवक्षित राशि तक अंक लिखना चाहिये। पहली पंक्तिके अंकोंको अंश या भाज्य और दूसरीके अंकोंको हार या भागहार कहते हैं। यहां पर भिन्न गणितके अनुसार भंग निकालने चाहिये। इसलिये यहां क्रमसे पहले भाज्योंके साथ अगले भाज्योंका और पहले भागहारोंके साथ अगले भागहारोंका गुणा करना। उसके बाद भाज्योंके गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हुई उसमें भागहारोंके गुणा करनेसे उत्पन्न राशिका भाग देना चाहिये। इससे जो प्रमाण आवे उतने उतने ही विवक्षित स्थानके भंग समझने चाहिये। इस रीतिके अनुसार प्रकृतमें मिथ्यादृष्टि आदि ४ गुणस्थानोंमें कायबधका प्रमाण छह है। अतएव छह पांच चार तीन दो एक ये भाज्य अंक क्रमसे लिखना और उसके नीचे १-२-३-४-५-६ ये हार अंक क्रमसे लिखना। पहली भाज्यराशि छहमें पहली हारराशि एकका भाग देनेसे छह आते हैं, अतएव प्रत्येक भंगोंका प्रमाण छह होता है। पहली भाज्यराशि छहका अगली राशि पाँचसे गुणा करनेपर ३० होता है और पहली हारराशि एकका अगली राशि दोसे गुणा करनेपर हारराशि दो होती है। सो भाज्यराशि ३० में हारराशि २ का भाग देनेपर १५ आते हैं, यही द्विसंयोगी भंगोंका प्रमाण है। इसी तरह त्रिसंयोगी चतुःसंयोगी पंचसंयोगी और छहसंयोगी भंगोंका प्रमाण भी निकालना चाहिये। सब मिलकर ६३ भंग होते हैं। देशसंयत आदि में भी इसी रीतिसे निकाल लेने चाहिये। विवक्षित राशिप्रमाण दो के अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर और उसमें एक कम करनेसे जो राशि उत्पन्न हो वही सर्व भंगोंका प्रमाण होता है॥ ७९९॥

आगे प्रत्ययोंके उदयके कार्यभूत जीवके परिणामोंमें ज्ञानावरणादिकर्मबंधका कारणपना दिखलाते हैं;—

पडिणीगमंतराए उवघादो तप्पदोसणिण्हवणे।
आवरणदुगं भूयो बंधदि अच्चासणाएवि॥ ८००॥

प्रत्यनीकमन्तराय उपघातस्तत्प्रदोषनिन्हवने।
आवरणद्विकं भूयो बध्नाति अत्यासादनयापि॥ ८००॥

अर्थ—प्रत्यनीकसे अर्थात् शास्त्र वा शास्त्रके जाननेवाले पुरुषोंमें अविनयरूप प्रवृत्ति करनेसे ज्ञानमें विच्छेद करनेरूप अन्तरायसे, मन वचनकर प्रशंसायोग्य ज्ञानमें द्वेष रखनेरूप वा ज्ञानी जीवोंको भूख प्यास आदिकी बाधा करनेरूप उपघातसे, तत्त्वज्ञानमें हर्ष नहीं माननेरूप अथवा मोक्षसाधनभूत तत्त्वज्ञानका उपदेश होना अच्छा नहीं लगने या अन्तरंगमें उसके साथ द्वेष होनेरूप

भूदाणुकंपवदजोगजुंजिदो खंतिदाणगुरुभत्तो ।
बंधदि भूयो सादं विवरीयो बंधदे इदरं ॥ ८०१ ॥

भूतानुकम्पव्रतयोगयुक्तिः क्षान्तिदानगुरुभक्तः ।
बध्नाति भूयः सातं विपरीतो बध्नाति इतरत् ॥ ८०१ ॥

अर्थ—सब प्राणियोंपर दया करना, अहिंसादि व्रत और समाधि परिणामरूप योग इनकर जो सहित हो, तथा क्रोधके त्यागरूप क्षमा, आहारादि ४ प्रकारका दान, अरहंतादि पांच परमेष्ठी गुरुमें भक्तिकर जो सहित हो ऐसा जीव बहुधा करके प्रचुर अनुभागके साथ सातावेदनीयको बांधता है। इससे विपरीत अदया आदिका धारक जोव तीव्र स्थिति अनुभागसहित असाता वेदनीय कर्मका बंध करता है। साता वेदनीयके बंधमें स्थितिकी प्रचुरता न बतानेका कारण यह है कि स्थिति-बंधकी अधिकता विशुद्ध परिणामोंसे नहीं होती ॥ ८०१ ॥

आगे दर्शनमोहनीयके प्रत्यय (आस्रव) कहते हैं,—

अरहंतसिद्धचेदियतवसुदगुरुधम्मसंघपडिणीगो ।
बंधदि दंसणमोहं अणंतसंसारिओ जेण ॥ ८०२ ॥

अर्हत्सिद्धचैत्यतपःश्रुतगुरुधर्मसंघप्रत्यनीकः ।
बध्नाति दर्शनमोहमनन्तसांसारिको येन ॥ ८०२ ॥

अर्थ—जो जीव, अरहंत, सिद्ध, प्रतिमा, तपश्चरण, निर्दोष शास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरु, वीतराग-प्रणीत धर्म और मुनि आदिका समूहरूप संघ इनसे प्रतिकूल हो अर्थात् इनके स्वरूपसे विपरीतताका ग्रहण कर वह दर्शनमोहको बांधता है जिसके कि उदयसे वह अनंत संसारमें भटकता है ॥ ८०२ ॥

अब चारित्रमोहके बंधके कारण कहते हैं,—

तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणदो रागदोससंतत्तो ।
बंधदि चरित्तमोहं दुविहंपि चरित्तगुणघादी ॥ ८०३ ॥

तीव्रकषायो बहुमोहपरिणतो रागद्वेषसंतप्तः।
बध्नाति चारित्रमोहं द्विविधमपि चारित्रगुणघाती ॥ ८०३ ॥

अर्थ—जो जीव तीव्र कषाय और हास्यादि नोकषाय सहित हो, बहुत मोहरूप परिणमता हो, राग और द्वेषमें अत्यन्त लीन हो तथा चारित्रगुणके नाश करनेका जिसका स्वभाव हो ऐसा जीव कषाय और नोकषाय रूप दो प्रकारके चारित्रमोहनीयकर्मको बांधता है ॥ ८०३ ॥

आगे नरकायुके बंधके कारण दिखाते हैं;—

मिच्छो हु महारंभो णिस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो।
णिरयाउगं णिबंधइ पावमई रुद्दपरिणामी ॥ ८०४ ॥

मिथ्यो हि महारम्भो निःशीलः तीव्रलोभसंयुक्तः।
निरयायुष्कं निबध्नाति पापमतिः रुद्रपरिणामी ॥ ८०४ ॥

अर्थ—जो जीव मिथ्यादृष्टि हो, बहुत आरंभी हो, शील रहित हो, तीव्र लोभी हो, रौद्र परिणामी हो, पापकार्य करनेकी बुद्धिसहित हो वह जीव नरकायुको बांधता है ॥ ८०४ ॥

आगे तिर्यंच आयुके कारण कहते हैं;—

उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो गूढहियय माइल्लो।
सठसीलो य ससल्लो तिरियाउं बंधदे जीवो ॥ ८०५ ॥

उन्मार्गदेशको मार्गनाशको गूढहृदयो मायावी।
शठशीलश्च सशल्यः तिर्यगायुष्कं बध्नाति जीवः ॥ ८०५ ॥

अर्थ—जो जीव विपरीत मार्गका उपदेश करनेवाला हो, भले मार्गका नाशक हो, गूढ़ अर्थात् दूसरेको न मालूम होवे ऐसा जिसके हृदयका परिणाम हो, मायाचारी हो, मूर्खता सहित जिसका स्वभाव हो, मिथ्या आदि ३ शल्योंकर सहित हो, वह जीव तिर्यंच आयुको बांधता है ॥ ८०५ ॥

आगे मनुष्यायुके बंधके कारणोंको कहते हैं;—

पयडीए तणुकसाओ दाणरदो सीलसंजमविहीणो।
मज्झिमगुणेहिं जुत्तो मणुवाऊं बंधदे जीवो ॥ ८०६ ॥

प्रकृत्या तनुकषायो दानरतिः शीलसंयमविहीनः।
मध्यमगुणैः युक्तो मानवायुष्कं बध्नाति जीवः ॥ ८०६ ॥

अर्थ—जो जीव स्वभावसे ही मन्द क्रोधादिकषायवाला हो, दानमें प्रीतियुक्त हो, शील संयमकर रहित हो, मध्यमगुणोंकर सहित हो अर्थात् जिसमें न तो उत्कृष्ट गुण हों न दोष हों, वह जीव मनुष्यायुको बांधता है ॥ ८०६ ॥

अब देवायुके बंधके कारणोंको कहते हैं,—

अणुवदमहव्वदेहिं य बालतवाकामणिज्जराए य ।
देवाउगं णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो ॥ ८०७ ॥
अणुव्रतमहाव्रतैश्च बालतपोऽकामनिर्जरया च ।
देवायुष्कं निबध्नाति सम्यग्दृष्टिश्च यो जीवः ॥ ८०७ ॥

अर्थ—जो जीव सम्यग्दृष्टि है वह केवल सम्यक्त्वसे या साक्षात् अणुव्रत महाव्रतोंसे देवायुको बांधता है । तथा जो मिथ्यादृष्टि है वह अज्ञानरूप बालतपश्चरणसे वा बिना इच्छा बंधादिसे हुई अकामनिर्जरासे देवायुको बांधता है ॥ ८०७ ॥

आगे नामकर्मके कारण कहते हैं,—

मणवयणकायवक्को माइल्लो गारवेहिं पडिबद्धो ।
असुहं बंधदि णामं तप्पडिवक्खेहिं सुहणामं ॥ ८०८ ॥
मनोवचनकायवक्रो मायावी गारवैः प्रतिबद्धः ।
अशुभं बध्नाति नाम तत्प्रतिपक्षैः शुभनाम ॥ ८०८ ॥

अर्थ—जो जीव मन वचनकायसे कुटिल हो अर्थात् सरल न हो, कपट करनेवाला हो, अपनी प्रशंसा चाहनेवाला तथा करनेवाला हो अथवा ऋद्धिगारव आदि तीन प्रकारके गारवसे युक्त हो वह नरकगति आदि अशुभ नामकर्मको बांधता है । और जो इनसे विपरीत स्वभाववाला हो अर्थात् सरलयोगवाला निष्कपट प्रशंसा न चाहनेवाला हो वह शुभनामकर्मका बंध करता है ॥ ८०८ ॥

आगे गोत्रकर्मके बंधके कारणोंको कहते हैं,—

अरहंतादिसु भत्तो सुत्तरुची पढणुमाणगुणपेही ।
बंधदि उच्चागोदं विवरीओ बंधदे इदरं ॥ ८०९ ॥
अर्हदादिषु भक्तः सूत्ररुचिः पठनानुमननगुणदर्शी ।
बध्नाति उच्चगोत्रं विपरीतो बध्नातीतरत् ॥ ८०९ ॥

अर्थ—जो जीव अर्हंतादि पांच परमेष्ठियोंमें भक्तिवंत हो, वीतरागकथित शास्त्रमें प्रीति रखता हो, पढ़ना विचार करना इत्यादि गुणोंका दर्शक हो वह जीव ऊंच गोत्र का बंध करता है । और इनसे विपरीत चलनेवाला नीचगोत्रको बांधता है ॥ ८०९ ॥

आगे अंतरायकर्मके बंधके कारणोंको दिखलाते हैं,—

पाणवधादीसु रदो जिणपूजामोक्खमग्गविग्घयरो ।
अज्जेइ अंतरायं ण लहइ जं इच्छियं जेण ॥ ८१० ॥
प्राणवधादिषु रतो जिनपूजामोक्षमार्गविघ्नकरः ।
अर्जयति अन्तरायं न लभते यदीप्सितं येन ॥ ८१० ॥

अर्थ—जो जीव अपने वा परके प्राणोंकी हिंसा करनेमें लीन हो और जिनेश्वर की पूजा तथा रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप मोक्षमार्गमें विघ्न डाले वह अन्तरायकर्मका उपार्जन करता है जिसके कि उदयसे वह वांछित वस्तुको नहीं पा सकता ॥ ८१० ॥

इति श्री नेमिचन्द्राचार्य विरचित पंचसंग्रह द्वितीय नामवाले गोम्मटसार ग्रन्थके कर्मकांडमें प्रत्ययनिरूपण नाम का छठा अधिकार समाप्त हुआ ॥ ६ ॥
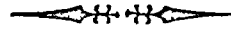
दोहा ।

करि अभाव भमभाव सब, सहज भाव निज पाय ।
जय अपुनर्भवभावमय, भये परम शिवराय ॥१॥

आगे भावचूलिका नामा अधिकारके कहनेकी नमस्कारात्मक मङ्गलाचरणपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं,—

गोम्मटजिणिंदचंदं पणमिय गोम्मटपयत्थसंजुत्तं ।
गोम्मटसंगहविसयं भावगयं चूलियं वोच्छं ॥ ८११ ॥

गोम्मटजिनेन्द्रचन्द्रं प्रणम्य गोम्मटपदार्थसंयुक्तम् ।
गोम्मटसंग्रहविषयं भावगतां चूलिकां वक्ष्ये ॥ ८११ ॥

अर्थ—मैं नेमिचन्द्र आचार्य, नेमिनाथस्वामीरूप चन्द्रमाको नमस्कार करके समीचीन पद और अर्थकर सहित अथवा उत्तम पदार्थोंके वर्णन सहित ऐसे गोम्मटसार ग्रन्थमें प्राप्त भावोंके अधिकारको कहता हूं ॥ ८११ ॥

जेहिं दु लक्खिज्जंते उवसमआदीसु जणिदभावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥ ८१२ ॥

यैस्तु लक्ष्यन्ते उपशमादिषु जनितभावैः ।
जीवास्ते गुणसंज्ञा निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥ ८१२ ॥

अर्थ—अपने प्रतिपक्षी कर्मोंके उपशमादिकके होने पर उत्पन्न हुए ऐसे जिन औपशमिकादि भावोंकर जीव पहचाने जावें वे भाव 'गुण' ऐसी संज्ञारूप सर्वदर्शियोंने कहे हैं ॥ ८१२ ॥

अब उन भावोंके नाम भेदसहित कहते हैं,—

उवसम खइओ मिस्सो ओदयियो पारिणामियो भावो ।
भेदा दुग णव तत्तो दुगुणिगिवीसं तियं कमसो ॥ ८१३ ॥

औपशमिकः क्षायिको मिश्र औदयिकः पारिणामिको भावः ।
भेदा द्विकं नव ततो द्विगुणमेकविंशतिः त्रयः क्रमशः ॥ ८१३ ॥

अर्थ—ये भाव औपशमिक १ क्षायिक २ मिश्र ३ औदयिक ४ पारिणामिक ५ इस तरह पांच प्रकार हैं। और उनके भेद क्रमसे २, ९, १८, २१, ३ इस तरह जानने चाहिये ॥ ८१३ ॥

अब इन भावोंकी उत्पत्तिका प्रकार कहते हैं.—

कम्मुवसमम्मि उवसमभावो खीणम्मि खइयभावो दु।
उदयो जीवस्स गुणो खओवसमिओ हवे भावो ॥ ८१४ ॥
कम्मुदयजकम्मिगुणो ओदयियो तत्थ होदि भावो दु।
कारणणिरवेक्खभवो सभावियो होदि परिणामो ॥ ८१५ ॥ जुम्मं।

कर्मोपशमे उपशमभावः क्षीणे क्षायिकभावस्तु।
उदयो जीवस्य गुणः क्षायोपशमिको भवेत् भावः ॥ ८१४ ॥
कर्मोदयजकर्मिगुण औदयिकस्तत्र भवति भावस्तु।
कारणनिरपेक्षभवः स्वाभाविको भवति परिणामः ॥ ८१५ ॥ युग्मम्।

अर्थ—प्रतिपक्षी कर्मके उपशम होनेसे 'औपशमिकभाव' होता है, उन कर्मोंके बिलकुल क्षय होनेसे क्षायिकभाव होता है, और उन प्रतिपक्षी कर्मोंका उदयभी हो परन्तु जीवका गुण भी प्रगट रहे वहां मिश्ररूप क्षायोपशमिकभाव होता है। कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ संसारी जीवका गुण जहां हो वह औदयिक भाव है, और उपशमादि कारणके विना जीवका जो स्वाभाविक भाव है वह पारिणामिक भाव है ॥ ८१४। ८१५ ॥

आगे इन भावोंके भेदरूप उत्तरभावोंको कहते हैं,—

उवसमभावो उवसमसम्मं चरणं च तारिसं खइओ।
खाइय णाणं दंसण सम्म चरित्तं च दाणादी ॥ ८१६ ॥

उपशमभाव उपशमसम्यक्त्वं चरणं च तादृशः क्षायिकः।
क्षायिकं ज्ञानं दर्शनं सम्यक्त्वं चारित्रं च दानादयः ॥ ८१६ ॥

अर्थ—औपशमिक भाव है वह उपशमसम्यक्त्व और उपशमचारित्रके भेदसे दो तरहका है। उसीप्रकार क्षायिकभाव क्षायिकज्ञान १ दर्शन २ सम्यक्त्व ३ चारित्र ४ दान ५ लाभ ६ भोग ७ उपभोग ८ वीर्य ९ ऐसे नौ प्रकारका है ॥ ८१६ ॥

खाओवसमियभावो चउणाण तिदंसण तिअण्णाणं।
दाणादिपंच वेदगसरागचारित्तदेसजमं ॥ ८१७ ॥

क्षायोपशमिकभावः चतुर्ज्ञानं त्रिदर्शनं त्र्यज्ञानम्।
दानादिपञ्च वेदकसरागचारित्रदेशयमम् ॥ ८१७ ॥

अर्थ—क्षायोपशमिकभाव, मतिज्ञानादि ४ ज्ञान, चक्षुरादि ३ दर्शन, कुमति आदि ३

आगे मूलभावोंकी संख्या और स्वपरके संयोगरूप भावोंकी संख्याको कहते हैं;—

मिच्छतिये तिचउक्के दोसुवि सिद्धेवि मूलभावा हु ।
तिग पण पणगं चउरो तिग दोण्णि य संभवा होंति ॥ ८२१ ॥

मिथ्यत्रये त्रिचतुष्के द्वयोरपि सिद्धेपि मूलभावा हि ।
त्रिकं पञ्च पञ्चकं चत्वारः त्रिकं द्वौ च संभवा भवन्ति ॥ ८२१ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानोंमें, असंयतादि चार गुणस्थानोंमें, उपशमश्रेणीके ४ गुणस्थानोंमें, क्षपकश्रेणीके चारों गुणस्थानोंमें—इसतरह तीन चौकड़ोंमें तथा सयोगी अयोगी इन दोनोंमें और सिद्धजीवोंमें संभव होनेवाले मूलभाव क्रमसे ३, ५, ५, ४, ३, २ जानने चाहिये ॥८२१॥

तत्थेव मूलभंगा दसछव्वीसं कमेण पणतीसं ।
उगुवीसं दस पणगं ठाणं पडि उत्तरं वोच्छं ॥ ८२२ ॥

तत्रैव मूलभङ्गा दश षड्विंशं क्रमेण पञ्चत्रिंशत् ।
एकोनविंशं दश पञ्चकं स्थानं प्रति उत्तरं वक्ष्यामि ॥ ८२२ ॥

अर्थ—इन्हीं पूर्वकथित छह भेदोंमें क्रमसे मूलभंग १०, २६, ३५, १९, १०, ५ होते हैं। इसके बाद गुणस्थानोंके प्रति उत्तरभावोंको कहूँगा ॥ ८२२ ॥

उत्तरभावोंके भेद सामान्यपनेसे गुणस्थानोंमें कहते हैं–मिथ्यादृष्टिमें औदयिकके २१, ३ अज्ञान २ दर्शन ५ लब्धि इसप्रकार क्षायोपशमिकके १०, पारिणामिकके ३ भेद–इसतरह ३४ भाव हैं। सासादनमें मिथ्यात्वके औदयिकके २०, क्षायोपशमिकके १०, जीवत्व-भव्यत्व इसतरह पारिणामिकके २ भेद सब ३२ भेद हैं। मिश्रगुणस्थानमें औदयिकके २०, मिश्ररूप ३ ज्ञान ३ दर्शन ५ लब्धिरूप क्षायोपशमिकके ११ भेद, भव्यत्व-जीवत्व ऐसे पारिणामिकके २ भेद—सब मिलकर ३३ भेद हैं। असंयत गुणस्थानमें औदयिकके २०, ३ ज्ञान ३ दर्शन ५ लब्धि १ सम्यक्त्व ऐसे क्षायोपशमिकके १२, उपशमसम्यक्त्व १, क्षायिकसम्यक्त्व १, जीवत्व-भव्यत्व ऐसे पारिणामिकभावके २ भेद इसतरह सब ३६ भेद हैं। देशसंयतमें मनुष्यगति-तिर्यंचगति ४ कषाय ३ लिंग ३ शुभलेश्या १ असिद्धत्व १ अज्ञान ऐसे औदयिकके १४ भेद, ३ ज्ञान ३ दर्शन ५ लब्धि १ सम्यक्त्व १ देशचारित्र ऐसे क्षायोपशमिकके १३, उपशमसम्यक्त्व, क्षायिकसम्यक्त्व, जीवत्व-भव्यत्व ऐसे पारिणामिकके दो भेद—इसतरह सब ३१ भेद हैं। इनमें तिर्यंचगति और देशचारित्र कम करके तथा मनःपर्ययज्ञान-सरागचारित्र ये दो भेद मिलानेसे ३१—३१ भेद प्रमत्त और अप्रमत्तमें होते हैं। इन भेदोंमें पीतलेश्या-पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकचारित्र घटाके उपशम चारित्र-क्षायिक चारित्र मिलानेसे २९-२९ भाव अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमें हैं। इन भेदोंमेंसे लोभके विना ३ कषाय और ३ लिंग घटानेसे सूक्ष्मसांपरायमें २३ भाव हैं। इनमें भी लोभकषाय १ और क्षायिक चारित्र १ कम करनेसे [illegible]तकषायमें २१ भेद हैं। इनमें औपशमिकके २ दो भेद घटाकर क्षायिकचारित्र मिलानेसे

क्षीणकषायमें २० भेद हैं । मनुष्यगति-शुक्ललेश्या-असिद्धत्व ऐसे औदयिकके ३ भेद, क्षायिकके ९, पारिणामिकके जीवत्व-भव्यत्व ऐसे दो भेद, इसतरह सयोगी गुणस्थानमें १४ भाव हैं। इन भेदोंमेंसे शुक्ललेश्या घटानेपर अयोगीके १३ भाव हैं । तथा सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन वीर्य ऐसे क्षायिकके ४ भेद जीवत्व पारिणामिकभाव-इस तरह सिद्धजीवोंके ५ भाव हैं । इसप्रकार नाना जीवोंकी अपेक्षा से ५३ भाव कहे गये हैं ।

अब उत्तरभावोंके भेद दूसरे प्रकारसे कहते हैं;—

उत्तरभंगा दुविहा ठाणगया पदगयात्ति पढमम्मि ।
सगजोगेण य भंगाणयणं णत्थित्ति णिद्दिट्ठं ॥ ८२३ ॥

उत्तरभङ्गा द्विविधाः स्थानगताः पदगता इति प्रथमे ।
स्वकयोगेन च भङ्गानयनं नास्तीति निर्दिष्टम् ॥ ८२३ ॥

अर्थ—उत्तरभावोंके भंग दो प्रकार हैं-स्थानगत और पदगत । पहले स्थानगत भंगमें स्वसंयोगीभंग नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि एक ही समय एक स्थानमें दूसरा कोई स्थानका होना संभव नहीं है, ऐसा कहा है ।

भावार्थ—एक जीवके एककालमें जितने जितने भाव पाये जावें उनके समूहका नाम स्थान है; उसकी अपेक्षाकर जो भंग करना वे **स्थानगत** भंग हैं । तथा एक जीवके एकही कालमें जो जो भाव पाये जावें उनकी एक जातिका वा जुदे जुदे का नाम पद है; उसकी अपेक्षा जो भंग करना उनको **पदगत** भंग कहते हैं ॥ ८२३ ॥

मिच्छदुगे मिस्सतिये पमत्तसत्ते य मिस्सठाणाणि ।
तिग दुग चउरो एक्कं ठाणं सव्वत्थ ओदयियं ॥ ८२४ ॥

मिथ्यद्विके मिश्रत्रये प्रमत्तसप्तके च मिश्रस्थानानि ।
त्रिकं द्विकं चत्वारि एकं स्थानं सर्वत्र औदयिकम् ॥ ८२४ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि दो गुणस्थानोंमें, मिश्रादि तीनमें, और प्रमत्त आदि सात गुणस्थानोंमें क्रमसे क्षायोपशमिक भावके स्थान ३, २, ४ जानने । तथा औदयिक भावका स्थान सब गुणस्थानोंमें एक एक ही है ॥ ८२४ ॥

तत्थावरणजभावा पणछस्सत्तेव दाणपंचेव ।
अयदचउक्के वेदगसम्मं देसम्मि देसजमं ॥ ८२५ ॥

तत्रावरणजभावा पञ्चषट्सप्तैव दानपञ्चैव ।
अयतचतुष्के वेदकसम्यं देशे देशयमम् ॥ ८२५ ॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त मिथ्याद्विक आदि तीनोंमें ज्ञानावरण दर्शनावरणके निमित्तसे उत्पन्न

अवधिदुगेण विहीणं मिस्सतिए होदि अण्णठाणं तु ।
मणणाणेणवधिदुगेणुभयेणूणं तदो अण्णे ॥ ८२७ ॥

अवधिद्विकेन विहीनं मिश्रत्रये भवति अन्यतस्थानं तु ।
मनोज्ञानेनावधिद्विकेनोभयेनोनं ततः अन्यानि ॥ ८२७ ॥

अर्थ—मिश्रादि तीन गुणस्थानोंमें एक तो अपना अपना उत्कृष्ट स्थान, और अवधिज्ञान अवधिदर्शन इन दोनोंसे रहित मिश्रमें ९ का स्थान, असंयतमें १० का, देशसंयतमें ११ का, इसतरह दो दो स्थान हैं। प्रमत्तादि सात में एक एक तो अपना अपना उत्कृष्ट स्थान तथा एक एक मनःपर्ययज्ञान रहित, एक एक अवधिज्ञान अवधिदर्शनरहित, और एक एक स्थान अवधिज्ञान-अवधिदर्शन-मनःपर्ययज्ञानरहित-इसप्रकार प्रमत्त अप्रमत्तमें १३-१२-११ के तीन तीन स्थान, अपूर्वकरणादि पांचमें ११--१०-९ के तीन तीन स्थान, ऐसे चार चार स्थान जानने चाहिये ॥ ८२७ ॥

आगे औदयिकके स्थानोंमें भावोंके बदलनेसे जो भंग होते हैं उनको गुणस्थानोंमें कहते हैं;—

लिंगकसाया लेस्सा संगुणिदा चदुगदीसु अविरुद्धा ।
वारस बावत्तरियं तत्तियमेत्तं च अडदालं ॥ ८२८ ॥

परिणामो दुट्ठाणो मिच्छे सेसेसु एगठाणो दु ।
सम्मे अण्णं सम्मं चारित्ते णत्थि चारित्तं ॥ ८३२ ॥

परिणामो द्विस्थानो मिथ्ये शेषेषु एकस्थानस्तु ।
सम्ये अन्यत्सम्यं चारित्रे नास्ति चारित्रम् ॥ ८३२ ॥

अर्थ—पारिणामिक भावके मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें दो स्थान हैं; जीवत्व भव्यत्व, जीवत्व अभव्यत्व । शेष द्वितीयादि गुणस्थानोंमें १ ही स्थान है–जीवत्व भव्यत्व । तथा गुणस्थानोंमें प्रत्येक द्विसंयोगी आदि भेद बतानेके लिये विशेष बात कहते हैं कि सम्यक्त्वसहित स्थानमें दूसरा सम्यक्त्व नहीं होता और चारित्रसहित स्थानमें दूसरा चारित्र नहीं होता ॥ ८३२ ॥

मिच्छदुगयदचउक्के अट्ठट्ठाणेण खयियठाणेण ।
जुद परजोगजभंगा पुध आणिय मेलिदव्वा हु ॥ ८३३ ॥

मिथ्यद्विकायतचतुष्के अष्टस्थानेन क्षायिकस्थानेन ।
युतं परयोगजभङ्गा पृथगानीय मेलयितव्या हि ॥ ८३३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि दो गुणस्थानोंमें क्षायोपशमिकके ८ के स्थानमें पूर्वकथित औदयिक भंगोंकर सहित, तथा असंयतादि चार गुणस्थानोंमें क्षायिक सम्यक्त्वके स्थानमें पूर्वकथित औदयिक भंगोंकर सहित परसंयोगसे उत्पन्न हुये भंगोंको अलग अलग लेकर अपनी अपनी राशिमें मिलाना चाहिये ॥ ८३३ ॥

अब पूर्वोक्त गुण्योंके गुणाकार और क्षेप प्रगट करते हैं,—

उदयेगक्खे चढिदे गुणगारा एव होंति सव्वत्थ ।
अवसेसभावठाणेणक्खे संचारिदे खेवा ॥ ८३४ ॥

उदयेनाक्षे चटिते गुणकारा एव भवन्ति सर्वत्र ।
अवशेषभावस्थानेनाक्षे संचारिते क्षेपाः ॥ ८३४ ॥

अर्थ—औदयिक भावके स्थानकर अक्षका (भेदोंका) संचार विधानकर (बदलनेसे) सब जगह जो भंग हों वे भंग गुणकार जानने । और शेष भावोंके स्थानमें अक्षसंचारकर जो भंग हों वे क्षेप जानने ।

भावार्थ—जिसके साथ गुणा जाय उसको गुणकार और जिसको मिलाया जावे उसे क्षेप कहते हैं ॥ ८३४ ॥

आगे पूर्वोक्त गुण्यादिकोंको दिखलाते हैं,—

दुसु दुसु देसे दोसुवि चउरुत्तर दुसदगसिदिसहिदसदं ।
बावत्तरि छत्तीसा बारमपुव्वे गुणिज्जपमा ॥ ८३५ ॥

बारचउतिदुगमेक्कं थूले तो इगि हवे अजोगित्ति ।
पुण बार बार सुण्णं चउसद छत्तीस देसोत्ति ॥ ८३६ ॥ जुम्मं ।

द्वयोः द्वयोः देशे द्वयोरपि चतुरुत्तरद्विशतक्रमशीतिसहितशतम् ।
द्वासप्ततिः षट्त्रिंशत् द्वादश अपूर्वे गुण्यप्रमा ॥ ८३५ ॥
द्वादशचतुस्त्रिद्विकैकं स्थूले अतः एको भवेत् अयोगीति ।
पुनः द्वादश द्वादश शून्यं चतुःशतं षट्त्रिंशत् देश इति ॥ ८३६ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—औदयिक भावके गुण्यरूप प्रत्येक भंग मिथ्यादृष्टि आदिक दो गुणस्थानोंमें २०४ हैं, मिश्रादि दो गुणस्थानोंमें १८० हैं, देशसंयतमें ७२ हैं, प्रमत्तादि दो गुणस्थानोंमें ३६ हैं, अपूर्वकरणमें १२ हैं, अनिवृत्तिकरणके पांच भागोंमें क्रमसे १२-४-३-२-१ हैं, इसके बाद अयोगीपर्यंत एक एक है । फिर मिथ्यादृष्टि आदि देशसंयतपर्यंत चक्षुदर्शनरहित या क्षायिक सम्यक्त्वोकी अपेक्षा क्रमसे १२, १२, शून्य, १०४, और ३६ गुण्यरूप भंग हैं ॥ ८३५ । ८३६ ॥

वामे दुसु दुसु दुसु तिसु खीणे दोसुवि कमेण गुणगारा ।
णव छब्बारस तीसं वीसं वीसं चउक्कं च ॥ ८३७ ॥

वामे द्वयोः द्वयोः द्वयोः त्रिषु क्षीणे द्वयोरपि क्रमेण गुणकाराः ।
नव षट् द्वादश त्रिंशं विंशं विंशं चतुष्कं च ॥ ८३७ ॥

अर्थ—जिनसे गुणा किया जावे ऐसे गुणकार क्रमसे मिथ्यादृष्टिमें ९, सासादनादि दो में ६, असंयतादि २ में १२, प्रमत्तादि दो में ३०, अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानोंमें २०, क्षीणकषायमें २०, सयोगी अयोगीमें ४ हैं ॥ ८३७ ॥

पुणरवि देसोत्ति गुणो तिदुणभछछक्कयं पुणो खेवा ।
पुव्वपदे अड पंचयमेगारमुगुतीसमुगुवीसं ॥ ८३८ ॥

पुनरपि देश इति गुणः त्रिद्विनभःषट्षट्कं पुनः क्षेपाः ।
पूर्वपदे अष्ट पञ्चकमेकादश एकोनत्रिंशमेकोनविंशम् ॥ ८३८ ॥

अर्थ—फिरभी उनमें चक्षुदर्शनरहित वा क्षायिकसम्यक्त्वकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि से लेकर देशसंयततक गुणकार क्रमसे ३, २, शून्य, ६, ६ जानना । और 'क्षेप' पूर्वोक्त स्थानोंमेंसे मिथ्यादृष्टि में ८, सासादनादि दो गुणस्थानोंमें ५, असंयतादि दो में ११, प्रमत्तादि दो में २९ अपूर्वकरणादि तीनमें १९ हैं ॥ ८३८ ॥

उगुवीस तियं तत्तो तिदुणभछछक्कयं च देसोत्ति ।
चउसुवसमगेसु गुणा तालं रूऊणया खेवा ॥ ८३९ ॥

एकोनविंशं त्रयः ततः त्रिद्विनभःषट्षट्कं च देश इति ।
चतुर्षूपशामकेषु गुणाः चत्वारिंशत् रूपोनाः क्षेपाः ॥ ८३९ ॥

आगे पदभंगोंकोंको कहते हैं;—

दुविहा पुण पदभंगा जादिगपदसव्वपदभवात्ति हवे ।
जातिपदखइगमिस्से पिंडेव य होदि सगजोगो ॥ ८४४ ॥

द्विविधाः पुनः पदभङ्गा जातिगपदसर्वपदभवा इति भवेत् ।
जातिपदक्षायिकमिश्रे पिण्डे एव च भवति स्वकयोगः ॥ ८४४ ॥

अर्थ—पदभंग दो तरहके होते हैं, एक तो जातिपदभंग दूसरे सर्वपदभंग । जहां एक जातिका ग्रहण किया जाय वहां जातिपदभंग समझना चाहिये, जैसे क्षायोपशमिक ज्ञानके चार भेद होनेपर भी एक ज्ञानजातिका ग्रहण करना । जहां अलग अलग सम्पूर्ण भावोंका ग्रहण किया जाय उनको सर्वपदभंग समझना चाहिये । इनमेंसे जातिपदरूप जो क्षायिक भाव और मिश्रभाव इनके पिंडपदस्वरूप भावोंमें स्वसंयोगी भी भंग पाये जाते हैं । क्षायिकमें लब्धि और क्षायोपशमिकमें ज्ञान अज्ञान दर्शन लब्धि ये पिंडपदरूप हैं, क्योंकि ये अनेक भेदरूप हैं । अतएव इनमें स्वसंयोगी भंग भी होते हैं ॥ ८४४ ॥

अयदुवसमगचउक्के एक्कं दो उवसमस्स जादिपदो ।
खइगपदं तत्थेक्कं खवगे जिणसिद्धगेसु दु पण चदू ॥ ८४५ ॥

अयतौपशमिकचतुष्के एकं द्वे उपशमस्य जातिपदम् ।
क्षायिकपदं तत्रैकं क्षपके जिनसिद्धकेषु द्वे पञ्च चत्वारि ॥ ८४५ ॥

अर्थ—औपशमिक भावके जातिपद असंयतादि चार गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वरूप एक ही है, उपशमश्रेणीके चार गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व और चारित्र इसतरह दो जातिपद हैं । क्षायिकभावके जातिपद असंयतादि चारमें क्षायिकसम्यक्त्वरूप एक ही है, क्षपकश्रेणीके चार गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व चारित्र ऐसे दो जातिपद हैं, सयोगी अयोगी केवलीके सम्यक्त्व १ ज्ञान २ दर्शन ३ चारित्र ४ लब्धि ५– इसतरह ५ जातिपद हैं, सिद्धोंमें चारित्रके विना ४ जातिपद होते हैं ॥ ८४५ ॥

मिच्छतिये मिस्सपदा तिण्णि य अयदम्मि होंति चत्तारि ।
देसतिये पंचपदा तत्तो खीणोत्ति तिण्णिपदा ॥ ८४६ ॥

मिथ्यत्रये मिश्रपदानि त्रीणि च अयते भवन्ति चत्वारि ।
देशत्रये पञ्चपदानि ततः क्षीण इति त्रिपदानि ॥ ८४६ ॥

अर्थ—मिश्रभावके जातिपद मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानोंमें तीन तीन हैं, असंयत गुणस्थानमें चारित्रके विना ४ हैं, देशसंयतादि तीन गुणस्थानोंमें ५ पद हैं, उसके बाद क्षीणकषायपर्यंत ज्ञान १ दर्शन २ लब्धि ३ इसतरह तीन पद हैं ॥ ८४६ ॥

मिच्छे अट्ठुदयपदा ते तिसु सत्तेव तो सवेदोत्ति ।
छिस्सुहुमोत्ति य पणगं खीणात्ति जिणेसु चदुतिदुगं ॥ ८४७ ॥

मिथ्ये अष्टोदयपदानि तानि त्रिषु सप्तैवातः सवेद इति ।
षट् सूक्ष्म इति च पञ्चकं क्षीण इति जिनेषु चतुस्त्रिद्विकम् ॥ ८४७ ॥

अर्थ—औदयिकभावके जातिपद मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ८, सासादनादि तीन गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वके विना ७, इसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके सवेदभागपर्यंत असंयमके विना ६, इससे आगे सूक्ष्मसांपरायपर्यंत वेद विना ५, इसके बाद क्षीणकषायपर्यंत कषायके विना ४, सयोगीके अज्ञान विना ३, अयोगीमें लेश्या विना गति और असिद्ध ये दो हैं ॥ ८४७ ॥

मिच्छे परिणामपदा दोण्णि य सेसेसु होदि एक्कं तु ।
जातिपदं पडि वोच्छं मिच्छादिसु भंगपिंडं तु ॥ ८४८ ॥
मिथ्ये परिणामपदे द्वे च शेषेषु भवति एकं तु ।
जातिपदं प्रति वक्ष्यामि मिथ्यदिषि भङ्गपिण्डं तु ॥ ८४८ ॥

अर्थ—पारिणामिकभावके जातिपद मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जीवत्व भव्यत्व वा जीवत्व अभव्यत्व ऐसे दो हैं। शेष गुणस्थानोंमें भव्यत्व-जीवत्वरूप एक ही है। तथा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें अब जातिपदकी अपेक्षा भंगोंके समुदायको कहता हूं। सो बड़ो टोकामें गुण्य गुणकार और क्षेपकी अपेक्षा इनका वर्णन किया है वहां देखना चाहिये ॥ ८४८ ॥

आगे गुण्यादिकोंकी संख्या कहते हैं;—

अट्ठ गुणिज्जा वामे तिसु सग छच्चउसु छक्क पणगं च ।
थूले सुहुमे पणगं दुसु चउतियदुगमदो सुण्णं ॥ ८४९ ॥
अष्ट गुण्यानि वामे त्रिषु सप्त षट् चतुर्षु षट्कं पञ्चकं च ।
स्थूले सूक्ष्मे पञ्चकं द्वयोः चतुस्त्रिकद्विकमतः शून्यम् ॥ ८४९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें गुण्य ८, सासादनादि तीनमें ७, देशसंयतादि ३ और क्षपकश्रेणी-उपशमश्रेणीका अपूर्वकरण इसतरह चार गुणस्थानोंमें ६, अनिवृत्तिकरणमें ६ वा ५, सूक्ष्मसांपरायमें ५, उपशांत कषायादि दोमें ४, सयोगीमें ३, अयोगीमें २ गुण्य हैं। इसके बाद सिद्ध भगवानके शून्य जानने चाहिये ॥ ८४९ ॥

बारट्ठट्ठछवीसं तिसु तिसु बत्तीसयं च चउवीसं ।
तो तालं चउवीसं गुणगारा बार बार णभं ॥ ८५० ॥
द्वादशाष्टाष्टषड्विंशं त्रिषु त्रिषु द्वात्रिंशत्कं च चतुर्विंशम् ।
अतः चत्वारिंशत् चतुर्विंशं गुणकारा द्वादश द्वादश नभः ॥ ८५० ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिमें गुणकार १२ सासादनमें ८ मिश्रमें ८ असंयतमें २६ देशसंयतादि तीनमें ३२ क्षपक अपूर्वकरणादि तीनमें २४ उपशमक अपूर्वकरणादि चारमें ४० क्षीणकषायमें २४ सयोगीमें १२ और अयोगीमें १२ हैं। इसके बाद सिद्ध भगवान्के शून्य अर्थात् कोई गुणकार नहीं हैं ॥ ८५० ॥

वामे चउदस दुसु दस अडवीसं तिसु हवंति चोत्तीसं।
तिसु छव्वीस दुदालं खेवा छव्वीस बार बार णवं ॥ ८५१ ॥
वामे चतुर्दश द्वयोः दश अष्टविंशं त्रिषु भवन्ति चतुस्त्रिंशत्।
त्रिषु षड्विंशं द्विचत्वारिंशत् क्षेपाः षड्विंशं द्वादश द्वादश नव ॥ ८५१ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें क्षेपसंख्यारूप पद १४, सासादनादि दोमें १०, असंयतमें २८, देशसंयतादि तीनमें ३४, क्षपक अपूर्वकरणादि तीनमें २६, उपशमक अपूर्वकरणादि चारमें ४२, क्षीणकषायमें २६, सयोगीके १२; तथा अयोगीके भी १२ हैं और सिद्धके क्षेपपद ९ जानने चाहिये ॥ ८५१ ॥

अब गुण्यका गुणाकारके साथ गुणा करने से तथा क्षेपोंके मिलानेसे भंगोंकी संख्या कितनी हुई सो दिखलाते हैं;—

एक्कारं दसगुणियं दुसु छावट्ठी दसाहियं विसयं।
तिसु छव्वीसं बिसयं वेदुवसामोत्ति दुसय बासीदी ॥ ८५२ ॥
बादालं वेण्णिसया तत्तो सुहुमोत्ति दुसय दोसहियं।
उवसंतम्मि य भंगा खवगेसु जहाकमं वोच्छं ॥ ८५३ ॥ जुम्मं।
एकादश दशगुणितं द्वयोः षट्षष्टिः दशाधिकं द्विशतम्।
त्रिषु षड्विंशं द्विशतं वेदोपशम इति द्विशतं द्व्यशीतिः ॥ ८५२ ॥
द्वाचत्वारिंशद्द्विशतं ततः सूक्ष्म इति द्विशतं द्विसहितम्।
उपशान्ते च भङ्गाः क्षपकेषु यथाक्रमं वक्ष्यामि ॥ ८५३ ॥ युग्मम्।

अर्थ—मिथ्यादृष्टिमें ११० भंग हैं, सासादनादि दो गुणस्थानोंमें ६६ भंग हैं, असंयतमें २१० देशसंयतादि तीनमें २२६, उपशमक अपूर्वकरणादि अनिवृत्तिकरणके सवेद भागतक २८२ भंग हैं। इससे आगे उपशमक वेदरहित अनिवृत्तिकरणसे सूक्ष्मसांपराय तक २४२ हैं, उपशांतकषायमें २०२ भंग हैं। अब क्षपकमें यथाक्रमसे कहता हूं ॥ ८५२। ८५३ ॥

सत्तरसं दसगुणिदं वेदित्ति सयाहियं तु छादालं।
सुहुमोत्ति खीणमोहे बावीससयं हवे भंगा ॥ ८५४ ॥
अडदालं छत्तीसं जिणेसु सिद्धेसु होंति णव भंगा।
एत्तो सव्वपदं पडि मिच्छादिसु सुणह वोच्छामि ॥ ८५५ ॥ जुम्मं।
सप्तदश दशगुणितं वेद इति शताधिकं तु षट्चत्वारिंशत्।
सूक्ष्म इति क्षीणमोहे द्वाविंशशतं भवेयुः भङ्गाः ॥ ८५४ ॥

अष्टचत्वारिंशत् षट्त्रिंशत् जिनेषु सिद्धेषु भवन्ति नव भङ्गाः ।
एतस्मात्सर्वपदं प्रति मिथ्यादिषु शृणुत वक्ष्यामि ॥ ८५५ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—अपूर्वकरणसे सवेद अनिवृत्तिकरणतक १७०, वेदरहित अनिवृत्तिकरणसे सूक्ष्मसांपरायतक १४६, क्षीणकषायमें १०२ भंग होते हैं । सयोगीके ४८, अयोगीके ३६, और सिद्धोंके ९ भंग होते हैं । इससे आगे अब मैं सर्वपदोंकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदिमें भंग कहता हूं सो हे भव्यो ! तुम सुनो । सर्वपद दो प्रकार है, पिंडपद १ प्रत्येक पद २ ॥ ८५४ । ८५५ ॥

अब उन दो भेदोंमेंसे पिंडपदोंको दिखलाते हैं;—

भव्विदराणण्णदरं गदीण लिंगाण कोहपहुदीणं ।
इगिसमये लेस्साणं सम्मत्ताणं च णियमेण ॥ ८५६ ॥
भव्येतरयोरन्यतरत् गतीनां लिङ्गानां क्रोधप्रभृतीनाम् ।
एकसमये लेश्यानां सम्यक्त्वानां च नियमेन ॥ ८५६ ॥

अर्थ—एक समयमें एकजीवके भव्यत्व अभव्यत्व इन दोनोंमेंसे एक ही नियमसे होता है । गति—लिंग—क्रोधादिकषाय—लेश्या—सम्यक्त्व इनमें भी अपने अपने भेदोंमेंसे एक एक ही एक समयमें संभव होता है, इसकारण ये पिंडपद हैं । क्योंकि एक कालमें एक जीवके जिस संभवते भावसमूहमेंसे एक एक ही पाया जावे उस भावको पिंडपद कहते हैं ॥ ८५६ ॥

पत्तेयपदा मिच्छे पण्णरसा पंच चेव उवजोगा ।
दाणादी ओदयिये चत्तारि य जीवभावो य ॥ ८५७ ॥
प्रत्येकपदानि मिथ्ये पञ्चदश पञ्च चैव उपयोगाः ।
दानादयः औदयिके चत्वारि च जीवभावश्च ॥ ८५७ ॥

अर्थ—एक समयमें जो पाये जावें ऐसे प्रत्येक पद, मिथ्यादृष्टिमें ५ उपयोग, दानादिक पांच क्षयोपशमलब्धियां और औदयिक भावोंके मिथ्यात्वादि ४ और १ जीवत्वरूप पारिणामिकभाव—इस तरह कुल १५ हैं ॥ ८५७ ॥

पिंडपदा पंचेव य भव्विदरदुगं गदी य लिंगं च ।
कोहादी लेस्सावि य इदि वीसपदा हु उड्ढेण ॥ ८५८ ॥
पिण्डपदानि पञ्चैव च भव्येतरद्विकं गतिश्च लिङ्गं च ।
क्रोधादयः लेश्या अपि च इति विंशपदानि हि वृद्ध्या ॥ ८५८ ॥

अर्थ—उन १५ प्रत्येक पदोंके सिवाय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ५ पिंडपद हैं; उनके 'भव्य अभव्यका युगल, गति, लिंग, क्रोधादिकषाय और लेश्या' ऐसे नाम हैं । सब मिलकर १५+५=२० पद होते हैं, सो इनको ऊपर ऊपर स्थापन करना चाहिये ॥ ८५८ ॥

पत्तेयाणं उवरिं भव्विदरदुगस्स होदि गदि लिंगे ।
कोहादिलेस्ससम्मत्ताणं रयणा तिरिच्छेण ॥ ८५९ ॥
प्रत्येकानामुपरि भव्येतरद्विकस्य भवति गतिलिङ्गयोः ।
क्रोधादिलेश्यासम्यक्त्वानां रचना तिरश्चा ॥ ८५९ ॥

अर्थ—प्रत्येक पदोंके ऊपर स्थापित किये गये जो भव्य अभव्यत्व युगल, गति, लिंग, क्रोधादि ४ कषाय, लेश्या और सम्यक्त्व हैं उनकी रचना तिरछी (बराबर) करनी चाहिये ॥८५९॥

एक्कादी दुगुणकमा एक्केक्कं रुंधिऊण हेट्ठम्मि ।
पदसंजोगे भंगा गच्छं पडि होंति उवरुवरिं ॥ ८६० ॥
एकादि द्विगुणक्रमादेकैकं रुद्ध्वा अधस्तने ।
पदसंयोगे भङ्गा गच्छं प्रति भवन्ति उपर्युपरि ॥ ८६० ॥

अर्थ—एकसे लेकर दूने दूनेके क्रमसे एक एक पदका आश्रय करके नीचे नीचेके पदोंके संयोगसे गच्छ जितनेवां पद होवें उसके प्रमाण प्रति ऊपर ऊपरके भंग होते हैं ॥ ८६० ॥

आगे भंगोंके योग (मिलाने) के लिये गाथासूत्र कहते हैं;—

इट्ठपदे रुऊणे दुगसंवग्गम्मि होदि इट्ठधणं ।
असरित्थाणंतधणं दुगुणेगूणे सगीयसव्वधणं ॥ ८६१ ॥
इष्टपदे रूपोने द्विकसंवर्गे भवति इष्टधनम् ।
असदृशानामन्तधनं द्विगुणे एकोने स्वकीयसर्वधनम् ॥ ८६१ ॥

अर्थ—विवक्षितपदमें एक कम करनेसे जो शेष रहें उतने दो दोके अंक लिखकर वर्ग करनेसे (आपसमें गुणा करनेसे) विवक्षित पदमें भंगोंका प्रमाणरूप इष्टधन होता है । यही प्रत्येक पदका अंतधन है । इस इष्टधनको दूना करके उसमें १ घटानेसे जो प्रमाण हो उतना प्रथमपदसे लेकर विवक्षित पदतक सब पदोंके भंगोंका जोड़रूप सर्वधन होता है ।

भावार्थ—इस हिसाबसे प्रत्येक पद व पिंडपदोंका जोड़ नरकादिगति व नपुंसकादि वेदकी जगह तथा सभी गुणस्थानोंमें कितना कितना होता है सो बड़ी टीकासे जानना चाहिये ॥ ८६१ ॥

आगे इसी कथनको गाथाओंसे दिखलाते हैं;—

तेरिच्छा हु सरित्था अविरददेसाण खयियसम्मत्तं ।
मोत्तूण संभवं पडि खयिगस्सवि आणए भंगे ॥ ८६२ ॥
तिर्यञ्चि हि सदृशानि अविरतदेशयोः क्षायिकसम्यक्त्वम् ।
मुक्त्वा संभवं प्रतिक्षायिकस्यापि आनयेत् भङ्गान् ॥ ८६२ ॥

अर्थ—गुणस्थानोंमें बताये गये पिंडपदरूप भावोंकी तिर्यक् (बराबर) रचनाकर और

असंयत तथा देशसंयत गुणस्थानमें क्षायिकसम्यक्त्वको छोडकर, क्योंकि असंयत और देश संयतमें क्षायिकसम्यक्त्वका पृथक् ही वर्णन किया गया है, अन्य भावोंमें गुणस्थानोंका आश्रयकर यथासंभव भंग जानने चाहिये । और उन दोनों स्थानोंमें क्षायिकसम्यक्त्वके यथासंभव अलग अलग भंग समझने चाहिये ॥ ॥ ८६२ ॥

उड्ढतिरिच्छपदाणं दव्वसमासेण होदि सव्वधणं ।
सव्वपदाणं भंगे मिच्छादिगुणेसु णियमेण ॥ ८६३ ॥

ऊर्ध्वतिर्यक्पदानां द्रव्यसमासेन भवति सर्वधनम् ।
सर्वपदानां भंगे मिथ्यादिगुणेषु नियमेन ॥ ८६३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें ऊर्ध्व रचना वाले प्रत्येक पद और तिर्यक् रचनावाले पिंडपदके भंगरूप धनको मिलानेसे उस उस गुणस्थानके सर्वपदोंका भंगरूप सर्वधन नियमसे होता है ॥ ८६३ ॥

मिच्छादीणं दुति दुसु अपुव्वअणियट्टिखवगसमगेसु ।
सुहुमुवसमगे संते सेसे पत्तेयपदसंखा ॥ ८६४ ॥
पण्णर सोलट्ठारस वीसुगुवीसं च वीसमुगुवीसं ।
इगिवीस वीसचउदसतेरसपणगं जहाकमसो ॥ ८६५ ॥ जुम्मं ।

मिथ्यादीनां द्वित्रिषु द्वयोः अपूर्वानिवृत्तिक्षपकोपशमकेषु ।
सूक्ष्मोपशमके शान्ते शेषे प्रत्येकपदसंख्या ॥ ८६४ ॥
पञ्चदश षोडशाष्टादश विंशैकोनविंशं च विंशमेकोनविंशम् ।
एकविंशं विंशचतुर्दशत्रयोदशपञ्चकं यथाक्रमशः ॥ ८६५ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—वे 'प्रत्येकपद' मिथ्यादृष्टि आदि दो गुणस्थानोंमें १५, मिश्रादि तीन गुणस्थानोंमें १६, प्रमत्तादि दो गुणस्थानोंमें १८, क्षपक उपशम दोनों श्रेणियोंके अपूर्व और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें २०-१९, उपशमक सूक्ष्मसांपरायमें २०, उपशांत कषायमें १९, शेष क्षपक सूक्ष्मसांपरायमें २१, क्षीणकषायमें २०, सयोगीमें १४, अयोगीमें १३ सिद्धमें ५ क्रमसे जानने चाहिये ॥ ८६४ । ८६५ ॥

मिच्छाइट्ठिप्पहुदि खीणकसाओत्ति सव्वपदभंगा ।
पण्णट्ठि च सहस्सा पंचसया होंति छत्तीसा ॥ ८६६ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृति क्षीणकषाय इति सर्वपदभङ्गाः ।
पञ्चषष्ठिः च सहस्राणि पञ्चशतानि भवन्ति षट्त्रिंशत् ॥ ८६६ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषायगुणस्थानतक सर्वपद भंगोंका प्रमाण बताते हैं । इसके लिये यहाँ पण्णट्ठी—६५५३६ को गुण्य समझना चाहिये और इस गुण्यका आगे बताये गये

गुणाकारोंसे गुणा करना चाहिये और उसमेंसे एक कम करना चाहिये। ऐसा करनेसे वहां वहांके सर्वपद भंगोंका प्रमाण होता है ॥ ८६६ ॥

तग्गुणगारा कमसो पणणउदेयत्तरीसयाण दलं ।

ऊणट्ठारसयाणं दलं तु सत्तहियसोलसयं ॥ ८६७ ॥

तद्गुणकाराः क्रमशः पञ्चनवत्येकसप्ततिशतानां दलम् ।

एकोनमष्टादशशतानां दलं तु सप्ताधिकषोडशशतम् ॥ ८६७ ॥

अर्थ—उस गुण्यके गुणकार क्रमसे इस प्रकार हैं–मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ७१९५ का आधा प्रमाण, सासादनमें एक कम १८०० का आधा प्रमाण, मिश्रमें १६०७ हैं ॥ ८६७ ॥

तेवत्तरिं सयाइं सत्तावट्ठी य अविरदे सम्मे ।

सोलस चेव सयाइं चउसट्ठी खयियसम्मस्स ॥ ८६८ ॥

त्रिसप्ततिशतानि सप्तषष्टिश्च अविरते सम्ये ।

षोडश चैव शतानि चतुःषष्टिः क्षायिकसम्यस्य ॥ ८६८ ॥

अर्थ—असंयतसम्यग्दृष्टिके ७३६७ गुणकार हैं और वहीं क्षायिक सम्यग्दृष्टीके गुणकार १६६४ हैं ॥ ८६८ ॥

ऊणत्तीससयाइं एक्काणउदी य देसविरदम्मि ।

छावत्तरि पंचसया खइयणरे णत्थि तिरियम्मि ॥ ८६९ ॥

एकोनत्रिंशच्छतानि एकनवतिश्च देशविरते ।

षट्सप्ततिः पञ्चशतानि क्षायिकनरे नास्ति तिरश्चि ॥ ८६९ ॥

अर्थ—देशसंयत गुणस्थानमें २९९१ गुणकार हैं और वहीं क्षायिक सम्यग्दृष्टी मनुष्यके ही ५७६ गुणकार हैं, ये तिर्यंचके नहीं हैं; क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वी तिर्यंच देशव्रती नहीं होता ॥ ८६९ ॥

इगिदालं च सयाइं चउदालं च य पमत्त इदरे य ।

पुव्वुवसमगे वेदाणियट्टिभागे सहस्समट्ठूणं ॥ ८७० ॥

एकचत्वारिंशच्च शतानि चतुश्चत्वारिंशच्च च प्रमत्ते इतरस्मिंश्च ।

अपूर्वोपशमके वेदानिवृत्तिभागे सहस्रमष्टोनम् ॥ ८७० ॥

अर्थ—प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमें ४१४४ गुणकार हैं, उपशमश्रेणीके अपूर्वकरण तथा सवेद अनिवृत्तिकरणमें ८ कम एक हजार अर्थात् ९९२ हैं ॥ ८७० ॥

अडसट्ठी एक्कसयं कसायभागम्मि सुहुमगे संते ।

अडदालं चउवीसं खवगेसु जहाकमं वोच्छं ॥ ८७१ ॥

अष्टषष्टिः एकशतं कषायभागे सूक्ष्मके शान्ते ।

अष्टचत्वारिंशत् चतुर्विंशं क्षपकेषु यथाक्रमं वक्ष्यामि ॥ ८७१ ॥

अर्थ—इसीप्रकार यथासंभव भावोंकर मार्गणास्थानमें भी स्थानभंग और पदभंग क्रमसे सावधान होकर जानना चाहिये ॥ ८७५ ॥

आगे जिनमें सर्वथा एकनयका ही ग्रहण पाया जाता है ऐसे जो एकांतमत हैं उनके भेदोंको कहते हैं,—

असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं च आहु चुलसीदी ।
सत्तट्ठण्णाणीणं वेणयियाणं तु बत्तीसं ॥ ८७६ ॥

अशीतिशतं क्रियानामक्रियाणां चाहुः चतुरशीतिः ।
सप्तषष्ठिरज्ञानिनां वैनयिकानां तु द्वात्रिंशत् ॥ ८७६ ॥

अर्थ—क्रियावादियोंके १८०, अक्रियावादियोंके ८४, अज्ञानवादियोंके ६७ और वैनयिकवादियोंके ३२ भेद हैं ॥ ८७६ ॥

अब उनमेंसे क्रियावादियोंके मूलभंग कहते हैं,—

अत्थि सदो परदोवि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था ।
कालीसरप्पणियदिसहावेहिं य ते हि भंगा हु ॥ ८७७ ॥

अस्ति स्वतः परतोपि च नित्यानित्यत्वेन च नवार्थाः ।
कालेश्वरात्मनियतिस्वभावैश्च ते हि भङ्गा हि ॥ ८७७ ॥

अर्थ—पहले 'अस्ति' ऐसा पद लिखना उसके ऊपर 'आपसे' 'परसे' 'नित्यपनेसे' 'अनित्यपनेसे' ऐसे चार पद लिखने, उनके ऊपर जीवादि ९ पदार्थ लिखने; उनके ऊपर 'काल' 'ईश्वर' 'आत्मा' 'नियति' 'स्वभाव' इस तरह ५ पद लिखने—इसप्रकार $१ \times ४ \times ९ \times ५$ का गुणा करनेसे १८० भंग होते हैं ॥ ८७७ ॥

अत्थि सदो परदोवि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था ।
एसिं अत्था सुगमा कालादीणं तु वोच्छामि ॥ ८७८ ॥

अस्ति स्वतः परतोपि च नित्यानित्यत्वेन च नवार्थाः ।
एषामर्थाः सुगमाः कालादीनां तु वक्ष्यामि ॥ ८७८ ॥

अर्थ—अस्ति—अपनेसे—परसे—नित्यपनेकर—अनित्यपनेकर—इन पांचोंका तथा नवपदार्थ इन कुल १४ ओं का अर्थ तो सुगम (सीधा) है । अत एव कालवादादिक पांचोंका अर्थ क्रमसे कहता हूं ॥ ८७८ ॥

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं ।
जागत्ति हि सुत्तेसुवि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥ ८७९ ॥

कालः सर्वं जनयति कालः सर्वं विनाशयति भूतम् ।
जागर्ति हि सुप्तेष्वपि न शक्यते वञ्चितुं कालः ॥ ८७९ ॥

एयको चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य ।
सव्वंगणिगूढोवि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ।। ८८१ ।।

एकश्चैव महात्मा पुरुषो देवश्च सर्वव्यापी च ।
सर्वाङ्गनिगूढोपि च सचेतनो निर्गुणः परमः ।। ८८१ ।।

अर्थ—संसारमें एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है और वह सबमें व्यापक है, सर्वांगपनेसे अगम्य (छुपा हुआ) है, चेतना सहित है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है । इस तरह आत्मस्वरूपसे ही सबको मानना आत्मवादका अर्थ है ।। ८८१ ।।

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ।। ८८२ ।।

यत्तु यदा येन यथा यस्य च नियमेन भवति तत्तु तदा ।
तेन यथा तस्य भवेदिति वादो नियतिवादस्तु ।। ८८२ ।।

अर्थ—जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है वह उस समय उससे तैसे उसके ही होता है—ऐसा नियमसे ही सब वस्तु को मानना उसे **नियतिवाद** कहते हैं ।। ८८२ ।।

को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं ।
विविहत्तं तु सहाओ इदि सव्वपि य सहाओत्ति ।। ८८३ ।।

कः करोति कण्टकानां तीक्ष्णत्वं मृगविहङ्गमादीनाम् ।
विविधत्वं तु स्वभाव इति सर्वमपि च स्वभाव इति ।। ८८३ ।।

अर्थ—कांटेको आदि लेकर जो तीक्ष्ण (चुभनेवाली) वस्तु हैं उनके तीक्ष्णपना कौन करता है ? और मृग तथा पक्षी आदिकोंके अनेक तरहपना जो पाया जाता है उसे कौन करता

है ? ऐसा प्रश्न होनेपर यही उत्तर मिलता है कि सबमें स्वभाव ही है। ऐसे सबको कारणके विना स्वभावसे ही मानना **स्वभाववादका** अर्थ है। इसप्रकार कालादिकी अपेक्षा एकांत पक्षके ग्रहण कर लेनेसे **क्रियावाद** होता है ॥ ८८३ ॥

आगे अक्रियावादके भंग कहते हैं;—

णत्थि सदो परदोवि य सत्तपयत्था य पुण्णपाऊणा।
कालादियादिभंगा सत्तरि चदुपंतिसंजादा ॥ ८८४ ॥

नास्ति स्वतः परतोपि च सप्तपदार्थाश्च पुण्यपापोनाः।
कालादिकादिभङ्गाः सप्ततिः चतुःपङ्क्तिसंजाताः ॥ ८८४ ॥

अर्थ—पहले 'नास्ति' पद लिखना, उसके ऊपर 'आपसे' 'परसे' ये दो पद लिखने चाहिये, उनके ऊपर पुण्य-पापके विना सात पदार्थ लिखने, उनके ऊपर कालको आदि लेकर ५ पद लिखने चाहिये। इस प्रकार चार पंक्तियोंका गुणा करनेसे १×२×७×५=७० भंग होते हैं ॥ ८८४ ॥

णत्थि य सत्तपदत्था णियदीदो कालदो तिपंतिभवा।
चोद्दस इदि णत्थित्ते अक्किरियाणं च चुलसीदी ॥ ८८५ ॥

नास्ति च सप्तपदार्था नियतितः कालतः त्रिपङ्क्तिभवाः।
चतुर्दश इति नास्तित्वे अक्रियाणां च चतुरशीतिः ॥ ८८५ ॥

अर्थ—पहले 'नास्ति' पद लिखना, उसके ऊपर सात पदार्थ लिखने, उनके ऊपर 'नियति' 'काल' ऐसे दो पद लिखने—इस प्रकार तीन पंक्तियोंके गुणा करनेसे १×७×२=१४ भेद नास्तिपनेमें हुये। पहलेके ७० और १४ ये सब मिलकर ८४ अक्रियावादियोंके भेद होते हैं ॥ ८८५ ॥

आगे अज्ञानवादके भेद कहते हैं;—

को जाणइ णवभावे सत्तमसत्तं दयं अवच्चमिदि।
अवयणजुद सत्ततयं इदि भंगा होंति तेसट्ठी ॥ ८८६ ॥

को जानाति नवभावेषु सत्त्वमसत्त्वं द्वयमवाच्यमिति।
अवचनयुतं सप्ततयमिति भङ्गा भवन्ति त्रिषष्ठिः ॥ ८८६ ॥

अर्थ—जीवादिक नव पदार्थोंमेंसे एक एकका सप्त भंगसे न जानना जैसे कि 'जीव' अस्तिस्वरूप है ऐसा कौन जानता है, तथा नास्ति, अथवा दोनों, वा अवक्तव्य, वा बाकी तीन भंग मिली हुईं-इसतरह ७ भंगोंसे कौन जीवको जानता है। इस प्रकार ९ पदार्थोंका ७ नयोंसे गुणा करनेपर ६३ भंग होते हैं ॥ ८८६ ॥

को जाणइ सत्तचऊ भावं सुद्धं खु दोण्णिपंतिभवा।
चत्तारि होंति एवं अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी । ८८७ ॥

को जानाति सत्त्वचतुष्कं भावं खलु द्विपंक्तिकगताः ।
चत्वारो भवन्ति एवमज्ञानिनां तु सप्तषष्ठिः ॥ ८८७ ॥

अर्थ—पहले 'शुद्धपदार्थ' ऐसा लिखना उसके ऊपर अस्ति नास्ति अस्तिनास्ति और अवक्तव्य ये चार लिखने, इन दोनों पंक्तियोंसे चार भंग उत्पन्न होते हैं । जैसे-शुद्धपदार्थ अस्ति आदिरूप है, ऐसे कौन जानता है । इत्यादि । इस तरह ४ तो ये और पूर्वोक्त ६३ सब मिलकर अज्ञानवादके ६७ भेद होते हैं ॥ ८८७ ॥

आगे वैनयिकवादके मूलभंग कहते हैं,—

मणवयणकायदाणगविणवो सुरणिवइणाणिजदिवुड्ढे ।
बाले मादुपिदुम्मि च कायव्वो चेदि अट्ठचऊ ॥ ८८८ ॥

मनोवचनकायदानगविनयः सुरनृपतिज्ञानियतिवृद्धे ।
बाले मातृपित्रोश्च कर्तव्यः चेति अष्टचतुष्कम् ॥ ८८८ ॥

अर्थ—देव राजा ज्ञानी यति वृद्ध बालक माता पिता इन आठोंका मन वचन काय और दान—इन चारोंसे विनय करना । इसप्रकार वैनयिकवादके भेद ८ गुणित ४ अर्थात् ३२ होते हैं । ये विनयवादी गुण अगुणको परीक्षा किये विना विनयसे ही सिद्धि मानते हैं ॥ ८८८ ॥

सच्छंददिट्ठीहिं वियप्पियाणि तेसट्ठिजुत्ताणि सयाणि तिण्णि ।
पाखंडिणं वाउलकारणाणि अण्णाणिचित्ताणि हरंति ताणि ॥ ८८९ ॥

स्वच्छन्ददृष्टिभिः विकल्पितानि त्रिषष्ठियुक्तानि शतानि त्रीणि ।
पाखण्डिनां व्याकुलकारणानि अज्ञानिचित्तानि हरन्ति तानि ॥ ८८९ ॥

अर्थ—इसप्रकार स्वच्छंद अर्थात् अपने मनमाना है श्रद्धान जिनका ऐसे पुरुषोंने ये ३६३ भेदरूप ऐसी कल्पना की हैं, जो कि पाखंडी जीवोंको व्याकुलता उत्पन्न करनेवालीं और अज्ञानी जीवोंके चित्तको हरनेवालीं हैं ॥ ८८९ ॥

आगे अन्य भी एकांतवादोंको कहते हैं;—

आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे ।
थणक्खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि ॥ ८९० ॥

आलस्याढ्यो निरुत्साहः फलं किञ्चिन्न भुङ्क्ते ।
स्तनक्षीरादिपानं वा पौरुषेण विना न हि ॥ ८९० ॥

अर्थ—जो आलस्यकर सहित हो तथा उद्यम करनेमें उत्साह रहित हो वह कुछ भी फल नहीं भोग सकता । जैसे—स्तनोंका दूध पीना विना पुरुषार्थके कभी नहीं बन सकता । इसीप्रकार पुरुषार्थसे ही सब कार्यकी सिद्धि होती है—ऐसा मानना पौरुषवाद है ॥ ८९० ॥

दइवमेव परं मण्णे धिप्पउरुसमणत्थयं ।
एसो सालसमुत्तुंगो कण्णो हण्णइ संगरे ॥ ८९१ ॥
दैवमेव परं मन्ये धिक् पौरुषमनर्थकम् ।
एष सालसमुत्तुङ्गः कर्णो हन्यते संगरे ॥ ८९१ ॥

अर्थ—मैं केवल देव (भाग्य) को ही उत्तम मानता हूँ, निरर्थक पुरुषार्थको धिक्कार हो। देखो कि किलाके समान ऊंचा जो वह कर्णनामा राजा सो युद्ध में मारा गया । ऐसा **दैववाद** है इसीसे सर्वसिद्धि मानी है ॥ ८९१ ॥

संजोगमेवेति वदंति तण्णा णेवेक्कचक्केण रहो पयादि ।
अंधो य पंगू य वणं पविट्ठा तें संपजुत्ता णयरं पविट्ठा ॥ ८९२ ॥
संयोगमेवेति वदन्ति तज्ज्ञा नैवेकचक्रेण रथः प्रयाति ।
अन्धश्च पङ्गुश्च वनं प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥ ८९२ ॥

अर्थ—यथार्थज्ञानी संयोगसे ही कार्यसिद्धि मानते हैं, क्योंकि जैसे एक पहियेसे रथ नहीं चल सकता । तथा जैसे एक अंधा दूसरा पांगला ये दोनों वनमें प्रविष्ट हुये थे सो किसी समय आग लग जानेसे ये दोनों मिलकर अर्थात् अन्धे के ऊपर पांगला चढ़कर अपने नगरमें पहुँच गये । इसप्रकार **संयोगवाद** है ॥ ८९२ ॥

सइउट्ठिया पसिद्धी दुव्वारा मेलिदेहिंवि सुरेहिं ।
मज्झिमपंडवखित्ता माला पंचसुवि खित्तेव ॥ ८९३ ॥
सकृदुत्थिता प्रसिद्धिः दुर्वारा मिलितैरपि सुरैः ।
मध्यमपाण्डवक्षिप्ता माला पञ्चस्वपि क्षिप्तेव ॥ ८९३ ॥

अर्थ—एक ही बार उठी हुई लोकप्रसिद्धि देवोंसे भी मिलकर दूर नहीं हो सकती अन्यकी तो बात क्या है । जैसेकि द्रौपदीकर केवल अर्जुन-पांडवके ही गलेमें डाली हुई मालाकी पांचों पांडवोंको पहनाई है ऐसी प्रसिद्धि हो गई । इसप्रकार लोकवादी लोकप्रवृत्तिको ही सर्वस्व मानते हैं ॥ ८९३ ॥

अब आचार्य महाराज इन मतोंका विवाद मेटनेके लिये सारांश कहते हैं;—

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥ ८९४ ॥
यावन्तो वचनपथाः तावन्तश्चैव भवन्ति नयवादाः ।
यावन्तो नयवादास्तावन्तश्चैव भवन्ति परसमयाः ॥ ८९४ ॥

अर्थ—बहुत कहनेसे क्या । सारांश इतना है कि जितने वचन बोलनेके मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं ।

भावार्थ—जो कुछ वचन बोला जाता है वह किसी अपेक्षा को लिये हुये ही होता है। उस जगह जो अपेक्षा है वही नय है। और बिना अपेक्षाके बोलना अथवा एक ही अपेक्षासे अनन्तधर्मवाली वस्तुको सिद्ध करना यही परमतोंमें मिथ्यापना है ॥ ८९४ ॥

आगे परमतियोंको जो मिथ्यामती कहा है सो उनके वचन किस तरह मिथ्या हैं उसका कारण दिखलाते हैं;—

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा ।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो ॥ ८९५ ॥

परसमयानां वचनं मिथ्या खलु भवति सर्वथावचनात् ।
जैनानां पुनः वचनं सम्यक्खलु कथंचिद्वचनात् ॥ ८९५ ॥

अर्थ—परमतोंके वचन 'सर्वथा' कहनेसे नियमसे असत्य होते हैं और जैनमतके वचन 'कथंचित्' (किसी एक प्रकारसे) बोलनेसे सत्य हैं।

भावार्थ—जैनमत स्याद्वादरूप है, वह अनन्त धर्मस्वरूप वस्तुको कथंचित् वचनसे कहता है, इससे सत्य है। क्योंकि एक वचनसे वस्तुका एक धर्म ही कहा जाता है। यदि कोई सर्वथा कहे कि यही वस्तुका स्वरूप है तो बाकीके धर्मोंके अभावका प्रसंग होनेसे वह भी झूठा कहलायेगा। अन्यवादी वस्तुके एक धर्मको लेकर यही है ऐसा सर्वथा वचनसे वस्तुका स्वरूप कहते हैं सो पूर्वोक्त हेतुसे झूठे हैं। इसप्रकार अन्य मतोंका विवाद एक स्याद्वादसे ही मिट सकता है ऐसा सारांश समझना चाहिये ॥ ८९५ ॥

इति श्री नेमिचन्द्राचार्य विरचित पंचसंग्रह द्वितीयनामवाले गोम्मटसार ग्रन्थके
कर्मकांडमें भावचूलिका नामका सातवां अधिकार समाप्त हुआ ॥७॥

दोहा ।

करि निजकारज करणकरि. कर्मसमूह खिपाय ।
भये शुद्ध परमातमा, नमों नमों शिवराय ॥१॥

आगे त्रिकरण चूलिकाको कहनेकी इच्छावाले आचार्य गुरुके लिये नमस्कार करते हुये श्रोताओंको भी सावधान करनेकी इच्छासे वैसा करनेका उपदेश करते हैं;—

णमह गुणरयणभूसण सिद्धंतामियमहद्धिभवभावं ।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं ॥ ८९६ ॥

नमत गुणरत्नभूषण सिद्धान्तामृतमहाब्धिभवभावम् ।
वरवीरनन्दिचन्द्रं निर्मलगुणमिन्द्रनन्दिगुरुम् ॥ ८९६ ॥

अर्थ—हे गुणरूपी रत्नके आभूषण चामुंडराय ! तुम सिद्धान्तशास्त्ररूपी अमृतमय महासमुद्रमें उत्पन्न हुये ऐसे उत्कृष्ट **वीरनंदि** नामा आचार्यरूपी चन्द्रमाको नमस्कार करो, तथा

निर्मल गुणोंवाले इंद्रनंदि नामा गुरुको नमस्कार करो । पहले जीवकांडमें प्रसंग पाकर गुणस्थानाधिकारमें भी तीन करणोंका स्वरूप कहा था । परन्तु यहां स्वतन्त्र अधिकारके द्वारा इनका वर्णन करते हैं । किंतु कई विषयोंका वहां भी खुलासा किया गया है । अतएव यदि कोई विषय यहां अच्छी तरह समझमें न आवे तो वह जीवकाण्डमें देखना चाहिये ॥ ८९६ ॥

अब आचार्य यहांपर अलग अधिकार करके तीन करणोंका स्वरूप कहते हैं,—

इगिवीसमोहखवणुवसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं ।
पढमं अधापवत्तं करणं तु करेदि अपमत्तो ॥ ८९७ ॥

एकविंशतिमोहक्षपणोपशमननिमित्तानि त्रिकरणानि तस्मिन् ।
प्रथममधःप्रवृत्तं करणं तु करोति अप्रमत्तः ॥ ८९७ ॥

अर्थ—अनंतानुबंधी कषायकी चौकड़ीके विना शेष २१ चारित्रमोहनीयकी प्रकृतियोंके क्षय करनेके लिए अथवा उपशम करनेके निमित्त अधःप्रवृत्तादि तीन करण कहे गये हैं । उनमेंसे पहले अधःप्रवृत्तकरणको सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानवाला प्रारम्भ करता है । यहां करण नाम परिणाम का है ॥ ८९७ ॥

आगे अधःप्रवृत्तकरणका शब्दार्थसे सिद्ध लक्षण कहते हैं;—

जम्हा उवरिमभावा हेट्ठिमभावेहिं सरिसगा होंति ।
तम्हा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिट्ठं ॥ ८९८ ॥

यस्मादुपरितनभावा अधस्तनभावैः सदृशका भवन्ति ।
तस्मात् प्रथमं करणमधःप्रवृत्तमिति निर्दिष्टम् ॥ ८९८ ॥

अर्थ—जिसकारण इस पहले करणमें ऊपरके समयके परिणाम नीचेके समयसंबंधी भावोंके समान होते हैं इसकारण पहले करणका "अधःप्रवृत्त" ऐसा अन्वर्थ (अर्थके अनुसार) नाम कहा गया है ॥ ८९८ ॥

अंतोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा ।
लोगाणमसंखपमा उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया ॥ ८९९ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रः तत्कालो भवति तत्र परिणामाः ।
लोकानामसंख्यप्रमा उपर्युपरि सदृशवृद्धिगताः ॥ ८९९ ॥

अर्थ—उस अधःप्रवृत्तकरणका काल अन्तर्मुहूर्त है । उस कालमें संभवते विशुद्धता (मन्दता) रूप कषायोंके परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं । और वे परिणाम पहले समयसे लेकर आगे आगे के समयोंमें समान वृद्धि (चय) कर बढ़ते हुए हैं ॥ ८९९ ॥

---

१ ये तीनों गाथा जीवकांडमें भी आई हैं वहां इनका खुलासा समझ लेना

आगे अंकोकी सहनानी (अंकसंदृष्टि) द्वारा कथन करते हैं;—

बावत्तरितिसहस्सा सोलस चउ चारि एयकयं चेव ।
धणअद्धाणविसेसे तियसंखा होइ संखेज्जे ॥ १०० ॥
द्वासप्ततित्रिसहस्राणि षोडश चतुष्कं चत्वारि एकं चैव ।
धनाध्वानविशेषाः त्रयसंख्या भवति संख्येये ॥ १०० ॥

अर्थ—अधःकरणके परिणामोंकी संख्याको साधनेके लिये सर्वधन ३०७२, ऊर्ध्वगच्छ १६, तिर्यग्गच्छ ४, ऊर्ध्वविशेष ४, तिर्यक्‌विशेष १, और चयके सिद्ध करनेके लिये संख्यातकी सहनानी ३ का अंक समझना चाहिये ॥ १०० ॥

आदिधणादो सव्वं पचयधणं संखभागपरिमाणं ।
करणे अधापवत्ते होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ १०१ ॥
आदिधनात्सर्वं प्रचयधनं संख्यभागपरिमाणम् ।
करणे अधःप्रवृत्ते भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—अधःप्रवृत्तकरणमें सर्व प्रचयधन आदि धनसे संख्यातवें भाग प्रमाण है ऐसा जिनेन्द्र-देवने कहा है। प्रचयधनको उत्तरधन भी कहते हैं। सर्वसमयसम्बन्धी चयोंके जोड़का ही नाम प्रचयधन है ॥ १०१ ॥

उभयधणे संमिलिदे पदकदिगुणसंखरूवहृदपचयं ।
सव्वधणं तं तम्हा पदकदिसंखेण भाजिदे पचयं ॥ १०२ ॥
उभयधने संमिलिते पदकृतिगुणसंख्यरूपहतप्रचयः ।
सर्वधनं तत्तस्मात् पदकृतिसंख्येन भाजिते प्रचयम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—आदिधन और उत्तरधन दोनोंको मिलानेसे सर्वधन होता है, और उसका प्रमाण गच्छके वर्गको संख्यातसे गुणा करे फिर उसका चयसे गुणा करनेपर जो संख्या आवे उतना है। इसी कारणसे पदका वर्ग और संख्यात इन दोनोंका भाग सर्वधनमें देनेसे चयका प्रमाण होता है ॥ १०२ ॥

चयधणहीणं दव्वं पदभजिदे होदि आदिपरिमाणं ।
आदिम्मि चये उड्ढे पडिसमयधणं तु भावाणं ॥ १०३ ॥
चयधनहीनं द्रव्यं पदभक्ते भवति आदिपरिमाणम् ।
आदौ चये वृद्धे प्रतिसमयधनं तु भावानाम् ॥ १०३ ॥

अर्थ—सर्वधनमेंसे चयधन कम करके जो प्रमाण हो उसमें गच्छका भाग देनेसे पहले समय सम्बन्धी विशुद्ध भावोंका प्रमाण होता है, और उन प्रथम समयके परिणामोंमें एक एक चय बढ़ा देनेसे हर एक समयके भावोंका प्रमाण होता है ॥ १०३ ॥

पच्चयधणस्साणयणे पच्चयं पभवं तु पचयमेव हवे।
रूऊणपदं तु पदं सव्वत्थवि होदि णियमेण ॥ ९०४ ॥

प्रचयधनस्यानयने प्रचयः प्रभवस्तु प्रचय एव भवेत्।
रूपोनपदं तु पदं सर्वत्रापि भवति नियमेन ॥ ९०४ ॥

अर्थ—प्रचयधनके लानेके लिये सब जगह उत्तर और आदि ये दोनों प्रचयके प्रमाण होते हैं, और यहां गच्छका प्रमाण विवक्षित गच्छके प्रमाणसे १ कम नियमसे होता है, क्योंकि पहले स्थानमें चयका अभाव है।

भावार्थ—यहांपर प्रचयधनको निकालनेके लिये श्रेणीव्यवहार विधान करना चाहिये। अतएव "पदमेगेण विहीणं दुभाजिदं उत्तरेण संगुणितं। पभवजुदं पदगुणिदं पदगुणिदं होदि सव्वत्थ" इस करण सूत्रके अनुसार प्रचयधन इस प्रकार निकलता है।- यहां पद प्रमाण १५ हैं, उसमें एक कम करनेसे रहे १४, उसमें दो का भाग देनेसे आये ७, उसका चयप्रमाण चारसे गुणा किया और उसमें आदि चय चारको मिलानेसे हुए ३२, इसका गच्छ १५ से गुणा करने पर प्रचयधन ४८० होता है ॥ ९०४ ॥

आगे अनुकृष्टिके प्रथमखण्डका प्रमाण कहते हैं;—

पडिसमयधणेवि पदं पच्चयं पभवं च होइ तेरिच्छे।
अणुकट्टिपदं सव्वद्धाणस्स य संखभावो हु ॥ ९०५ ॥

प्रतिसमयधनेपि पदं प्रचयः प्रभवश्च भवति तिरश्चि।
अनुकृष्टिपदं सर्वाध्वानस्य च संख्यभागो हि ॥ ९०५ ॥

अर्थ—हर एक समयका धन लानेके लिये अनुकृष्टिके गच्छ-चय-आदि सबकी रचना तिर्यग् (तिरछी) होती है और अनुकृष्टिका गच्छ ऊर्ध्वगच्छके संख्यातवें भाग प्रमाण निश्चयकर होता है। नीचे और ऊपर के समयोंमें समानताके खण्ड होनेको अनुकृष्टि कहते हैं।

भावार्थ—अंकसंदृष्टिके द्वारा ऊर्ध्वगच्छ—१६ में सख्यात-४ का भाग देनेसे अनुकृष्टिका गच्छ चार निकलता है ॥ ९०५ ॥

अणुकट्टिपदेण हदे पच्चये पचयो दु होइ तेरिच्छे।
पच्चयधणूणं दव्वं सगपदभजिदं हवे आदि ॥ ९०६ ॥

अनुकृष्टिपदेन हते प्रचये प्रचयस्तु भवति तिरश्चि।
प्रचयधनोनं द्रव्यं स्वकपदभाजितं भवेदादिः ॥ ९०६ ॥

अर्थ—अनुकृष्टिके गच्छका भाग ऊर्ध्वचयमे देनेसे जो प्रमाण हो वह अनुकृष्टिका चय होता है और प्रथम समयसम्बन्धी अनुकृष्टिके सवधनमें प्रचयधन कम करके जो प्रमाण आवे उसमें अपने अपने गच्छका भाग देनेसे अनुकृष्टिके प्रथमखण्डका प्रमाण होता है।

भावार्थ—अनुकृष्टिके गच्छ चार में ऊर्ध्वचय चार का भाग देनेसे लब्ध आये एकसे "व्येक-पदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरघनं" इस करण सूत्रके अनुसार एक कम गच्छ—तीनके आधे डेढ़का गुणा करनेपर डेढ़ही आता है। अतएव डेढ़का गच्छ चारसे गुणा करनेपर अनुकृष्टिमें प्रचय धनका प्रमाण छह होता है। और प्रथम समयसम्बन्धी अनुकृष्टिके सर्वधन १६२ में से प्रचयधन ६ कम करनेपर रहे १५६, उसमें अनुकृष्टिगच्छ चारका भाग देनेसे ३९ आते हैं। सो यही प्रथमसमय-सम्बन्धी अनुकृष्टिके प्रथम खण्डका प्रमाण समझना चाहिये ॥ ९०६ ॥

आदिम्मि कमे वड्ढदि अणुकट्टिस्स य चयं तु तेरिच्छे ।
इदि उड्ढतिरियरयणा अधापवत्तम्मि करणम्मि ॥ ९०७ ॥

आदौ क्रमेण वर्धते अनुकृष्टेः च चयस्तु तिरश्चि ।
इति ऊर्ध्वतिर्यग्रचना अधःप्रवृत्ते करणे ॥ ९०७ ॥

अर्थ उस प्रथम खण्डसे तिर्यग्रूप अनुकृष्टिका एक एक चय क्रमसे बढ़ता जाता है तब द्वितीयादि खण्डोंका प्रमाण होता है। इस प्रकार ऊर्ध्वरूप और तिर्यग्रूप दोनों ही रचना अधःप्रवृत्त-करणमें जाननी चाहिये ॥ ९०७ ॥

अंतोमुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तु ।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥ ९०८ ॥

अन्तर्मुहूर्तकालं गमयित्वा अधःप्रवृत्तकरणं तु ।
प्रतिसमयं शुद्ध्यन्नपूर्वकरणं समाश्रयति ॥ ९०८ ॥

अर्थ—वह सातिशय अप्रमत्तसंयमी समय समयप्रति अनन्तगुणी परिणामोंकी विशुद्धतासे बढ़ता हुआ अंतर्मुहूर्तकाल तक अधःप्रवृत्तकरणको करता है, पुनः उसको समाप्त करके अपूर्वकरणको प्राप्त होता है ॥ ९०८ ॥

आगे अपूर्वकरणमें अंकोंकी सहनानी दिखलाते हैं,—

छण्णउदिचउसहस्सा अट्ठ य सोलस धणं तदद्धाणं ।
परिणामविसेसोवि य चउ संखापुव्वकरणसंदिट्ठी ॥ ९०९ ॥

षण्णवतिचतुःसहस्री अष्टौ च षोडश धनं तदध्वानः ।
परिणामविशेषोपि च चत्वारि संख्यातान्यपूर्वकरणसंदृष्टिः ॥ ९०९ ॥

अर्थ—अपूर्वकरणमें अंकोंको सहनानी इसप्रकार है, सर्वधन ४०९६, गच्छ ८, परिणामविशेष १६ और संख्यातका प्रमाण ४ ॥ ९०९ ॥

अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा ।
कमउड्ढापुव्वगुणे अणुकट्टी णत्थि णियमेण ॥ ९१० ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रे प्रतिसमयमसंख्यलोकपरिणामाः ।
क्रमवृद्धाः अपूर्वगुणे अनुकृष्टिर्नास्ति नियमेन ॥ ९१० ॥

अर्थ—अपूर्वकरणका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है। उसमें हरएक समयमें समानचय (वृद्धि) से बढ़ते हुए असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम पाये जाते हैं। लेकिन यहां अनुकृष्टि नियमसे नहीं होती; क्योंकि यहां प्रति समयके परिणामोंमें अपूर्वता होनेसे नीचेके समयके परिणामोंसे, ऊपरके समयके परिणामोंमें समानता नहीं पाई जाती ॥ ९१० ॥

आगे तीसरे अनिवृत्तिकरणका स्वरूप कहते हैं;—

एकम्हि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्टंति ।
ण णिवट्टंति तहंवि य परिणामेहिं मिहो जे हु ॥ ९११ ॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जस्सिमेक्कपरिणामो ।
विमलयरझाणहुदवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥ ९१२ ॥ जुम्मं ।

एकस्मिन् कालसमये संस्थानादिभिर्यथा निवर्तन्ते ।
न निवर्तन्ते तथापि च परिणामैर्मिथो ये हि ॥ ९११ ॥
भवन्ति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषामेकपरिणामः ।
विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवनाः ॥ ९१२ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—जो जीव अनिवृत्तिकरणकालके विवक्षित एक समयमें जैसे शरीरके आकार वगैरहसे भेदरूप हो जाते हैं उसप्रकार परिणामोंसे अधःकरणादिकी तरह भेदरूप नहीं होते। और इस करणमें इनके समय समय प्रति एकस्वरूप एक ही परिणाम होता है। ये जीव अतिशय निर्मल ध्यानरूपी अग्निसे जलाये हैं कर्मरूपी वन जिन्होंने ऐसे होते हुए अनिवृत्तिकरण परिणामके धारक होते हैं। इस अनिवृत्तिकरणका काल भी अंतर्मुहूर्तमात्र है ॥ ९११ ॥ ९१२ ॥

इति श्री नेमिचन्द्राचार्यविरचित पंचसंग्रह द्वितीयनामवाले गोम्मटसार ग्रन्थके
कर्मकांडमें त्रिकरणचूलिका नामा आठवां अधिकार समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

दोहा ।

करि विनष्ट सब कर्मकी, स्थितिरचना सद्भाव ।
परमेष्ठी परमातमा, भये भजों शिवराय ॥ १ ॥

आगे आचार्यमहाराज सिद्धोंको नमस्कार करते हुये कर्मस्थितिकी रचनाका सद्भाव कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

सिद्धे विसुद्धणिलये पणट्ठकम्मे विणट्ठसंसारे ।
पणमिय सिरसा वोच्छं कम्मट्ठिदिरयणसब्भावं ॥ ९१३ ॥

सिद्धान् विशुद्धनिलयान् प्रणष्टकर्मणः विनष्टसंसारान् ।
प्रणम्य शिरसा वक्ष्यामि कर्मस्थितिरचनासद्भावम् ॥ ९१३ ॥

तेवट्ठि च सयाइं अडदाला अट्ठ छक्क सोलसय ।
चउसट्ठिं च विजाणे दव्वादीणं च संदिट्ठी ॥ ९२३ ॥

त्रिषष्टिश्च शतानि अष्टचत्वारिंशदष्ट षट्कं षोडशकम् ।
चतुःषष्टिं च विजानीहि द्रव्यादीनां च संदृष्टिः ॥ ९२३ ॥

अर्थ—इन द्रव्यादिकोंके अंकोंकी सहनानी क्रमसे द्रव्य ६३००, स्थिति ४८, गुणहान्यायाम ८, नानागुणहानि ६, दोगुणहानि १६, अन्योन्याभ्यस्तराशि ६४, जानना चाहिये ॥ ९२३ ॥

अब अर्थसंदृष्टिसे द्रव्यादिका प्रमाण कहते हैं;—

दव्वं समयपबद्धं उत्तपमाणं तु होदि तस्सेव ।
जीवसहत्थणकालो ठिदिअद्धा संखपल्लमिदा ॥ ९२४ ॥

द्रव्यं समयप्रबद्धं उक्तप्रमाणं तु भवति तस्यैव ।
जीवेन सह स्थानकालः स्थित्यद्धा संख्यपल्यमिताः ॥ ९२४ ॥

अर्थ—'द्रव्य' तो पहले प्रदेशबंधाधिकारमें कहे हुये समयप्रबद्धके प्रमाण हैं, और उस समयप्रबद्धका जीवके साथ स्थित रहनेका काल 'स्थितिआयाम' है, वह स्थिति संख्यातपल्यप्रमाण है ॥ ९२४ ॥

मिच्छे वग्गसलायप्पहुदिं पल्लस्स पढममूलोत्ति ।
वग्गहदी चरिमो तच्छिदिसंकलिदं चउत्थो य ॥ ९२५ ॥

मिथ्ये वर्गशलाकप्रभृति पल्यस्य प्रथममूलमिति ।
वर्गहतिः चरमः तच्छितिसंकलितं चतुर्थश्च ॥ ९२५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वनामा कर्ममें पल्यकी वर्गशलाकाको आदि लेकर पल्यके प्रथम मूलपर्यंत उन वर्गोंका आपसमें गुणकार करनेसे चरमराशि अर्थात् अन्योन्याभ्यस्तराशिका प्रमाण होता है और उनकी अर्धच्छेद राशियोंको संकलित अर्थात् जोड़नेसे चौथो राशि अर्थात् नानागुणहानिका प्रमाण होता है। इन दोनों राशियोंके निकालनेका विशेष विधान बड़ी टीकामें देखना चाहिये ॥९२५॥

वग्गसलायेणवहिदपल्लं अण्णोण्णगुणिदरासी हु ।
णाणागुणहाणिसला वग्गसलच्छेदणूणपल्लछिदो ॥ ९२६ ॥

वर्गशलाकयावहितपल्यमन्योन्यगुणितराशिर्हि ।
नानागुणहानिशला वर्गशलच्छेदन्यूनपल्यछितिः ॥ ९२६ ॥

अर्थ—इसप्रकार पल्यकी वर्गशलाका भाग पल्यमें देनेसे अन्योन्याभ्यस्तराशिका प्रमाण होता

है और पल्यकी वर्गशलाकाके अर्धच्छेदोंको पल्यके अर्धच्छेदोंमें घटानेसे जो प्रमाण आवे उतनी नानागुणहानिराशि जाननी चाहिये ॥ ९२६ ॥

आगे गुणहान्यायामका प्रमाण कहते हैं;—

सव्वसलायाणं जदि पयदणिसेये लहेज्ज एक्कस्स ।
किं होदित्ति णिसेये सलाहिदे होदि गुणहाणी ॥ ९२७ ॥
सर्वशलाकानां यदि प्रकृतनिषेके लभ्यते एकस्य ।
किं भवतीति निषेके शलाहिते भवति गुणहानिः ॥ ९२७ ॥

अर्थ—सब नानागुणहानिशलाकाओंके यदि पूर्वोक्त स्थितिके सब निषेक होते हैं तो १ गुणहानिशलाकाके कितने होने चाहिये ? इसप्रकार त्रैराशिकगणितके अनुसार निषेकोंमें शलाकाओंका भाग देनेसे जो प्रमाण हो वह गुणहान्यायामका प्रमाण होता है ।

भावार्थ—त्रैराशिकमें फलराशिका इच्छाराशिसे गुणा भी बताना चाहिये था सो यहां नहीं बतानेका कारण यह है कि यहां इच्छा राशिका प्रमाण एक ही है उसके साथ गुणा करनेसे संख्यामें वृद्धि नहीं होती । अत एव प्रमाणराशिका भाग देना ही बताया है ॥ ९२७ ॥

आगे दोगुणहानिका प्रमाण और उसके माननेका प्रयोजन दिखलाते हैं;—

दोगुणहाणिपमाणं णिसेयहारो दु होइ तेण हिदे ।
इट्ठे पढमणिसेये विसेसमागच्छदे तत्थ ॥ ९२८ ॥
द्विगुणहानिप्रमाणं निषेकहारस्तु भवति तेन हिते ।
इष्टे प्रथमनिषेके विशेष आगच्छति तत्र ॥ ९२८ ॥

अर्थ—गुणहानिका दूना प्रमाण 'निषेकहार' होता है । उसका प्रयोजन यह है कि निषेकहारका भाग विवक्षित गुणहानिके पहले निषेकमें देनेसे उस गुणहानिमें विशेष (चय) का प्रमाण निकल आता है ॥ ९२८ ॥

इस तरह द्रव्यादिकोंका प्रमाण बतलाकर अन्य कार्य कहते हैं;—

रूऊणण्णोण्णब्भत्थवहिददव्वं च चरिमगुणदव्वं ।
होदि तदो दुगुणकमो आदिमगुणहाणिदव्वोत्ति ॥ ९२९ ॥
रूपोनान्योन्याभ्यस्तावहितद्रव्यं च चरमगुणद्रव्यम् ।
भवति ततो द्विगुणक्रममादिमगुणहानिद्रव्यमिति ॥ ९२९ ॥

अर्थ—१ कम अन्योन्याभ्यस्तराशिका भाग सब द्रव्यमें देनेसे अंतगुणहानिका द्रव्य होता है और इससे दूना दूना पहली गुणहानिके द्रव्यतक द्रव्य जानना चाहिये ॥ ९२९ ॥

अब द्रव्यको जानकर क्या करना यह बतलाते हैं;—

रूऊणद्धाणद्धेणूणेण णिसेयभागहारेण ।
हदगुणहाणिविभजिदे सगसगदव्वे विसेसा हु ॥ ९३० ॥

रूपोनाध्वानार्धेनोनेन निषेकभागहारेण ।
हृतगुणहानिविभाजिते स्वकस्वकद्रव्ये विशेषा हि ॥ ९३० ॥

अर्थ—एक कम गुणहान्यायामके प्रमाण को आधा करके निषेक भागहारमें घटानेसे जो प्रमाण आवे उससे विवक्षित गुणहानिआयामको गुणनेसे जो प्रमाण हो उसका भाग अपने अपने द्रव्यमें देवे तो विशेष वा चयका प्रमाण होता है ॥ ९३० ॥

पचयस्स य संकलणं सगसगगुणहाणिदव्वमज्झम्हि ।
अवणियगुणहाणिहिदे आदिपमाणं तु सव्वत्थ ॥ ९३१ ॥

प्रचयस्य च संकलनं स्वकस्वकगुणहानिद्रव्यमध्ये ।
अपनीय गुणहानिहिते आदिप्रमाणं तु सर्वत्र ॥ ९३१ ॥

अर्थ—सब चयधनको अपने अपने गुणहानिके सब द्रव्यमेंसे घटाके जो प्रमाण हो उसमें गुणहान्यायामका भाग देनेसे जो संख्या आवे वह आदिधनका अर्थात् अन्तके निषेकका प्रमाण सब जगह होता है ॥ ९३१ ॥

सव्वासिं पयडीणं णिसेयहारो य एयगुणहाणी ।
सरिसा हवंति णाणागुणहाणिसलाउ वोच्छामि ॥ ९३२ ॥

सर्वासां प्रकृतीनां निषेकहारश्च एकगुणहानिः ।
सदृशे भवतः नानागुणहानिशला वक्ष्यामि ॥ ९३२ ॥

अर्थ—सब मूल उत्तर प्रकृतियोंका निषेकहार और एकगुणहान्यायाम ये दोनों तो एकसे ही होते हैं और नानागुणहानिशलाका समान नहीं हैं इस कारण उनको कहता हूं ॥ ९३२ ॥

मिच्छत्तस्स य उत्ता उवरीदो तिण्णि तिण्णि संमिलिदा ।
अट्ठगुणेणूणकमा सत्तसु रइदा तिरिच्छेण ॥ ९३३ ॥

मिथ्यात्वस्य च उक्ता उपरितः त्रयः त्रयः संमिलिताः ।
अष्टगुणेनोनकमाः सप्तसु रचिता तिरश्चा ॥ ९३३ ॥

अर्थ—जो मिथ्यात्वके पल्य वर्गशलाकाके अर्धच्छेद आदि पल्यके प्रथम मूलके अर्धच्छेदपर्यंत दूने दूने अर्धच्छेद एक एक वर्गमें कहे गये हैं उनका स्थापन करके ऊपरसे पल्यके प्रथममूलसे लेकर तीन तीन वर्गस्थानोंके अर्धच्छेद मिलानेसे वे आठ आठ गुणे कम अनुक्रमसे होते हैं और वे मिलाये हुए सातस्थानोमें अलग अलग आगे आगे की रचनारूप होते हैं ॥ ९३३ ॥

तत्थंतिमच्छिदिस्स य अट्ठमभागो सलायछेदा हु ।
आदिमरासिपमाणं दसकोडाकोडिपडिवद्धे ॥ ९३४ ॥

अर्थ—अपनी अपनी नानागुणहानिशलाकाके प्रमाण दोके अंक लिखकर आपसमें गुणनेसे नियमकर अपनी इष्ट प्रकृतिकी अन्योन्याभ्यस्तराशिका प्रमाण होता है ॥ ९३७ ॥

आगे वह प्रमाण किस कर्मका कितना होता है यह कहते हैं;—

आवरणवेदणीये विग्घे पल्लस्स बिदियतदियपदं ।
णामागोदे बिदियं संखातीदं हवंतित्ति ॥ ९३८ ॥

आवरणवेदनीये विघ्ने पल्यस्य द्वितीयतृतीयपदम् ।
नामगोत्रे द्वितीयं संख्यातीतं भवन्तीति ॥ ९३८ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मोंमें अन्योन्याभ्यस्तराशिका प्रमाण, पल्यके द्वितीयवर्गमूलके साथ असंख्यात तीसरे मूलोंको गुणनेसे जो प्रमाण हो वह है। और नाम तथा गोत्रकर्मके असंख्यातगुणे पल्यके द्वितीयवर्गमूलप्रमाण अन्योन्याभ्यस्तराशिका प्रमाण है ॥ ९३८ ॥

आउस्स य संखेज्जा तप्पडिभागा हवंति णियमेण ।
इदि अत्थपदं जाणिय इट्ठठिदिस्साणए मदिमं ॥ ९३९ ॥

आयुषश्च संख्येयाः प्रतप्रतिभागा भवन्ति नियमेन ।
इति अर्थपदं ज्ञात्वा इष्टस्थितेरानयेत् मतिमान् ॥ ९३९ ॥

अर्थ—आयुकर्ममें संख्याते प्रतिभाग नियमसे होते हैं। अत एव बुद्धिमान् मनुष्यको विवक्षित स्थानोंको जानकर विवक्षित स्थितिकी नानागुणहानिशलाका आदिको त्रैराशिकविधानके अनुसार निकाल लेना चाहिये ॥ ९३९ ॥

यही कहते हैं;—

उक्कस्सट्ठिदिबंधे सयलाबाहा हु सव्वठिदिरयणा ।
तक्काले दीसदि तो धोधो बंधट्ठिदीणं च ॥ ९४० ॥

उत्कृष्टस्थितिबन्धे सकलाबाधा हि सर्वस्थितिरचना ।
तत्काले दृश्यते अतः अधोऽधो बन्धस्थितीनां च ॥ ९४० ॥

अर्थ—विवक्षित प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबंध होनेपर उसीकालमें उत्कृष्ट स्थितिकी आबाधा और सब स्थिति की रचना भी देखी जाती है। इसकारण उस स्थितिके अंतके निषेकसे नीचे नीचे प्रथमनिषेकपर्यंत स्थितिबंधरूप स्थितियोंकी एक एक समय हीनता देखनी चाहिये ॥ ९४० ॥

आगे अधिकता किस तरह देखनी इस बातको कहते हैं;—

आबाधाणं बिदियो तदियो कमसो हि चरमसमयो दु ।
पढमो बिदियो तदियो कमसो चरिमो णिसेओ दु ॥ ९४१ ॥

आबाधानां द्वितीयः तृतीयः क्रमशो हि चरमसमयान्तु ।
प्रथमो द्वितीयः तृतीयः क्रमशः चरमो निषेकस्तु ॥ ९४१ ॥

अर्थ—उस बंध होनेके बाद आबाधाकालका दूसरा समय तीसरा समय इसतरह क्रमसे एक एक बढ़ता हुआ आबाधाकालका अंतसमय होता है। उसके बाद पहले समयमें प्रथम निषेक दूसरेमें दूसरा तीसरे समयमें तीसरा निषेक इस तरह एक एक बढ़ता हुआ क्रमसे अंतसमयमें अंतका निषेक होता है ॥ ९४१ ॥

आगे समयप्रबद्ध प्रमाण द्रव्य वर्तमान एक समयमें बँधता भी है और उदयरूप भी होता है ऐसा दिखलाते हैं;—

समयपबद्धपमाणं होदि तिरिच्छेण वट्टमाणम्मि ।
पडिसमयं बंधुदओ एक्को समयप्पबद्धो दु ॥ ९४२ ॥

समयप्रबद्धप्रमाणं भवति तिरश्चा वर्तमाने ।
प्रतिसमयं बन्धोदय एकः समयप्रबद्धस्तु ॥ ९४२ ॥

अर्थ—त्रिकोणरचनामें समयप्रबद्धका प्रमाण विवक्षित वर्तमान समयमें तिर्यक्रूप अर्थात् बराबर रचनारूप हरएक समयमें एक समयप्रबद्ध बंधता है और एक समयप्रबद्ध ही उदयरूप होता है ॥ ९४२ ॥

आगे सत्त्व भी एकसमयप्रबद्ध मात्र होगा, इस आशंकाको दूर करनेके लिये कहते हैं;—

सत्तं समयपबद्धं दिवड्ढगुणहाणिताडियं ऊणं ।
तियकोणसरूवट्ठिददव्वे मिलिदे हवे णियमा ॥ ९४३ ॥

सत्त्वं समयप्रबद्धं द्व्यर्धगुणहानिताडितमूनम् ।
त्रिककोणस्वरूपस्थितद्रव्ये मिलिते भवेन्नियमात् ॥ ९४३ ॥

अर्थ—सत्त्वद्रव्य, कुछकम डेढ़ गुणहानिकर गुणा हुआ समयप्रबद्ध प्रमाण है। वह त्रिकोण-रचनाके सब द्रव्यका जोड़ देनेसे नियमसे इतना ही होता है ॥ ९४३ ॥

आगे इस सत्तारूप त्रिकोण यन्त्रके जोड़ देनेकी विधि कहते हैं;

उवरिमगुणहाणीणं धणमंतिमहीणपढमदलमेत्तं ।
पढमे समयपबद्धं ऊणकमेणट्ठिया तिरिया ॥ ९४४ ॥

उपरितनगुणहानीनां धनमन्तिमहीनप्रथमदलमात्रम् ।
प्रथमे समयप्रबद्धमूनक्रमेण स्थितं तिरश्चा ॥ ९४४ ॥

अर्थ—त्रिकोण रचनामें विवक्षित वर्तमान समयमें प्रथमगुणहानिके प्रथम निषेकमें तो तिर्यग्रूप अर्थात् बराबर लिखे निषेकोंका समुदाय संपूर्ण समयप्रबद्ध प्रमाण होता है, और उसके बाद द्वितीय निषेकसे लेकर अंतकी गुणहानिके अंतनिषेकपर्यंत क्रमसे चय कम होती हुई तिर्यग्रचनारूप

द्वितीयादि गुणहानियोंके जोड़से लेकर अंतकी गुणहानिके जोड़को अपनी अपनी पहली गुणहानि के जोड़मेंसे घटाके जो जो प्रमाण हो उसका आधा आधा होता है और प्रथमगुणहानिका जोड़ गुणहानिके प्रमाणकर समयप्रबद्धको गुणनेसे जो प्रमाण हो उतना होता है ॥ ९४४ ॥

आगे स्थितिके भेदोंको कहते हैं,—

अंतोकोडाकोडिट्ठिदित्ति सव्वे णिरंतरट्ठाणा।
उक्कस्सट्ठाणादो सण्णिस्स य होंति णियमेण ॥ ९४५ ॥

अन्तःकोटीकोटिस्थितिरिति सर्वाणि निरन्तरस्थानानि।
उत्कृष्टस्थानात् संज्ञिनश्च भवन्ति नियमेन ॥ ९४५ ॥

अर्थ—आयुके विना सात कर्मोंके उत्कृष्टस्थितिसे लेकर अंतःकोडाकोडीसागरप्रमाण जघन्य स्थितिपर्यंत एक एक समय कमका क्रम लिये हुये जो निरन्तर स्थितिके भेद हैं वे संख्यातपल्यप्रमाण नियमसे संज्ञी पंचेन्द्री जीवोंके होते हैं ॥ ९४५ ॥

आगे सांतरस्थितिके भेद कहते हैं,—

संखेज्जसहस्साणिवि सेढीरूढम्मि सांतरा होंति।
सगसगअवरोत्ति हवे उक्कस्सादोदु सेसाणं ॥ ९४६ ॥

संख्येयसहस्राण्यपि श्रेणीरूढे सान्तरा भवन्ति।
स्वकस्वकावर इति भवेदुत्कृष्टात्तु शेषाणाम् ॥ ९४६ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व देशसंयम सकलसंयम उपशमक वा क्षपक श्रेणीके संमुख हुए ऐसे जो क्रमकरके मिथ्यादृष्टि असंयत देशसंयत और अप्रमत्त, अथवा अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी चढ़नेवाले जीव हैं उनके सांतर अर्थात् एक एक समय कमके नियमकर रहित स्थितिके भेद संख्यात हजार हैं। और संज्ञीके पर्याप्त अपर्याप्तको छोड़कर शेष बारह जीवसमासोंमें (भेदोंमें) अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थितिसे लेकर अपनी अपनी जघन्य स्थितिपर्यंत एक एक समय कम लिये हुये निरन्तर स्थितिके भेद होते हैं ॥ ९४६ ॥

आगे स्थितिके भेदोंके कारणरूप कषायाध्यवसाय (स्थितिबंधाध्यवसाय) स्थान मूलप्रकृतियोंके कितने हैं सो कहते हैं;—

आउट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणा असंखलोगमिदा।
णामागोदे सरिसं आवरणदु तदियविग्घे य ॥ ९४७ ॥

आयुस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि असंख्यलोकमितानि।
नामगोत्रे सदृशमावरणद्विके तृतीयविघ्ने च ॥ ९४७ ॥

अर्थ—आयुके 'स्थितिबंधाध्यवसायस्थान' सबसे कम होने पर भी यथायोग्य असंख्यातलोक-

ठिदिगुणहाणिपमाणं अज्झवसाणम्मि होदि गुणहाणी ।
णाणागुणहाणिसला असंखभागो ठिदिस्स हवे ॥ ९५१ ॥

स्थितिगुणहानिप्रमाणमध्यवसाने भवति गुणहानिः ।
नानागुणहानिशला असंख्यभागः स्थितेर्भवेत् ॥ ९५१ ॥

अर्थ—पहले बंधकथनके अवसर पर जैसा कर्मस्थितिकी रचनामें गुणहानिका प्रमाण कहा है वैसा ही यहां कषायाध्यवसायस्थानोंमें भी गुणहानिका प्रमाण जानना और जो नानागुणहानियोंका प्रमाण उस जगह कहा है उसके असंख्यातवें भाग प्रमाण यहाँ कषायाध्यवसायस्थानोंमें नानागुणहानिका प्रमाण होता है ॥ ९५१ ॥

आगे जघन्यचयका महत्त्व दिखलाते हैं;—

लोगाणमसंखपमा जहण्णउड्ढिम्मि तम्हि छट्ठाणा ।
ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणं होंति सत्तण्हं ॥ ९५२ ॥

लोकानामसंख्यप्रमाणि जघन्यवृद्धौ तस्मिन् षट्स्थानानि ।
स्थितिबन्धाध्यावसायस्थानानां भवन्ति सप्तानाम् ॥ ९५२ ॥

अर्थ—आयुके विना शेष सात मूलप्रकृतियोंके स्थितिबंधाध्यवसायस्थानोंका प्रमाण जघन्य वृद्धिमें अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा असंख्यातलोकप्रमाण अनंतभागवृद्धि आदिक छह स्थानपतित वृद्धिरूप पाया जाता है ॥ ९५२ ॥

आगे आयुकर्मके स्थितिबंधाध्यवसायस्थानोंमें विशेषता दिखलाते हैं;—

आउस्स जहण्णट्ठिदिबंधणजोग्गा असंखलोगमिदा ।
आवलिअसंखभागेणुवरुवरिं होंति गुणिदकमा ॥ ९५३ ॥

आयुषः जघन्यस्थितिबन्धनयोग्यानि असंख्यलोकमितानि ।
आवल्यसंख्यभागेनोपर्युपरि भवन्ति गुणितक्रमाणि ॥ ९५३ ॥

अर्थ—आयुकर्मके सर्वजघन्यस्थितिबंधके योग्य अध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं। उससे आगे आगे उत्कृष्टस्थितिपर्यन्त क्रमसे आवलीके असंख्यातवें असंख्यातवें भागकर गुणे हुये स्थान जानने चाहिये ॥ ९५३ ॥

आगे यहां पर प्रत्येक स्थितिभेद सम्बन्धी अध्यवसायोंमें नानाजीवोंकी अपेक्षा खण्ड पाये जाते हैं। किसी जीवके जितने अध्यवसायस्थानोंसे नीचेकी स्थिति बंधती है किसी दूसरेके उतनेही स्थानोंसे ऊपरकी भी स्थिति बंधती है, इसप्रकार ऊपर नीचे समानता समझ अनुकृष्टिविधान कहते हैं;—

अर्थ—गुणहानियोंमें प्रथमादि निषेकोंका दूसरा दूसरा खण्ड परस्पर देखनेसे असमान हैं; क्योंकि नीचले दूसरे खण्डके उत्कृष्ट स्थानसे ऊपरले दूसरे खण्डके जघन्य स्थान चयाधिक और शक्तिकी अपेक्षा भी अनंतगुणे हैं । ऐसे ही तीसरे तीसरे इत्यादि खण्डोंको असमानता जान लेना । इसप्रकार एक कम अनुकृष्टि प्रमाण खण्डोंकी असमानता होती है ॥ ९५७ ॥

उसमें क्या होता है यह कहते हैं; —

चरिमं चरिमं खंडं अण्णोण्णं पेक्खिऊण विसरित्थं ।
हेट्ठिल्लुक्कस्सादोणंतगुणादुवरिमजहण्णं ॥ ९५८ ॥

चरमं चरमं खण्डमन्योन्यं प्रेक्ष्य विसदृशम् ।
अधस्तनोत्कृष्टादनन्तगुणादुपरिमजघन्यम् ॥ ९५८ ॥

अर्थ—गुणहानिके प्रथमादि निषेकोंका अंतअंतका खण्ड अंतके निषेकोंके अन्तके खण्डपर्यंत निरन्तर एक एक चय अधिक होनेसे परस्परमें असमान हैं । और शक्तिसे नीचले अंतखण्डके उत्कृष्ट स्थानसे ऊपरले अंतखण्डके जघन्यस्थान अनन्तगुणे हैं ॥ ९५८ ॥

उसमें कारण कहते हैं; —

हेट्ठिमखंडुक्कस्सं उव्वंकं होदि उवरिमजहण्णं ।
अट्ठंकं होदि तदोणंतगुणं उवरिमजहण्णं ॥ ९५९ ॥

अधस्तनखण्डोत्कृष्टमुर्वङ्को[1] भवति उपरिमजघन्यम् ।
अष्टाङ्को भवति ततोऽनन्तगुणमुपरिमजघन्यम् ॥ ९५९ ॥

अर्थ—जिसकारण तिर्यग्रूप रचनामें ऊपर ऊपर लिखे हुए खण्डोंके अपने अपने नीचे लिखे खण्डों के उत्कृष्ट अध्यवसायस्थान पूर्वस्थानसे अनंत भागवृद्धिको लियेहुए हैं इसकारणसे नीचले खण्डके उत्कृष्टसे ऊपरले खण्डका जघन्यस्थान अनंतगुणा कहा है ॥ ९५९ ॥

अवरुक्कस्सठिदीणं जहण्णमुक्कस्सयं च णिव्वग्गं
सेसा सव्वे खंडा सरिसा खलु होंति उड्ढेण ॥ ९६० ॥

अवरोत्कृष्टस्थितीनां जघन्यमुत्कृष्टकं च निर्वर्गम् ।
शेषाः सर्वे खण्डाः सदृशाः खलु भवन्ति ऊर्ध्वया ॥ ९६० ॥

अर्थ—जघन्यस्थितिका कारणरूप जो प्रथमनिषेकका जघन्य पहला खण्ड और उत्कृष्टस्थितिका कारण जो अंतके निषेकका उत्कृष्ट अंतका खण्ड—ये दोनों तो निर्वर्ग हैं अर्थात् किसी खण्डसे सदृश समान नहीं हैं । और शेष सब खण्ड ऊर्ध्वरचनाके द्वारा अन्य खण्डोंके समान हैं ॥ ९६० ॥

---

1. "उर्वंक" आदिक संज्ञायें जीवकाण्डमें कही गई हैं ।

अट्ठण्हंपि य एवं आउजहण्णट्ठिदिस्स वरखंडं ।
जावय तावय खंडा अणुकट्टिपदे विसेसहिया ॥ ९६१ ॥
तत्तो उवरिमखंडा सगसगउक्कस्सगोत्ति सेसाणं ।
सव्वे ठिदियणखंडाऽसंखेज्जगुणक्कमा तिरिये ॥ ९६२ ॥ जुम्मं ।

अष्टानामपि च एवमायुर्जघन्यस्थितेः वरखण्डम् ।
यावत् तावत् खण्डा अनुकृष्टिपदे विशेषाधिकाः ॥ ९६१ ॥
ततः उपरिमखण्डाः स्वकस्वकोत्कृष्टक इति शेषाणाम् ।
सर्वे स्थितितनखण्डा असंख्येयगुणक्रमाः तिरश्चि ॥ ९६२ ॥ युग्मम् ।

अर्थ—आठों ही कर्मोका रचनाविशेष समान है, परन्तु विशेषता यह है कि आयुकर्मके खण्ड अनुकृष्टि गच्छमें जघन्यस्थितिके खण्डसे उत्कृष्ट खण्ड पर्यंत ही विशेषतासे अधिक हैं । उसके बाद उस उत्कृष्ट खण्डसे ऊपरके स्थितिखण्ड हैं उनसे लेकर अपने अपने उत्कृष्टखण्डपर्यंत तथा अवशेष स्थितियोंके अपने अपने जघन्यखण्डसे अपने अपने उत्कृष्टखण्डपर्यंत सब बराबर रचना करके क्रमसे असख्यातगुणे हैं ॥ ९६१ । ९६२ ॥

आगे अनुभागबंधाध्यवसायस्थानोंको कहते हुए उसमें जघन्यस्थितिसंबंधो अध्यवसायस्थानोंमें जघन्यस्थिति सम्बन्धो अनुभागाध्यवसायस्थानोंको कहते हैं,—

रसबंधज्झवसाणट्ठाणाणि असंखलोगमेत्ताणि ।
अवरट्ठिदिस्स अवरट्ठिदिपरिणामम्हि थोवाणि ॥ ९६३ ॥

रसबन्धाध्यवसायस्थानानि असंख्यलोकमात्राणि ।
अवरस्थितेरवरस्थितिपरिणामे स्तोकानि ॥ ९६३ ॥

अर्थ—अनुभागबंधाध्यवसायस्थान असख्यातलोकको असंख्यातलोकसे गुणे ऐसे असंख्यातलोकप्रमाण हैं । इसमें जघन्यस्थिति सम्बन्धी स्थितिबंधाध्यवसायस्थानोंमें जघन्यस्थितिबंधयोग्य अध्यवसायोंके प्रमाणसे असंख्यातलोकगुणे अनुभागबंधाध्यवसायस्थान हैं फिरभी और स्थितिबंधाध्यवसायसम्बन्धी परिणामोंकी अपेक्षा थोड़े हैं ॥ ९६३ ॥

तत्तो कमेण वड्ढदि पडिभागेण य असंखलोगेण ।
अवरट्ठिदिस्स जेट्ठट्ठिदिपरिणामोत्ति णियमेण ॥ ९६४ ॥

ततः क्रमेण वर्द्धते प्रतिभागेन च असंख्यलोकेन ।
अवरस्थितेः ज्येष्ठस्थितिपरिणाम इति नियमेन ॥ ९६४ ॥

अर्थ—उसके बाद क्रमसे जघन्यस्थितिके जघन्यपरिणामसम्बन्धो प्रथमनिषेकरूप अनुभागाध्यवसायस्थानसे लेकर उत्कृष्टस्थितिके उत्कृष्ट परिणामसम्बन्धो अनुभागाध्यवसायस्थान तक असंख्यात-

लोकरूप प्रतिभागहारकर बढ़ते बढ़ते अनुभागाध्यवसाय स्थान नियमसे जानने चाहिये ॥ ९६४ ॥

इति श्रीनेमिचन्द्राचार्यविरचित पंचसंग्रह द्वितीयनामवाले गोम्मटसारग्रन्थके कर्मकाण्डमें कर्मस्थितिरचनासद्भाव नामा नवमां अधिकार समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्ति ।

आगे मूलग्रंथकर्ता **श्रीनेमिचन्द्राचार्य** अपनी ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा पूर्ण करके अपने समाचार कहते हैं;—

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटदेवेण गोम्मटं रइयं ।
कम्माणणिज्जरट्ठं तच्चट्ठवधारणट्ठं च ॥ ९६५ ॥

गोम्मटसंग्रहसूत्रं गोम्मटदेवेन गोम्मटं रचितम् ।
कर्मणां निर्जरार्थं तत्त्वार्थावधारणार्थं च ॥ ९६५ ॥

अर्थ—यह जो गोम्मटसारग्रन्थका संग्रहरूप सूत्र है वह श्रीवर्द्धमान नामा तीर्थंकरदेवने नयप्रमाणके गोचर कहा है और वह ज्ञानावरणादि कर्मोंकी निर्जराके लिये तथा तत्त्वोंके स्वरूपका निश्चय होनेके लिये जानना चाहिये । इसप्रकार अपनी स्वच्छंदताका अभाव दिखलाया है ॥ ९६५ ॥

जम्हि गुणा विस्संता गणहरदेवादिइड्डिपत्ताणं ।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥ ९६६ ॥

यस्मिन् गुणा विश्रान्ता गणधरदेवादिऋद्धिप्राप्तानाम् ।
सः अजितसेननाथो यस्य गुरुर्जयतु स रायः ॥ ९६६ ॥

अर्थ—जिसमें बुद्धयादिऋद्धिप्राप्त गणधरदेवादि मुनियोंके गुण विश्राम पाकर ठहरे हुए हैं अर्थात् गणधरादिकोंके समान जिसमें गुण हैं ऐसा **अजितसेन** नामा मुनिनाथ जिसका व्रत (दीक्षा) देनेवाला गुरु है वह चामुंडराय सर्वोत्कृष्टपनेसे जय पावौ ॥ ९६६ ॥

सिद्धंतुदयतडुग्गयणिम्मलवरणेमिचंदकरकलिया ।
गुणरयणभूसणंबुहिमइवेला भरउ भुवणयलं ॥ ९६७ ॥

सिद्धान्तोदयतटोद्गतनिर्मलवरनेमिचन्द्रकरकलिता ।
गुणरत्नभूषणाम्बुधिमतिवेला भरतु भुवनतलम् ॥ ९६७ ॥

अर्थ—सिद्धांतरूपी उदयाचलपर ज्ञानादिकर उदयमान हुए निर्मल और उत्कृष्ट श्रीनेमिनाथ-तीर्थंकररूपी चन्द्रमाकी अथवा नेमिचन्द्राचार्यरूपी चन्द्रमाका वचनरूपी किरणोंसे वंधी हुई गुणरूपी

रत्नोंकर शोभित ऐसे चामुंडरायरूप समुद्रकी बुद्धिरूपी वेला इस पृथ्वीतलको पूरित करो अथवा समस्त जगत्‌में अतिशयकर विस्तार पाओ ॥ ९६७ ॥

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य ।
गोम्मटरायविणिम्मियदक्खिणकुक्कडजिणो जयउ ॥ ९६८ ॥

गोम्मटसंग्रहसूत्रं गोम्मटशिखरोपरि गोम्मटजिनश्च ।
गोम्मटरायविनिर्मितदक्षिणकुक्कटजिनो जयतु ॥ ९६८ ॥

अर्थ—गोम्मटसारसंग्रहरूपसूत्र, गोम्मटशिखरके ऊपर चामुंडरायराजाकर बनवाये जिन-मन्दिर में विराजमान एक हाथप्रमाण इन्द्रनीलमणिमय नेमिनाथनामा तीर्थंकरदेवका प्रतिबिंब तथा उसी चामुंडरायकर निर्मापित लोकमें रूढ़िकर प्रसिद्ध दक्षिणकुक्कटनामा जिनका प्रतिबिंब जयवंत प्रवर्तो ॥ ९६८ ॥

जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं ।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ॥ ९६९ ॥

येन विनिर्मितप्रतिमावदनं सर्वार्थसिद्धिदेवैः ।
सर्वपरमावधियोगिभिः दृष्टं स गोम्मटो जयतु ॥ ९६९ ॥

अर्थ—जिस रायकर बनवाया गया जो जिनप्रतिमाका मुख वह सर्वार्थसिद्धिके देवोंने तथा सर्वावधि-परमावधिज्ञानके धारक योगीश्वरोंने देखा है वह 'चामुंडराय' सर्वोत्कृष्टपनेसे वर्तो ॥ ९६९ ॥

वज्जयणं जिणभवणं ईसिपभारं सुवण्णकलसं तु ।
तिहुवणपडिमाणिक्कं जेण कयं जयउ सो राओ ॥ ९७० ॥

वज्रतलं जिनभवनमीषत्प्राग्भारं सुवर्णकलशं तु ।
त्रिभुवनप्रतिमानमेकं येन कृतं जयतु स रायः ॥ ९७० ॥

अर्थ—जिसका, अवनितल (पीठबंध) वज्रसरीखा है, जिसका ईषत्प्राग्भार नाम है, जिसके ऊपर स्वर्णमयी कलश हैं तथा तीन लोकमें उपमा देने योग्य ऐसा अद्वितीय जिनमन्दिर जिसने बनवाया ऐसा चामुंडराय जयवंत वर्तौ ॥ ९७० ॥

जेणुब्भियथंभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया ।
सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ ॥ ९७१ ॥

येनोद्भितस्तम्भोपरिमयक्षतिरीटाग्रकिरणजलधौतौ ।
सिद्धानां शुद्धपादौ स रायो गोम्मटो जयतु ॥ ९७१ ॥

अर्थ—जिसने चैत्यालयमें खड़े किये हुए खंभके ऊपर स्थित जो यक्षके आकार हैं उनके

मुकुटके आगेके भागकी किरणोंरूप जलसे सिद्धपरमेष्ठियोंके आत्मप्रदेशोंके आकाररूप शुद्ध चरण धोये हैं ऐसा चामुंडराय जयको पाओ ।

भावार्थ—चैत्यालयमें स्तंभ बहुत ऊंचा बना हुआ है उसके ऊपर यक्षकी मूर्ति है उसके मुकुटमें प्रकाशवन्त रत्न लगे हुए हैं ॥ ९७१ ॥

अब अन्तिम आशीर्वाद देते हुये अपने समाचारोंको पूर्ण करते हैं;—

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी ।

सो राओ चिरकालं णामेण य वीरमत्तंडी ॥ ९७२ ॥

गोम्मटसूत्रलेखने गोम्मटरायेन या कृता देशी ।

स रायः चिरकालं नाम्ना च वीरमार्तण्डी ॥ ९७२ ॥

अर्थ—गोम्मटसारग्रन्थके गाथासूत्र लिखनेके समय गोम्मटरायने जो देशीभाषा अर्थात् कर्णाटक वृत्ति बनाई है वह **वीरमार्तण्ड** नामसे प्रसिद्ध चामुंडराय बहुत काल तक जयवंत प्रवर्तो ॥ ९७२ ॥

इसप्रकार **श्रीनेमिचन्द्राचार्यने** इस ग्रंथके होनेमें अपने समाचार जिसमें कहे हैं सो **ग्रन्थप्रशस्ति** समाप्त हुई ॥

इति संक्षिप्त भाषाटीका सहित कर्मकाण्ड समाप्त हुआ ।
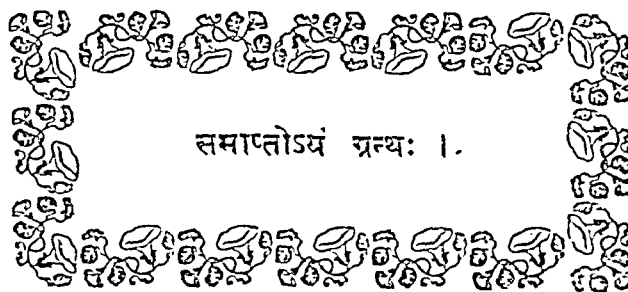
समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

और पांडे हेमराजजी-रचित बालावबोधिनी भाषा-टीकाके आधारपर पं० मनोहरलालजी शास्त्री कृत प्रचलित हिन्दी अनुवाद सहित । तृतीयावृत्ति । मूल्य-सात रुपये ।

(१०) **अष्टप्राभृत**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गाथाओंपर श्रीरावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य-पद्यात्मक भाषान्तर । मोक्षमार्गकी अनुपम भेंट । मूल्य-दो रुपये मात्र ।

(११) **भावनाबोध-मोक्षमाला**—श्रीमद्राजचन्द्रकृत । वैराग्यभावना सहित जैनधर्मका यथार्थस्वरूप दिखाने वाले १०८ सुन्दर पाठ है । मूल्य-एक रुपया, पचास पैसे ।

(१२) **स्याद्वाद मंजरी**—श्रीमल्लिषेणसूरिकृत मूल और श्रीजगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी० कृत हिन्दी अनुवाद सहित । न्यायका अपूर्व ग्रंथ है । बड़ी खोजसे लिखे गये १३ परिशिष्ट हैं । मूल्य-दस रुपये ।

(१३) **गोम्मटसार-कर्मकाण्ड**—श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथायें, स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीटीका । जैनसिद्धान्त-ग्रंथ है । तृतीय आवृत्ति । मूल्य-सात रुपये ।

(१४) **समयसार**— आचार्य श्रीकुन्दकुन्दस्वामी-विरचित महान अध्यात्मग्रंथ, तीन टीकाओं सहित (प्रेस में) ।

(१५) **लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित)**—श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती-रचित करणानुयोग ग्रन्थ । पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीभाषानुवाद सहित । अप्राप्य

(१६) **द्रव्यानुयोगतर्कणा**—श्रीभोजसागरकृत, अप्राप्य है ।

(१७) **न्यायावतार**—महान् तार्किक श्री सिद्धसेन दिवाकरकृत मूल श्लोक, व श्रीसिद्धर्षिगणिकी संस्कृतटीकाका हिन्दी-भाषानुवाद जैनदर्शनाचार्य पं० विजयमूर्ति एम० ए० ने किया है । न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रंथ है । मूल्य-पांच रुपये ।

(१८) **प्रशमरतिप्रकरण**—आचार्य श्रीमदुमास्वातिविरचित मूल श्लोक, श्रीहरिभद्रसूरिकृत संस्कृतटीका और पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित । वैराग्यका बहुत सुन्दर ग्रंथ है । मूल्य-छह रुपये ।

(१९) **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र)**—श्रीमत् उमास्वातिकृत मूल सूत्र और स्वोपज्ञभाष्य तथा पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका । तत्त्वोंका हृदयग्राह्य गम्भीर विश्लेषण । मूल्य-छह रुपये ।

(२०) **सप्तभङ्गीतरंगिणी**—श्रीविमलदासकृत मूल और स्व० प० ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्याकरणाचार्यकृत भाषाटीका । नव्यन्यायका महत्वपूर्ण ग्रन्थ । अप्राप्य ।

(२१) **इष्टोपदेश**—श्रीपूज्यपाद-देवनन्दिआचार्यकृत मूल श्लोक, पंडितप्रवर आशाधरकृत संस्कृतटीका, पं० धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दीटीका, स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी कृत अंग्रेजीटीका तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं अंग्रेजी

पद्यानुवादों सहित भाववाही आध्यात्मिक रचना । मूल्य-एक रुपया, पचास पैसे ।

(२२) **इष्टोपदेश** — मात्र अंग्रेजी टीका व पद्यानुवाद । मू०-पचहत्तर पैसे ।

(२३) **परमात्मप्रकाश** — मात्र अंग्रेजी प्रस्तावना व मूल गाथायें । मू०-दो रुपये ।

(२४) **योगसार**—मूल गाथायें और हिन्दीसार । मू०-पचहत्तर पैसे ।

(२५) **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**—मात्र मूल, पाठान्तर और अंग्रेजी प्रस्तावना ।
मू०-दो रुपये पचास पैसे ।

(२६) **प्रवचनसार** – अंग्रेजी प्रस्तावना, प्राकृत मूल, अंग्रेजी अनुवाद तथा पाठान्तर सहित ।
मूल्य पांच रुपये ।

(२७) **उपदेशछाया आत्मसिद्धि**—श्रीमद् राजचन्द्रप्रणीत । अप्राप्य ।

(२८) **श्रीमद्राजचन्द्र**—श्रीमद्के पत्रों व रचनाओंका अपूर्व संग्रह । तत्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ है । म० गांधीजीकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना । (नवीन परिवर्द्धित संस्करण पुनः छपेगा)

अधिक मूल्यके ग्रंथ मंगाने वालोंको कमीशन दिया जायेगा । इसके लिये वे हमसे पत्रव्यवहार करें ।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमकी ओरसे

प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ

(१) श्रीमद् राजचन्द्र (२) अध्यात्म राजचन्द्र (३) श्रीसमयसार (संक्षिप्त) (४) समाधि सोपान (रत्नकरण्ड श्रावकाचारके विशिष्ट स्थलोंका अनुवाद) (५) भावनाबोध, मोक्षमाला (६) परमात्मप्रकाश (७) तत्त्वज्ञान तरंगिणी (८) धर्मामृत (९) स्वाध्याय सुधा (१०) सहजसुखसाधन (११) तत्त्वज्ञान (१२) श्रीसद्गुरुप्रसाद (१३) श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला (१४) सुबोध संग्रह (१५) नित्यनियमादि पाठ (१६) पूजा संचय (१७) आठदृष्टिनी सज्झाय (१८) आलोचनादिपद संग्रह (१९) पत्रशतक (२०) चैत्यवंदन चौवीशी (२१) नित्यक्रम (२२) श्रीमद्राजचन्द्र-जन्म-शताब्दी महोत्सव-स्मरणांजलि (२३) श्रीमद् लघुराज स्वामी (प्रभुश्री) उपदेशामृत (२४) आत्मसिद्धि (२५) श्रीमद् राजचन्द्र वचनामृत-सारसंग्रह (२६) Shrimad Rajchandra, a Great Seer (२७) नित्य नियमादिपाठ (हिन्दी) तथा (२८) सुवर्णमहोत्सव-आश्रम परिचय आदि ।

आश्रमके गुजराती प्रकाशनोंका पृथक सूचीपत्र मंगाइये । सभी ग्रन्थोंपर डाकखर्च अलग रहेगा

प्राप्तिस्थान :

(१) **श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन अगास**
पो० वोरिया : वाया-आणंद (गुजरात)

(२) **परमश्रुतप्रभावक-मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)**
चौकसी चेम्बर, खाराकुवाँ, जौहरी बाजार, **बम्बई-२**